साध्य और साधन

सुदर्शन सिंह 'चक्र'

साध्य और साधन
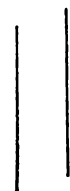
लेखक :

श्री सुदर्शनसिंह 'चक्र'

प्रकाशक :

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवा संघ

मथुरा—२८१००१

प्रथमावृत्ति - सन् १९७७ ई०

संस्करण - २०००

मूल्य - १०)००

मुद्रक :

हर्ष गुप्त

राष्ट्रीय प्रेस, मथुरा । दूरभाष १३७

अनुक्रमणिका

———

दो शब्द

अनेक वर्षों तक 'परमार्थ' (शाहजहाँपुर) के विशेषाङ्कोंमें मुझे प्राय: उन विषयोंपर लिखना पड़ता था, जिनपर मान्यतासे लेख आनेकी आशा नहीं होती थी। मैंने 'साध्य और साधन' में उन लेखोंका संकलन कर दियाहै।

इसमें गुरुत्व, दीक्षा, मनोनिग्रह, भगवत्प्राप्ति प्रभृति विषयोंका विवेचन है। इस सम्बन्धमें उठने वाले प्राय: सभी प्रश्नोंका सनाधान है।

आशा है यह पुस्तक साधकोंके लिए मार्ग-दर्शक बनेगी। बहुत-सी उलझनोंका समाधान वे इससे पा सकेंगे।

इस एक ही ग्रन्थमें गुरुकी आवश्यकता पहिचान, दीक्षाके भेद, विविध प्रकारके साधन, भगवद्दर्शनके उपाय, भगवद्दर्शनमें भ्रम, विघ्नोंका निवारण, आवश्यक प्रश्नोत्तरादि साधकोपयोगी सब विषय आ गये हैं।

सुदर्शन सिंह

गुरु मार्ग-दर्शक

गुरू की अनिवार्यता

"गुरू बिनु होइ न ज्ञान"

यह बात कहीं-सुनी बहुत जाती है ; किन्तु समझी ठीक रीतिसे कदाचित ही जाती है।

जीवके स्वरूप का ज्ञान बिना गुरू के हो सकता है। ईश्वर के स्वरूप का दर्शन भी बिना गुरू के हो सकता है ; किन्तु जीव तथा ईश्वर के - 'तत्' तथा 'त्वं' के अभेदका ज्ञान महावाक्य के उपदेश के बिना नहीं हो सकता। यह अभेदज्ञान जो वास्तविक आत्मज्ञान है, गुरू जब महावाक्य का उपदेश करेंगे, तभी होगा। महावाक्य का तात्पर्य 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य ही नहीं, इनका तात्पर्य सूचित करने वाला किसी भी भाषा का कोई भी वाक्य महा-वाक्य ही है।

यह हो सकता है कि किसी ने अपने पिछले जन्म में महावाक्य का श्रवण किया हो और उस समय उसके ऐसे संस्कार न रहे हों कि उस महावाक्य- का अर्थ स्फुरण उसके चित्त में हो। यह अर्थ स्फुरण उसके चित्त में इस जन्म-मे हो सकता है ; किन्तु यह निर्विवाद मान्य सिद्धान्त है कि शब्द ज्ञान स्वतः स्फुरित नहीं होता। वह वृद्ध-परम्परा से ही प्राप्त होता है।

ऐसे महात्मा हुए हैं जो शिक्षित नहीं थे, जिन्होंने किसी गुरू से भी शिक्षा-ग्रहण नहीं कि ; किन्तु जिनकी 'वाणियों' में योग तथा वेदान्त के गूढ़ तत्व भली प्रकार निरूपित हैं । मैंने स्वयं एक सज्जन को देखा है। उन्होंने पाठशाला में दूसरी कक्षा तक शिक्षा पायी थी। उसके बाद वे चरवाहे का काम करते रहे और फिर अपने बड़े भाई के रसोइए बन गये। उनके बडे भाई न्यायालय में पदाधिकारी थे। लोग उन सज्जन को अर्ध विक्षिप्त मानते थे। बडे भाई अपने इस छोटे भाई को माँगने पर कागज स्याही दे देते थे। न कथा, न सत्संग और न अध्ययन। रोटी बना खिला कर, चौका-बर्तन स्वच्छ करके, द्वार बन्द करके वे लिखने बैठ जाते थे और वे लिखते क्या थे ? एक महाभारत से भी बड़ा ग्रन्थ उन्होंने लिखा था। उसका नाम उन्होंने 'शून्य सागर' बताया। उसमें कबीरका प्रायः पूरा तत्वज्ञान तथा शब्दयोगकी प्रक्रिया, अद्भुत रीति से वर्णित थी।

हम आप इसे पूर्वजन्मका संस्कार कह सकते हैं; लेकिन एक महत्व-पूर्ण बात ऐसे सब प्रसंगोंमें ध्यान देने योग्य है। कबीर जैसे संतोंको और इन सज्जनको भी पूर्वजन्मके संस्कारसे तत्वज्ञान, योग-प्रक्रिया आदि इस जन्ममें बिना पढ़े या गुरुके बिना उपदेशके भले प्राप्त हो गयी, भाषा-ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ। फलतः अपने अन्तर्ज्ञानको उन्हें इस जन्मकी देहातमें सीखी अपूर्ण भाषामें ही किसी प्रकार व्यक्त करना पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके भाव उस अपूर्ण भाषामें अस्पष्ट रह गये—बड़ी जटिल रीति-से प्रकट किये गये। दूसरे उन भावोंको कठिनाईसे ही समझ पाते हैं। जब तक वे सज्जन स्वयं अपना 'शून्य सागर' नहीं समझाते थे, उसे समझना बहुत ही कठिन था।

भाषा ज्ञान अर्थात् शब्द तथा उसके अर्थका ज्ञान तो परम्परासे ही प्राप्त होगा। अतएव ब्रह्मात्मैक्यका ज्ञान जब महावाक्यके उपदेश-ही-से प्राप्त होता है, तब इस अद्वयज्ञानकी उपलब्धि गुरुके बिना सम्भव नहीं है, यह बात स्वतः सिद्ध है। ज्ञानके मार्गमें उपदेष्टा गुरुकी अनिवार्य आवश्यकता इससे सिद्ध हो जाती है।

'देखा देखी साधे जोग। छीजै काया बाढ़ै रोग।'

ज्ञानके मार्गमें तत्व जिज्ञासुके लिए गुरुकी आवश्यकता दो क्षणके लिए है, यदि जिज्ञासु उत्तम अधिकारी है। महावाक्यके श्रवणमात्रसे उसे ज्ञान हो सकता है; किन्तु योगके साधकके लिए तो पूरे साधनकालमें गुरुदेवका प्रत्यक्ष संरक्षण एवं नियन्त्रण आवश्यक है। पुस्तकें पढ़ कर या किसीकी देखादेखी जो योग-साधन प्रारम्भ करते हैं, उनको प्रायः असाध्य रोगोंका आखेट होना पड़ता है।

अष्टाङ्ग-योगमें तथा कुण्डलिनी-जागरणमें भी बिना कोई भूल हुए भी शरीरमें समय-समयपर अनेक प्रकारके उपद्रव होते हैं। यदि आपने परमहंस श्रीरामकृष्णजीकी जीवनी पढ़ी है तो जानते होंगे कि साधना काल-में एक बार उनके पूरे शरीरमें भयानक जलन होने लगी और कई दिनों वे बेचैन रहे। उस जलनको वृद्धा योगिनीने शान्त किया।

लययोग, शब्दयोग आदिके दूसरे साधनोंमें भी अनेक प्रकारके भ्रांत-दृश्य, भ्रान्त आदेश आते हैं। साधक समझ ही नहीं पाता कि वह क्या करे

और क्या न करे। ऐसी अवस्थामें केवल गुरु ही उसका ठीक-पथ प्रदर्शन कर सकते हैं।

मैं एक बहुत बड़े विद्वानको जानता हूँ। वे वृद्ध हैं, अच्छे साधक हैं और अत्यन्त श्रद्धालु हैं। पता नहीं क्या हुआ कि उन्हें निश्चय हो गया—'शीघ्र प्रलय होनेवाली है। बहुत थोड़े लोग बचेंगे-जो अमुक नामका जप करेंगे। कुछ गिने दिनों बाद ही अवतार होनेवाला है।' उन्होने इस बातका प्रचार किया पत्रोंमें लेख लिखकर। एक पुस्तक ही लिख डाली। होना तो कुछ था नहीं। उनकी बतायी वह तिथि जाने कबकी बीत चुकी है। लेकिन उनका पहला मंत्र, पहला साधन छूट गया यह सब करनेमें। उनकी साधना-में व्याघात पड़ा इससे।

आप सन्तवाणियोंको देखें तो वहाँ गुरुकी महिमा भरी पड़ी है। गुरु वन्दना और गुरुमहिमाके प्रसंग बहुत अधिक हैं और सभी सन्तोंकी वाणियोंमें है। एक बात है यहाँ—जितने भी निराकार ईश्वरवादी हैं, उनकी साधना गुरुका आश्रय लिए बिना चल ही नहीं सकती।

ईसाई कहता है—प्रभु मसीहकी शरण आओ। मुसलमान कहता है—'पैगम्बरपर ईमान लाओ।' जैनमतमें तीर्थङ्करोंकी और बौद्ध धर्ममें बुद्धकी पूजा होती ही है। जिन मतोंमें आध्यात्मिक साधना नहींके समान है—केवल सुधारवाद है, वे भले अनुभव न करें; किन्तु सभी आध्यात्मिक साधकोंको जो ध्यानके अभीप्सु हैं—एक साकार मूर्तिकी आवश्यकता प्रतीत हुई है। अतएव जो निराकार ईश्वरका प्रतिपादन करते थे, उन्होंने गुरु-मूर्तिके ध्यानका प्रतिपादन किया। ध्यानके क्रममें सहस्रारमें या 'धुरधाम' में उन्होंने गुरुदेवको विराजमान किया।

इस प्रकार साधन कालमें—साधनके उपदेश तथा संरक्षणके लिए योगके सभी मार्गोंमें गुरुकी अनिवार्य आवश्यकता है और आराध्य रूपसे भी वहाँ गुरुका ही ध्यान चिन्तन किया जाता है।

तन्त्र-साधना भी योगका ही एक रूप है। इस पथमें तो गुरु ही 'शिव' है। गुरुके बिना यहाँ साधनका श्रीगणेश ही सम्भव नहीं है। इसीके अंगरूपमें मन्त्रानुष्ठानादि हैं। पुस्तकमें देखकर मंत्रका अनुष्ठान करनेकी कहीं कोई विधि नहीं है। इस प्रकार किया गया अनुष्ठान प्रायः सफल नहीं होता। अनुष्ठान करनेसे पूर्व जिस देवताके मन्त्रका अनुष्ठान करना है, उस

देवताके किसी आराधकसे उस मन्त्रकी विधि-पूर्वक दीक्षा ग्रहण की जाय, यह मन्त्र-शास्त्रका आदेश है।

इस प्रकार ज्ञान तथा योगमें—मन्त्रानुष्ठानमें, तंत्रकी साधनाओंमें गुरुकी अनिवार्य आवश्यकता है। वैदिक यज्ञ, अनुष्टान तो आचार्यकी उपस्थितिके बिना होंगे ही नहीं। उनमें तो कर्मके प्रारम्भमें ही आचार्यका वरण करना होगा। अब केवल भक्ति-उपासनाका मार्ग रह जाता है।

उपासना भी दो प्रकारकी—एक विधि-पूर्वक पूजन-अर्चन आदि और दूसरी श्रद्धा-निर्भर। इनमें-से जहाँ विधिकी बात है, विधिके उपदेष्टा गुरुकी आवश्यकता वहाँ स्वतः सिद्ध है ; किन्तु श्रद्धा तो किसीके उपदेशसे प्राप्त नहीं होती और श्रद्धा दृढ़ हो तो विधिकी अपेक्षा नहीं हुआ करती, यह वात भी शास्त्र स्वीकार करते हैं।

'मूर्खो वदति विश्नाय धीरो वदति विष्णवे।
उभयोस्तु फलं तुल्यं भावग्राही जनार्दनः॥'

अतएव जहाँ श्रद्धा और प्रेम प्रवल है, वहाँ न विधिकी आवश्यकता है, न मन्त्र अनिवार्य है और न क्रिया। ऐसी अवस्थामें गुरुकी अनिवार्यता वहाँ कैसे मानी जा सकती है।

प्रेममें नियम नहीं और प्रेममें मध्यस्थ भी नहीं। जहाँ सच्चा प्रेम किसी कारणसे उदय हो गया, वहाँ दूसरी कोई अपेक्षा नहीं है। वह प्रेम स्वयं ही साधन और साध्य भी है। अतः भक्ति महारानीकी जिसपर कृपा हो जाय, उसके लिए गुरुकी आवश्यकता नहीं रह जाती।

आपको यह वात अनुचित लगती हो तो मुझे क्षमा करें। मैं यहाँ उपासनामें गुरु-दीक्षाका खण्डन नहीं कर रहा हूँ। मुझे पता है कि शुद्ध प्रेम इतना सस्ता नहीं है। उसकी प्राप्तिके लिए जो जप-पूजन कीर्तन आदि साधन शास्त्रने वताए हैं, उन साधनोंका आश्रय तो गुरुके द्वारा ही लेना उपयुक्त है। गुरुदेव ही निर्णय कर सकते हैं कि आप किस मन्त्रजपके अधिकारी हैं, किस रूपमें आपको भगवानका ध्यान, पूजन, चिन्तन करना चाहिए। फिर आपके 'भगवत्सम्वन्ध' का निर्णय करके सम्बन्ध दान भी गुरुदेव ही करेंगे। अतएव उपासनामें गुरुकी आवश्यकताका खण्डन कैसे किया जा सकता है ; किन्तु उपासना प्रेम-प्रधान है और प्रेम नियम नहीं मानता। वह साधन-भक्तिसे ही उदय होगा, अकस्मात या प्रभुकी कृपासे

ही उदय नहीं हो जायगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि वह अकस्मात किसीको प्राप्त हो जाय, उस महाभागके लिए गुरु बनानेकी आवश्यकता नहीं रह जाती, मैं केवल यह कह रहा हूँ।

प्रेम जिस हृदयमें उदित होगा, उस हृदय तथा उस व्यक्तिका सञ्चालन वह प्रेम ही करेगा। दूसरेके आदेश-निर्देश माननेकी स्थितिमें वह रह नहीं जाता। भगवान प्रेमके वश हैं, अतः ऐसे प्रेमीको वह प्राप्त नहीं होंगे, यह कहनेका साहस भी आप-हम नहीं कर सकते हैं।

भक्त श्रेष्ठ कण्णप्प भीलको किसने गुरु दीक्षा दी थी? उन्होंने शिव सेवाके उद्देश्यसे जो कुछ किया आप किसीको किसी मन्दिरमें वह सब करनेकी अनुमति देनेको तैयार हैं? लेकिन उन महाभागने क्या किया, यह प्रश्न कहाँ उठता है। उनके हृदयमें जो सहज प्रेम था, परम सत्य तो वही है और उसी प्रेमसे विवश भगवान शशांकशेखर मूर्तिसे प्रकट हो गये थे।

यह एक ही उदाहरण, भगवत्प्राप्तिके लिए प्रेमकी अनिवार्यता है, गुरुकी, दीक्षाकी क्रिया आदिकी नहीं, इस बातको सिद्ध करनेके लिए मुझे पर्याप्त लगता है। भगवान भावग्राही हैं और प्रत्येक जीवके अपने हैं, अतः यदि हृदयमें भावकी प्रबलता है तो वह भाव उन्हें उपलब्ध करा देनेमें पूर्ण समर्थ है।

इस प्रकार भक्तिमें भी अपवाद रूपमें ही गुरुकी अनिवार्यता नहीं है—सामान्य रूपमें तो गुरुकी आवश्यकता इस मार्गमें भी है ही। आध्यात्मिक साधनोंको छोड़ दें तो लोकमें अपने-अपने विषयोंमें उन-उन विषयोंके शिक्षकोंकी कितनी अधिक आवश्यकता है, यह आप स्वयं भी समझ सकते हैं।

———

गुरुकी खोज

"जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।"

आप कब गुरुकी खोज करते हैं ? किसलिए करते हैं ? इन दो प्रश्नों-पर ठीक-ठीक विचार कर लिया जाय तो पता लग जायगा कि आपको 'ठीक' गुरुकी प्राप्ति होगी भी या नहीं।

कुछ लोगोंका विश्वास है कि गुरुमन्त्र जिसने नहीं लिया है, उसका शरीर अपवित्र है और उसका छुआ जल अथवा भोजन नहीं ग्रहण करना चाहिए। ऐसे लोग यथाशीघ्र किसी न किसीसे कानमें मन्त्र सुन लेने और कंठी बाँध लेने (यदि उनके सम्प्रदायमें कंठी है तो) के पक्षमें होते हैं। इतना हो गया तो वे सन्तुष्ट होगये। अतः उनके लिए किसी विशिष्ट गुरुका प्रश्न उठता ही नहीं।

'मैं अमुक आचार्यका शिष्य हूँ' यह गौरव चाहिए कुछ लोगोंको। आचार्य न सही, किसी प्रसिद्ध महन्त, व्याख्यानदाता या विद्वानकी खोज। गुरुकी प्रसिद्धिसे अपनेको गौरवान्वित करना उनका विशेष लक्ष्य होता है। ऐसे लोगोंको भी अपनी इच्छाके अनुरूप गुरु प्राप्त कर लेनेमें कोई अधिक कठिनाई नहीं होती।

गुरुदेवके यहाँ जायँ तो वे खूब स्नेह करें, सम्मान करें, ठहरने-भोजनकी सुव्यवस्था कर दें और चलते समय फल या मीठा प्रसाद दें। घर भरकी कुशल-मंगल पूछें। उनके पास रहनेकी पूरी सुविधा उपलब्ध हो। ऐसे गुरुदेव प्रायः अधिकांश धनी-मानी श्रद्धालुओंको अपेक्षित हैं और उनका भी देशमें कोई अभाव नहीं।

गुरुदेव चमत्कारी और ममताशील होने चाहिए। उनकी बड़े लोगों तक पहुँच भी हो तो सोनेमें सुगन्धि। वे बच्चेकी नौकरी लगवा दें किसीसे कहकर, लड़कीका ब्याह तै करा दें, व्यापारमें कुछ सहायता दिलवा दें। विपत्तिमें आफीसरोंको प्रेरित करके अनुकूल बना दें। अनुष्ठान बतावें नहीं, स्वयं कर दें अथवा किसीसे करवा दें और उससे पुत्र प्राप्ति, धन प्राप्ति, सफलता मुकदमेमें जीत आदि निश्चित होती हो। वे ज्योतिषके अच्छे जानकार हों। तात्पर्य यह कि ज्योतिषी, अनुष्ठानोंके ज्ञाता तथा

अच्छे उच्चवर्गमें पहुँच वाले गुरुदेव वहुत वड़े वर्गको अभीष्ट हैं। ऐसे लोगोंको भी उनके अनुकूल गुरु पानेमें कम ही परिश्रम करना पड़ता है।

इन सब बातोंके साथ यह शिष्य वर्ग अपने गुरुदेवसे यह भी आशा करता है कि वे चुटकी बजा कर मुक्त कर देंगे अथवा भगवत्प्राप्ति करा देंगे। उसे इस प्रकारका आश्वासन मिल जाता है, इसमें आश्चर्यकी बात नहीं है। यह भिन्न बात है कि उसकी आशा मृग मरीचिका ही सिद्ध हो।

सच कहा जाय तो सब लोग गुरु नहीं, स्वार्थके खोजी हैं और उस स्वार्थको उसी प्रकार कुछ धनके बदलेमें पाना चाहते हैं, जैसे वे संसारकी दूसरी वस्तुओंको प्राप्त करते हैं। जब ग्राहक होते हैं तब व्यापारी भी अपने आप आ जाते हैं। अतएव यह व्यापार तो चलेगा ही। इसे रोका नहीं जा सकता।

गुरुकी खोज प्रारम्भ ही होती है वैराग्यसे. सत्संगसे, सत्शास्त्रोंके पठन-श्रवणसे अथवा पूर्वजन्मके पुण्योंके प्रभावसे जब चित्तमें भोगोंसे वैराग्य हो जाता है, जन्म-मरणके चक्रसे छूटनेकी इच्छा जागती है; आनन्दघन परमात्माको प्राप्त करने अथवा अपने आपको—सत्यको जान लेनेकी इच्छा होती है, तब गुरुकी आवश्यकताका ठीक-ठीक अनुभव होता है। आवश्यकताका अनुभव हुए बिना खोज नहीं हुआ करती।

ऐसे अन्वेषकको सांसारिक सुख-सफलता-यश नहीं चाहिए। हो सकता है उसका वैराग्य अपूर्ण हो और वह सिद्धियोंका ही खोजी हो। जैसे वहुत लोग किसी विद्या या कलाके खोजी होते हैं और उसके जानवरको ढूँढते हैं। लेकिन यदि वैराग्य सच्चा हुआ तो सिद्धि, स्वर्ग आदिकी कामना भी उसे नहीं होती।

ठहरनेकी सुविधा, भोजनकी व्यवस्था, स्नेह-सम्मानकी प्राप्तिकी ऐसा व्यक्ति इच्छा नहीं करता। ये न मिलें तो उसे दुःख या क्षोभ नहीं हुआ करता। वह क्लेश सहकर, परिश्रम करके, फटकारको चुपचाप सहता हुआ प्रस्तुत रहता है।

इतना सब होकर भी यह आवश्यक नहीं है कि ऐसे व्यक्तिको सदा 'ठीक' गुरु मिल ही जायँ। लेकिन ऐसा क्यों होता है ? कहाँ त्रुटि है इस अन्वेषकमें ? यह बात विचार करने योग्य है।

ऐसे लोगोंमें-से भी अधिकांश उतावले होते हैं। वे गुरुदेवसे चमत्कारकी आशा करते हैं। उन्होंने पढ़ा सुना है कि ,अमुक महापुरुषने सिरपर

हाथ रखा और समाधि लग गयी। अमुकको गुरुदेवने पहुँचते ही आत्म-साक्षात्कार करा दिया। अमुकने प्रार्थना की और संतने उनके सामने भगवानको प्रकट कर दिया।' अपने लिए भी वे ऐसे ही चमत्कार चाहते हैं। यही उतावलापन उनकी खोजको गलत दिशा दे देता है।

'महत्संगो दुर्लभोऽगम्यो अमोघश्च।'

महापुरुषका मिलना दुर्लभ है। मिल भी जायँ तो यह जानना कठिन है कि ये महापुरुष हैं। यदि वे मिल जायँ और पहचान भी लिए जायँ तो उनका क्षणभरका संग भी अमोघ-व्यर्थ न जाने वाला है।

'लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव।'

ऐसे महापुरुष भगवानकी कृपासे ही मिलते हैं। (अपनी खोजसे वे नहीं मिला करते।)

'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्'

क्योंकि भगवान और उनके भक्तोंमें कोई भेद नहीं है। तात्पर्य यह कि महत्पुरुषका प्राप्त होना भगवानका ही प्राप्त हो जाना है।

नारदभक्तिसूत्रके ये तीन सूत्र बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। गुरुकी खोजका सम्पूर्ण मर्म इनमें बतला दिया गया है। इनमें यह स्पष्ट सूचित कर दिया गया है कि सच्चे महापुरुष जंगल-जंगल भटकने, पूछताछ करने या अपने श्रमसे नहीं मिलते। इस प्रकारका उद्योग या तो निष्फल रहेगा अथवा कहीं गलत स्थानपर पहुँचा देगा।

भगवत्कृपासे महापुरुष मिलते हैं—यह बात ही ठीक समझ लेनेकी हैं। भगवत्कृपा किसपर होती है? भगवान तो अपार कृपा पारावार हैं। उनकी कृपाका तो अनन्त असीम समुद्र उमड़ रहा है। कोई जीव नहीं, जो उस कृपावारिधिमें उन्मज्जित निमज्जित न हो रहा हो। लेकिन इतने पर भी अमुक विशेष व्यक्तिपर विशेष भगवत्कृपाकी जो बात की जाती है, उसका कुछ तो तात्पर्य होना ही चाहिए?

यहां भगवत्कृपाका अर्थ है अधिकार सम्पादन। परमार्थ तत्वका कोई जिज्ञासु जिस स्थिति या साधनका अधिकारी होजाता है, उस स्थिति या साधनसे उसे एक क्षणके लिए भी वञ्चित नहीं रखा जाता। संसारके पदार्थ—भोग, धन-जन-भवन-मान आदिका संयोग-वियोग प्रारब्धके अनुसार होता है; किन्तु साधन, वैराग्य, गुरुकी प्राप्ति और भगवत्प्राप्तिके पथमें

उन्नति प्रारब्धसे नहीं होती यह साधककी तत्परता तथा भगवत्कृपासे सम्पन्न होती है। साधक जिस स्थितिका अधिकारी अपनेको बना लेता है, भगवत्कृपासे वह स्थिति उसे तत्काल प्राप्त हो जाया करती है।

'तुम्हें गुरुको नहीं ढूँढ़ना है। गुरु तुमको स्वयं ढूँढ़ लेगा।' यह एक महापुरुषके वाक्य हैं। गुरु भगवानके स्वरूप—भगवानसे अभिन्न हैं। भला जीव भगवानको अपने श्रमसे कैसे ढूँढ़ कर पावेगा ? वे दयामय स्वयं कृपा करके उसके पास आवें तो उनकी प्राप्ति हो।

इसलिए गुरुकी खोजका अर्थ है अपनेको गुरुकी प्राप्तिका अधिकारी बना लेना। आपको पहले अपने सम्बन्धमें ही देखना है कि क्या आप गुरु-प्राप्तिके योग्य हो गये हैं ? यह विचार करना है कि गुरुके निर्देशपर चलनेकी क्षमता हममें आ गयी या नहीं आयी है तो उसका सम्पादन करना है।

प्रकाश उसे मिलता है, जिसे प्रकाशकी आवश्यकता हो। जो हाथमें लालटेन लेकर रातमें चिल्लाए कि 'मुझे प्रकाश दो !' उसकी मूर्खतापर हँसेंगे आप। इसी प्रकार परमार्थके साधनके लिए जितना निर्विवाद—असंदिग्धरूपमें आप जानते हैं, उसको जीवनमें लानेका प्रयत्न कीजिये। उसके बाद जहाँ आपको मार्गदर्शन की आवश्यकता पड़ेगी—मार्गदर्शक मिलनेमें क्षण भरका भी विलम्ब नहीं होगा।

जिन महापुरुषोंने चमत्कार किया, किसीको चुटकी बजाते आत्म-साक्षात्कार या भगवद्दर्शन करा दिया, उन्होंने भी अपने समीप आने वाले सबके साथ ऐसा नहीं किया।। तब क्या वे पक्षपाती थे ? ऐसा दोष होता तो वे महापुरुष न होते और वैसा चमत्कार न दिखा पाते। बात इतनी मात्र है कि वे व्यक्ति जिनके साथ ऐसे चमत्कार हुए पूर्व-जन्मके साधनसे सम्पन्न विशेष व्यक्ति थे। सबके साथ ऐसा सम्भव नहीं है। अतएव व्यर्थ लोभ तथा अघटित घटजानेकी आशाका साधकको त्याग कर देना चाहिए। उसे स्थिर-वीर तथा साधनके लिए उद्यत रहना चाहिए।

दीर्घकाल नैनन्तरीय सत्कारासेवित दृढ़ भूमिः।

—योगदर्शन

दीर्घकाल तक निरन्तर प्रतिदिन सत्कारपूर्वक (उपेक्षासे नहीं) अभ्यास करनेमें साधनकी भूमि दृढ़ होती है और तब कहीं उसका फल होता है। जिसके चित्तमें इतना धैर्य, इतनी दृढ़ता और इतनी तत्परता

नहीं है, उसे साधनका उपदेश करने वाला गुरु कैसे मिल सकता है और मिल भी जाय तो उससे लाभ भी कैसे वह उठा सकता है।

पहिली वात—आप किसलिए गुरु चाहते हैं ? गुरुसे आप क्या-क्या आशाएँ करते हैं ? अब देखिये कि कहीं आपकी आशाएँ परस्पर विरुद्ध तो नहीं हैं ? भोग और मोक्ष परस्पर विरुद्ध हैं। भोग बन्धन है। जीव संसारमें राग-द्वेषकी रस्सियोंसे ही बँधा है। सम्पत्ति, स्त्री, सन्तान, सम्मान आदि रागकी रस्सियाँ हैं और शत्रुता द्वेषकी। इनमें-से किसीकी कामनाका अर्थ है बन्धनको दृढ़ करनेकी कामना। कोई मुक्त होना—छूटना भी चाहे और बन्धनकी रस्सीको लपेटते जानेको भी कहे तो दोनों बातें सम्भव नहीं हैं। ऐसे व्यक्तिको वन्धन देने वाला प्रिय लगता है। उसीका वह सम्मान कर सकता है। अतः उसे वैसा ही गुरु मिल सकता है। वह गुरु आश्वासन कुछ भी देता हो, मोक्ष देनेमें समर्थ नहीं हो सकता।

जैसे चित्रकला या मूर्तिकला अथवा लेखनकलाका जिज्ञासु अपने ईप्सित विषयके जानकारको ढूँढ़ता है और उसे गुरु वनाता है, वैसे ही यदि आपको ज्योतिषी, मन्त्रज्ञ अथवा चमत्कारी सिद्ध चाहिए, जो आपको धन, यश तथा विपत्तिमें रक्षा दे सके तो आप वैसा गुरु ढूँढ़े। इसमें कोई दोष नहीं है। आप यदि सच्चाईसे वैसा गुरु ढूँढ़ेंगे तो उसे पानेमें अधिक सरलता होगी। लेकिन वह मोक्ष या भगवत्प्राप्ति भी करा दे—ऐसी आशा करेंगे तो सम्भव है कि आपको दोनों ओरसे निराश होना पड़े।

आपको आवागमनके चक्रसे छूटना है। आप भोग, ज्ञान या भक्तिके मार्गसे भगवान तक जाना चाहते हैं और इसके लिए आपको गुरुकी आवश्यकता है; तब आप पहिली वात यह समझ लें कि आप भोगसे विपरीत दिशामें जाना चाहते हैं। बन्धनसे मुक्त होना है आपको; अतः सांसारिक सम्पत्ति, स्वजन, सम्मान, सफलता आदिके सम्बन्धमें गुरुसे आप कोई सहायता नहीं पा सकते। यह भी सम्भव है कि वह इनके त्यागकी प्रेरणा दे या इन्हें आपके अनजाने नष्ट कर दे। दूसरी वात यह कि आप चमत्कारकी आशा छोड़ दें। चुपचाप दीर्घकाल तक निर्दिष्ट साधनको प्रस्तुत हों। ये दो वातें आजायँ तो आपकी खोज पूरी होगयी। आप गुरु प्राप्तिके अधिकारी हैं और वह निश्चय आपको मिलेंगे।

—:०:—

गुरुका स्वरूप

प्रतिमासु पाषाणबुद्धिः गुरुषु मनुष्य बुद्धिः।
प्रसादे भोग बुद्धिः हानये नरकाय च भवति ।।

भगवानकी मूर्तिको धातु-काठ-पत्थर आदि मानना मनुष्यकी बौद्धिक अधमता है। क्योंकि वह भूल ही जाता है कि उसका अपना शरीर भी पाञ्चभौतिक ही है और मल-मूत्रादि अपवित्र वस्तुओंसे पूर्ण है। मूर्तिमें आराधक जड़ द्रव्यकी नहीं, सर्व व्यापक ईश्वरकी आराधना करता है। इसलिए मूर्ति अर्चावतार है। वह शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माका स्वरूप है। जो मूर्तिमें आस्था नहीं रखते उनके लिए वह भले धातु, काष्ठ या पाषाण हो, अर्चनके लिए तो वहाँ साक्षात् भगवान ही उस रूपमें विराजमान हैं।

इसी प्रकार भगवत्प्रसाद सामान्य भोज्यद्रव्य नहीं है। वह परम पावन, पापहारी, अमृतस्वरूप है। उसमें सामान्य भोज्यद्रव्यकी भाँति शुद्धाशुद्ध गुणावगुणका विचार करना अपराध है। जो प्रसादमें आस्था नहीं करते, उनके लिए वह भले भोज्य-द्रव्य मात्र हो, श्रद्धालुके लिए वह कायिक, मानसिक आदि समस्त दोषोंका नाशक, नित्यशुद्ध अमृतस्वरूप है।

अब देखिये कि मूर्ति या प्रसाद लौकिक दृष्टिसे तो पाञ्चभौतिक तत्वोंसे ही निर्मित हैं। उनमें जो द्रव्य हैं, वे बदल नहीं गये हैं। रासायनिक विश्लेषण करनेपर उनमें सामान्य द्रव्योंकी भाँति ही गुणावगुण मिलेंगे। क्षय-विकृति आदि दोष उनमें भी पाये ही जाते हैं। यह सब होकर भी वे आराधकके लिए, श्रद्धालुके लिए सामान्य द्रव्य नहीं हैं। उनके सामान्य गुण-अवगुण श्रद्धालुको प्रभावित भी नहीं करते। अर्चकपर--सेवकपर तो उनका दिव्य प्रभाव होता है। उसके लिए वे चिन्मय हैं और ऐसा ही प्रभाव भी उनसे व्यक्त होता है। यह महिमा भावनाकी अकेली नहीं है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' को आप भूल क्यों जाते हैं? जहाँ आप जगतको—पदार्थोंको देखते हैं, वहाँ आपका दर्शन मिथ्या है, अज्ञान प्रेरित है, किन्तु जहाँ चिन्मय

द्रव्य देखते हैं—वहाँ कम-से-कम उतने अंशमें तो आप सत्यका दर्शन कर ही रहे हैं। अतः सत्य दर्शन, सत्य दृष्टिका प्रभाव होता है तो उसे भावना मात्र-का प्रभाव कह कर अपनी मिथ्या दृष्टिको ही तथ्य सिद्ध करनेका प्रयास क्यों करते हैं आप ?

जो वात मन्दिरमें प्रतिष्ठित भगवानकी मूर्तिके लिए है, वही बात गुरु मूर्ति—गुरु देहके लिए भी है। देखनेपर गुरु-देह सामान्य मनुष्य-देह ही है। वाल्य, तारुण्य, वार्धक्य, रोग-मृत्यु आदि विकार उस देहमैं भी सामान्य देहके समान ही आते हैं—आवेंगे। देहको अमर मानने या बनाने-का आग्रह नितान्त वालबुद्धि तथा देहासक्तिका ही सूचक है। लेकिन शिष्य-के लिए गुरुदेह सामान्य मनुष्य देह नहीं है। पाञ्चभौतिक भी नहीं है। जैसे उपासकके लिए मूर्ति साक्षात् भगवान है, चिन्मय है, वैसे ही शिष्यके लिए गुरुदेवका शरीर भी शुद्ध चिद्घन है।

अनेक वार मन्दिरकी मूर्ति टूट जाती है; किन्तु उससे परमात्मा नहीं मरता। आराधक रोता-पीटता नहीं। वह मूर्तिका विसर्जन करके दूसरी मूर्ति प्रतिष्ठित कर लेता है। जो टूट गया, वह तो भौतिक द्रव्य था उसका आराध्य तो नित्य है, शाश्वत है, निर्विकार है। इसी प्रकार गुरुदेहके मृत्यु प्राप्त होनेसे शिष्यपर कोई विपत्ति नहीं आती। वह जानता हैं कि जो नश्वर है, उसीका नाश हुआ है। उसकी आसक्ति विनाशी देहसे नहीं थी उसके गुरुदेव तो अविनाशी हैं। उनकी मृत्यु सम्भव नहीं है। क्या हुआ जो उसके सम्मुख अब वे साकार प्रत्यक्ष रूपमें नहीं हैं।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु र्गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवेनमः ॥

आपने यह स्तुति स्वयं न की हो, तव भी इससे अपरिचित नहीं होंगे। ऐसा गुरु मर सकता है ? वह साढ़े तीन हाथके मल-मूत्रके पिण्डमें बंधा है ? उस देहको ही गुरु मानकर उसे आप अमर मानते हों तो आपने गुरुको तथा गुरुके उपदेशको खाक-पत्थर भी नहीं समझा।

मैं मूर्ति पूजामें श्रद्धा करने वाला व्यक्ति हूँ। मन्दिरमें आराध्य पीठ पर विराजमान मूर्तिके रूपमें साक्षात् भगवान ही हैं, सन्देह नहीं; किन्तु साथ ही साथ वह मूर्ति भग्न हो सकती है, यह जानता हूँ। उस मूर्तिसे मेरा

मोह नहीं है। गुरु देहकी पूजाके साथ इस तथ्यको तो आपको समझना ही होगा। गुरुदेव देह नहीं हैं। वे तो 'साक्षात्परम ब्रह्म' हैं। देहके रहने, न रहनेसे उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। देह तो आपके मार्गदर्शन तथा आपकी आराधनाको आधार देनेके लिए उनका अनुग्रह विग्रह है।

वर्तमान समयमें गुरु-महिमाका जो रूप हम पाते हैं, वह अनेक आराधनाओं-भावनाओंका मिश्रित रूप है। अतएव गुरुका स्वरूप हम साधनोंके अनुसार समझ लें, यह अच्छा होगा।

वेदोंमें—वैदिक अनुष्ठानमात्रमें गुरुका स्वरूप है। विधिका निर्देशक तथा क्रियाका सम्पादक। वह आचार्य है, क्रिया उसीके आदेशके अनुसार होती है। उसकी पूजा भी की जाती है; किन्तु वह आराध्य नहीं है। आराध्यकी प्राप्तिमें वह मुख्य सहायक होनेसे आदरणीय, पूजनीय है।

निगम अर्थात् वेदके समानान्तर ही आगम अर्थात् तन्त्र हैं। तन्त्रमें गुरु आचार्य तथा आराध्य दोनों हो गया है। वह विधिका निर्देशक तो है ही, आराध्यका व्यक्त स्वरूप भी है।

वैदिक उपासना आराधना तथा तान्त्रिक आराधनाका यह भेद ध्यान देने योग्य है। यहीं यह बात स्पष्ट कर देनी है कि आगे चल कर उपासना पद्धति मिश्रित हो गयी और अब समाजमें प्रायः मिश्रित उपासनाकी ही रीति प्रचलित है। केवल वैदिक यज्ञ तान्त्रिकोंके निजी मण्डलोंमें ही शुद्ध परिपाटी उनकी परम्पराकी है।

वैदिक पद्धतिमें गुरु मार्गदर्शक है और आराध्य प्राप्य है। गुरुका वह महत्व है जो अन्धकार भरी रात्रिमें बीहड़ मार्गके पथिकके हाथमें स्थित लालटेनका। पथिकके लिए लालटेन अनिवार्य है। वह उसकी सुरक्षा-सम्मान सब करेगा; किन्तु लालटेन ही उसका प्राप्य नहीं है। वह उसीको लेकर बैठेगा नहीं। वह बिना लालटेन भी कुछ तो चल ही सकता है और आवश्यकता ही हो तो लालटेन बदल भी सकता है।

तान्त्रिक परिपाटीमें गुरुका स्थान केवल मार्ग-दर्शकका स्थान नहीं है। वहाँ गुरु आराध्यसे अभिन्न है। वहाँ साधन इसलिए है कि गुरुका वह आराध्य रूप अवगत हो जाय। साधन कालमें गुरु तथा इष्ट भिन्न रह सकते हैं; किन्तु पूर्णत्वकी प्राप्तिके समय शिष्य देखता है कि जिसे वह प्राप्त करने आया है, वे शिव तो उसके गुरुदेव ही हैं।

इन दोनों पद्धतियोंके दो प्रभाव हैं। वैदिक साधनमें इष्ट निष्ठा और साधन-निष्ठा, केवल ये दो आवश्यक हैं; किन्तु तान्त्रिक पद्धतिमें इन दोनोंके साथ गुरु-निष्ठा भी आवश्यक है। यदि आप कोई तान्त्रिक अनुष्ठान कर रहे हैं तो आपको गुरुके प्रति निष्ठावान रहना होगा। गुरुकी अवज्ञा करनेपर आप सफल नहीं होंगे तथा हानि उठावेंगे।

लोभमें जो आराधना-उपासना प्रचलित हैं, वे प्रायः मिश्रित हैं। पुराणोंमें प्रतिपादित पूजन-पद्धति भी मिश्रित ही है। इसलिए 'निगमागम समस्त' की बातकी जाती है। श्रीमद्भागवतमें 'वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा' कहकर मिश्रित पद्धतिका समर्थन ही किया गया है।

इस मिश्रित पद्धतिमें गुरुको आराध्य नहीं माना गया। परम प्राप्य तो आराध्य है। लेकिन गुरुका स्थान केवल मार्गदर्शन आचार्यका न मान कर, अधिक श्रेष्ठ माना गया है। गुरु क्योंकि ईश्वरसे मिला देता है, अतः वह ईश्वरसे भी अधिक सम्मान्य है, इस भावनापर बल दिया गया है।

वैष्णव सम्प्रदायोंमें गुरु भगवानके नित्यधाममें, शिष्यको प्रभुके सम्मुख उपस्थित करता है, ऐसी मान्यता है। श्रीलक्ष्मी, श्रीजानकी, श्रीराधा, शेष अथवा हनुमान ये परमगुरु हैं। शिष्यके अपने गुरुदेव इनमें-से किसीके प्रियपात्र-सेवक हैं। वे शिष्यको अपने स्वामी अर्थात् परमगुरुके चरणोंमें अर्पित करते हैं और परमगुरु उसे प्रभुके सम्मुख पहुँचाते हैं। बिना परमगुरुके कोई सीधे भगवान तक नहीं जा सकता, यह दृढ़ मान्यता है।

इस मान्यताके फलस्वरूप इन सम्प्रदायोंमें गुरुका स्थान आराध्यके समान न हुआ हो; किन्तु लगभग आराध्यके समान हो गया है और परम-गुरुको तो आराध्यसे भी बड़ा माना जाता है। बहुधा परमगुरुकी ही आराधना-उपासना तथा ध्यान-चिन्तन, कथा-महिमा चलती है।

संत मतोंकी परम्परा वैदिक-तान्त्रिक मतोंसे कुछ भिन्न है, किन्तु जहाँ तक गुरुके स्वरूपकी बात है, इन मतोंमें भी गुरु साधन-निर्देशक तथा साध्य स्वरूप है। 'ध्रुरधाम' अथवा सहस्रारमें गुरु-मूर्तिका ध्यान किया जाता है। इन संत मतोंमें-से कईमें तो अपने गुरुकी मूर्तिका ही ध्यान और उनके नामका जप करनेकी प्रणाली है।

मुझे कहने दीजिए कि गुरु-पूजाका वर्तमान प्रचलित रूप बहुत कुछ विकृत है। इसमें देहाभिमान तथा दैहिक सम्मानके स्वार्थका बहुत बड़ा हाथ है और जनताके अज्ञानसे इसे प्रोत्साहन मिला है। इस प्रवृत्तिके कारण अनर्थ भी बहुत हुआ और हो रहा है। इसीकी प्रतिक्रिया है कि एक वर्ग अब तुल गया है यह प्रचार करनेके लिए कि 'गुरू बनानेकी कोई आवश्यकता ही नहीं है।'

लेकिन तथ्यका दुरुपयोग तथा प्रतिक्रियाके रूपमें उनका सर्वथा निषेध, ये दोनों ही बातें अनर्थकारी हैं। अतएव ठीक स्थितिको अपनाना तथा स्वीकार करना ही उचित मार्ग होगा।

जन साधारणको शुद्ध वैदिक यज्ञ करने-करानेका आज अवकाश तथा सुविधा नहीं है और शुद्ध तान्त्रिक रीतिसे अनुष्ठानादि करने-करानेवाले भी ढूँढ़नेपर अंगुलियोंपर गिनने योग्य मिलते हैं। समाजको तो मिश्रित पद्धतिसे ही चलना है।

गुरु उपदेशक हैं, मार्ग दर्शक हैं ; किन्तु वही प्राप्य अथवा आराध्य नहीं हैं, यह इस मिश्रित रीतिमें निर्विवाद मान्यता है। अतः गुरु परम आदरणीय हैं, पूज्य हैं तथा उनके आदेश सर्वथा पालनीय हैं। लेकिन गुरु आराध्यका स्थान नहीं लेते, अतः ऐसी कोई बात नहीं होनी चाहिए उनके माध्यमसे आराधकके द्वारा, जिससे आराध्यकी प्राप्तिमें, श्रद्धामें तथा संयममें बाधा पड़े। यही सामान्यतः लोकमें गुरुका आवश्यक तथा सर्व सम्मत स्वरूप है और हो सकता है।

—××—

गुरुतत्व

मैं 'कल्याण' के 'तीर्थाङ्क' की तैयारी के लिए यात्रापर निकला था। सोचा यह गया था कि जिन तीर्थोंका विवरण सरलतासे विश्वस्त रूपमें प्राप्त हो सकता है, वहाँ जानेकी बात सुविधा होनेपर सोची जायेगी; किन्तु जिन तीर्थोंके विवरण सन्दिग्ध हैं या जिनकी दुर्गमताके कारण मार्गमें परिवर्तन होता रहता है, उन्हें मैं अवश्य देख लूँ।

यात्राका प्रारम्भ ही कैलाश-मानसरोवरकी यात्रासे मैंने किया। इस-से पहिले निजी रूपमें मैं एक वर्ष पूर्व अमरनाथ हो आया था, इसलिए हिम-प्रदेशकी यात्राका एक साधारण अनुभव मुझे था।

गीता सत्संग (नैनीताल) के श्री स्वामी विद्यानन्द जी प्रायः प्रतिवर्ष यात्रियोंको लेकर कैलास-यात्रापर जाते हैं।* मैंने भी उनसे पत्र व्यवहार किया और उनके कार्यालयकी सूचनाके अनुसार निश्चित समयपर नैनी-ताल पहुँच गया। उनकी सूचनाके अनुसार मैंने सब तैयारी कर ली थी।

स्वामी विद्यानन्द जी नैनीताल नहीं पहुँचे थे। उनके सेक्रेटरी यह यात्री-दल लेकर जाने वाले थे; किन्तु संयोगवश मेरे अतिरिक्त केवल एक बंगाली युवक आये थे यात्राके लिए। दो व्यक्तियोंको लेकर यात्रा करनेसे संस्थाका व्यय नहीं निकल सकता था, अतः सेक्रेटरी महोदयने हमें नैनीताल कुछ अधिक दिन रुकनेको कहा, लेकिन हम दोनोंने यात्रा निश्चित तिथिपर ही प्रारम्भ कर देना तय कर लिया।

स्वामीजीके कार्यालयसे हमें जितनी भी सहायता दी जा सकती, दी गयी। सेक्रेटरीने हमें तम्बू दिये, बर्तन दिये बिना किसी किराएके। नक्शे आदि दिये और हमारे लिए रसोइए तथा मार्ग-दर्शकका प्रबन्ध कर दिया। इस प्रकार हम नैनीतालसे निश्चित तिथि, २९ मई १९५५ को निकल पड़े।

मुझे क्योंकि 'कल्याण' के विशेषाङ्कके लिए यात्रा करनी थी, मैं 'कैलास मानसरोवर' जानेके जो बारह चौदह मार्ग हैं, उनमें से

---

* चीन और भारतके मध्यकी संधि भंग हो जानेसे अब यह यात्रा लगभग अशक्य बन गयी है। अब पासपोर्ट तथा 'बीसा लेना पड़ता है, जो कदाचित ही मिलता है।

तीर्थयात्रियोंके लिए सुगम तीनों मार्गोंका पूरा विवरण लेना चाहता था। एक मार्गसे जाकर दूसरे मार्गसे लौटनेकी बात तो थी ही। मेरे साथके बंगाली युवक लौटते समय श्री बद्रीनाथजीके दर्शन करना चाहते थे। अत: निश्चय किया गया था कि हम लोग गर्व्याङ्ग-तकलाकोटके मार्गसे जायँगे और लौटते समय मैं मिलमकी ओरसे आऊँगा और वे नीति घाटीकी ओर-से जोशीमठ होकर। इस प्रकार तीनों मार्ग देख लिए जायँगे।

रेलवे स्टेशन टनकपुर और मोटर बससे पिथौरागढ़; क्योंकि उस समय तक पक्की सड़क पिथौरागढ़ तक ही थी। सुना है कि अब धारचूला तक बन गयी है। पिथौरागढ़से हमने घोड़े और खच्चर लिए। मार्ग कठिन है, कहीं-कहीं बहुत भयंकर भी था; किन्तु गर्व्याङ्ग तक जो भारतीय सीमा-का अन्तिम कस्बा हमें मिला, कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई। हम एक दिन-को छोड़कर प्राय: सभी रात्रियोंमें किसी-न-किसी चट्टीपर ठहरे, जहाँ खाने-पीनेका सब सामान हमें मिलता रहा।

गर्व्याङ्ग पहुँचनेपर पता लगा कि वहां एक गुजराती युवकोंका यात्रीदल तथा प्रयागके एक दम्पति कई दिनसे रुके हैं। मार्ग अभी बरफके कारण घोड़ोंके जाने योग्य नहीं हुआ है।

हमने गर्व्याङ्ग रुकनेके बदले पैदल जाना ठीक माना। हमारे साथ पहिले वहां रुके लोग भी सहमत हो गये। घोड़े खच्चर हमने केवल घाटी तकके लिए किये और आगेके लिए कुली लिए। क्योंकि अब आगे कोई सामान या ठहरनेका स्थान (मकान) नहीं मिलता था, यहींसे बीस-बाइस दिनके लिए आटा, आलू आदि सामान हमने लिया। हम नेनीतालसे तम्बू ले आये थे। दूसरोंने यहांसे किराएके तम्बू तथा कुछ नमदे भी लिए।

एक रात्रि हमने बीचमें विश्राम किया गर्व्याङ्गसे चलकर और दूसरे दिन घाटीके नीचे पहुँच गये तीसरे पहर। पूरी घाटी हिमाच्छादित थी। इधर-उधर सूखी चट्टानोंपर तम्बू लग गये। दूसरे दिन रात्रिमें तीन-चार बजे ही चल देना, जिससे घाटीकी बरफ दिनमें नरम हो, उससे पहिले पार कर लिया जाय। बरफ जब नरम हो जाती है तो उसमें कहीं-कहीं कमर तक धँस जानेका भय रहता है।

वहां कितनी सर्दी थी—आप अनुमान नहीं कर सकते। हमें उसी शीतमें प्रात: तीन बजे उठना पड़ा। किसी प्रकार पानी गरम करके नित्य-

कर्म सम्पन्न हुआ। तम्बू समेटे गये और भगवानका नाम लेकर हमने घाटी-की चढ़ायी प्रारम्भ कीं। दो गरम मोजे और भारी बूटके भीतर भी पैर जैसे कटे जा रहे थे। लेकिन चढ़नेके श्रमके कारण शरीरमें कुछ गरमी आ गयी। सभीने ऊनी कोटोंके ऊपर बरसाती कोट पहन लिए थे और सिर भली प्रकार ढक रखा था।

घाटीकी चढ़ायी पूरी नहीं हुई थी कि हिमपात प्रारम्भ होगया। नारियलकी गरी कद्दूकसमें कस ली जाय और उसके कागजके समान पतले आधे इंचके टुकड़े हों—इस प्रकारकी हल्की बरफ उड़ती-तैंरती हमारे सिर-कन्धों आदिपर पड़ रही थी। सब लोग आगे-पीछे दूर-दूर हो चुके थे। केवल हमारा मार्ग-दर्शक दिलीपसिंह सबसे आगे था और उसके पीछे मैं था। घाटीके शिखरपर समुद्रतलसे बाइस हजार फीट ऊंचे जब मैं पहुँचा, घूम कर मैंने भारत-भूमिको प्रणाम किया। यही भारतकी सीमा थी। अब हमें चीनके द्वारा अधिकृत तिब्वतमें प्रवेश करना था।

'यहाँसे मैं फिसलता हूँ'—मैंने दिलीपसिंहसे कहा। क्योंकि कश्मीर में सोनमर्गमें बरफपर फिसलना मैं सीख चुका था। 'झटपट नीचे पहुँच जायँगे।'

'भूल कर भी ऐसा मत कीजिये। बहुत धीरे और सावधानीसे मेरे पैरोंके चिन्होंपर पैर रखते उतरिए!'—दिलीपसिंहने चेतावनी दी – 'नीचे भयंकर दलदल है बरफका। भारी खड्ड बरफसे ढका है।'

लेकिन उतराईके लगभग प्रारम्भमें ही मैं अकेला पड़ गया। हिम-पात इतने वेग—मैं था कि दो गज दूरका व्यक्ति भी दीखता नहीं था। दिलीपसिंह किधर गया, मैं जान नहीं सका। उसके पदचिन्ह गिरते हुएहिम-ने तत्काल मिटा दिये थे। श्वास मूछोंपर बरफ बन कर जम रही थी और ऊपरसे हिमपात—अत: मैं यथासम्भव शीघ्रतासे उतर रहा था मैंने दिलीप सिंह या अन्य किसीको पुकारनेकी आवश्यकता नहीं समझी।

'ठहरो! एकदम रुको!'—दाहिनी ओर समीपसे ही एक गम्भीर स्वर सुनायी पड़ा। मेरे पैर जहाँके तहाँ रुक गये चेतावनी मिली मुझे—

'झुक कर हाथकी लाठीसे देख लो, तुम दलदलके कगारपर खड़े हो!'

मैंने हाथकी लकड़ी आगे पृथ्वीमें दवायी तो वह जैसे पानीमें जारही हो, डूबती चली गयी। मेरे मुखसे निकल गया—'हे भगवान!'

'आप कौन ?' दो पद पीछे हट कर मैने पूछा। मेरी दाहिनी ओर कोई खड़ा है, यह अनुमान मैं कर सकता था। हिमपातके कारण कुछ दीख सकता था तो केवल इतना कि एक छायाका धुंधला आभास हो रहा था।

'तुम्हें इस परिचयकी आवश्यकता नहीं है। उत्तर मिला—'मुझे तुम्हारे पास आकर तुम्हें हिममें डूब जानेसे बचानेका आदेश मिला और कुछ बातें बता देनेका भी।'

'किसका आदेश ?' मैंने दूसरा प्रश्न किया।

'परम गुरुका !' उत्तर आया—'यही बताना भी है मुझे।'

'परम गुरू कौन ?' मेरा आश्चर्य और कुतूहल बहुत बढ़ गया था। तिब्वतमें दिव्य योगियोंके होनेकी बात मैंने पढ़ी सुनी है।

'परम गुरू सौ-दो-सौ या दो-चार नहीं हुआ करते !' बहुत स्थिर-गम्भीर वाणी थी। आज भी उसका स्मरण मुझे रोमाञ्चित कर देता है।

"परमात्माने ही अपनी प्राप्तिके इच्छुकोंके लिए अपना गुरू रूप भावित किया है। उसी गुरु तत्वको हम बुद्ध 'अर्हत' कहते हैं। तुम शिव, शेष कहते हैं दूसरे राधा, सीता, लक्ष्मी आदि नामोंसे जानते हो। वह परम वात्सल्यमय तत्व एक ही है। परमार्थके साधकका वही संरक्षक, पोषक तथा मार्ग-दर्शकहै।"

'सम्प्रदायोंके प्रवर्तक आचार्य और साधकोंके अपने-अपने गुरु ?' मैंने प्रश्न किया।

'बच्चे !' बहुत ही स्नेह भरा सम्बोधन आया—'मन्दिरोंमें कितनी मूर्तियाँ हैं। कितने भिन्न-भिन्न नाम हैं और पृथक-पृथक रुप हैं उन मूर्तियोंके तुम्हें सन्देह है कि वे सब एक ही परमात्माकी मूर्तियाँ नहीं हैं ?'

'वे हैं तो एक ही परमात्माकी मूर्तियां'—मैंने स्वीकार किया।

'साधकके सम्मुख जो गुरु है, वह मूर्ति है'—मुझे समझाया गया—'उसमें जो ज्ञान स्नेह, संरक्षण तथा प्रकाश है, वह परमगुरुका है। उस गुरुके रूपमें परमगुरुकी ही साधक अर्चा-सेवा करता है। उस नित्य, चिन्मय गुरूतत्वके ये पीठ हैं। इनमें उसीकी अभिव्यक्ति है। गुरु मरता नहीं और वह मनुष्य या व्यक्ति दीखता हुआ भी मनुष्य या व्यक्ति नहीं होता।'

'भगवन् !' मैं दो क्षण चुपचाप सोचता रह गया था और तब बोला था।

'बस !' मुझे रोक दिया गया—'तुम जहाँ खड़े हो, वहीं अपने बाएँ घूम जाओ और आगे चलो । तुम्हें कुछ दूर जानेपर दाहिनी ओर एक हिमरहित शिला मिलेगी । उसपर खड़े होकर अपने हाथियोंकी प्रतीक्षा करना ।'

मुझे लगा कि मेरी दाहिनी ओर हिमपातमें जो एक आभास था, वह लुप्त होगया है । मैंने पुकारा; किन्तु मुझे कोई उत्तर नहीं मिला । उत्तर देनेवाला सम्भवतः अब वहाँ नहीं था मैं बायी ओर घूम गया और अपनी छड़ीसे मार्ग टटोलता आगे बढ़ा ।

लगभग दो फर्लाङ्ग जानेपर वह शिला मिली ।
एक बर्फीले शिखरके कारण वह इस प्रकारकी स्थितिमें थी कि उसपर हिमपातसे गिरते हिमकी पहुँच हो रही थी । मैं उसपर चढ़ गया ।

हिमपात जैसे सहसा प्रारम्भ हुआ था, वैसे ही वह रुक भी गया । कुछ मिनट ही मुझे प्रतीक्षा करनी पड़ी थी । मेरे साथी ऊपरसे उतरते दिखलायी पड़े । वे सब बहुत धीरे-धीरे उतर रहे थे ।

मार्ग-दर्शक दिलीपसिंह चौंक गया, जब मैंने उसे बताया कि मैं किधर मार्ग भटक कर चला गया था । उसे उतरते समय जब यह आभास हुआ कि मैं उसके पीछे नहीं आरहा हूँ तो वह रुका और कुछ ऊपरकी ओर भी लौटा । वह वहीं मेरी खोज करना चाहता था ; किन्तु मेरे साथी बंगाली युवकके आग्रहके कारण उन्हें लेकर उसे आना पड़ा ।

'आपके लिए मुझे बहुत चिन्ता हो गयी थी ।' दिलीपसिंह कह रहा था—'भगवानने बचा लिया, नहीं तो आप दलदल वाले खड्डके मुखपर ही जा पहुँचे थे ।'

बचाया तो भगवानने ही था; किन्तु जिनको उस कन्हाईने अपने परमगुरु रूपसे प्रेरणा देकर भेजा था, वे कौन थे, यह जाननेकी मेरी इच्छा नहीं ही पूरी हुई ।

———

कुलगुरु

एक प्रथा बन गयी है कि एक कुल परम्परा एक ही गुरु या उनकी सन्तानोंसे दीक्षा-ग्रहण करे। गुरुका कुल ही दीक्षा देता है और उसके शिष्योंके कुल हैं। कुछ ऐसे भी सम्प्रदाय हैं, जिनमें दीक्षा देनेका अधिकार एकमात्र आचार्यके कुलमें उत्पन्न व्यक्तिको ही है। श्री वल्लभाचार्यका सम्प्रदाय ऐसा ही है और श्रीराधा-वल्लभ सम्प्रदाय भी ऐसा हो है। वल्लभ सम्प्रदायमें तो विरक्त-परम्परा नहीं है; किन्तु श्रीराधावल्लभ सम्प्रदायमें विरक्त साधु है; लेकिन ये साधु किसीको शिष्य नहीं बना सकते। दीक्षा देनेका अधिकार तो श्रीहित हरिवंशजीकी सन्तति परम्पराके गोस्वामी बालकोंको ही प्राप्त है। लेकिन अब इस सम्प्रदायमें इसका विरोध प्रारम्भ होगया है और साधुओंने शिष्य बनाने प्रारम्भ किये हैं।

इस परम्पराका प्रारम्भ वस्तुतः कुल पुरोहितकी प्रथासे हुआ है। हिन्दू गृहस्थको श्राद्ध-तर्पण-पूजन आदि आए दिन करने पड़ते हैं। उसके बालकोंका जन्म, नामकरण, उपनयन, विवाहादि संस्कार भी होता है। यदि गृहस्थ ठीक-ठीक पूरी विधियोंका पालन करे तो महीनेमें बीस दिनसे अधिक ही उसे ये देव-पितर आराधनके काम करने पड़ते हैं और इन कर्मोंके लिए आचार्यकी आवश्यकता होती है। जब आवश्यकता प्रतिदिनकी है तो व्यवस्था स्थायी होनी ही चाहिए। इसलिए कुलपुरोहितकी प्रथा अत्यन्त प्राचीन है। एक गृहस्थ द्विजातिका एक ही ब्राह्मण कुलपुरोहित होता आया है। दूसरे कुलका पुरोहित तभी स्वीकार किया जाता है जब अपने पुरोहित कुलमें कोई न रहा हो। पौरोहित्यको साम्पत्तिक उत्तराधिकारके समान माना जाता है। एक पिताके कई पुत्र जब सम्पत्तिका बटवारा करके अलग होते हैं तो उनमें पिताके यजमानोंके घर भी बाँट लिए जाते हैं। यदि पुरोहितके कुलमें कोई बालक या स्त्री बच गयी हो तो भी वही पुरोहित रहेगी। पूजनादिमें वह अपना प्रतिनिधि किसी कर्मसम्पन्न कराने योग्य ब्राह्मणको भेजेगी।

'उपरोहित्य कर्म अति मंदा।
वेद-पुराण स्मृति कर निंदा॥''

ब्राह्मणके लिए पौरोहित्य कर्म प्रशंसनीय नहीं माना गया है। यह हीन आजीविका बतायी गयी है। लेकिन यह आजीविकाका एक सुगम तथा निश्चित साधन हिन्दू श्रद्धालु समाजमें रहा है। अब क्योंकि शास्त्रीय कर्मोंमें श्रद्धा घट रही है; इस वृत्तिका भी दिनों दिन ह्रास हो रहा है।

पुरोहित आध्यात्मिक साधनका भी गुरु हो, यह आवश्यक नहीं है। अवश्य ही अनेक कुलोंमें पुरोहित अपने तप तथा अपनी योग्यताके कारण गुरु भी रहे हैं। वे शिक्षक अर्थात् विद्या-गुरु तथा अध्यात्म-गुरु हुए हैं। जैसे महर्षि वशिष्ठ रघुकुलके पुरोहित थे। साथ ही उन्होंने ही श्रीराम-लक्ष्मण आदिको विद्यादान भी किया और श्रीरामको योगवाशिष्ठका उपदेश भी उन्होंने ही किया। इस प्रकार श्रीरामके पुरोहित, विद्या-गुरु तथा आध्यात्मिक-गुरु तीनों महर्षि वशिष्ठ ही थे।

लेकिन पुरोहितको आध्यात्मिक गुरु बनाया ही जाय या उसीसे विद्याध्ययन किया जाय, ऐसा कोई नियम नहीं था और न होना चाहिए। श्रीसीताजीके पिता महाराज सीरध्वज जनकके पुरोहित शतानन्दजी थे; किन्तु आध्यात्मिक गुरु योगी याज्ञवल्क्य ऋषि थे। श्रीकृष्णचन्द्रके पुरोहित महर्षि गर्ग थे और विद्याध्ययन उन्होंने उज्जैनके महर्षि सान्दीपनसे किया था।

कुल पुरोहितके समान आध्यात्मिक गुरुके कुलसे ही उसके शिष्यका कुल दीक्षा-ग्रहण करे, ऐसी प्रथाका न कोई वर्णन मिलता है और न इसके पीछे कोई शास्त्रीय समर्थन ही है। यह दूसरी बात है कि गुरुके पुत्र भी गुरुके समान योग्य एवं साधन सम्पन्न होगये हों और गुरुके शिष्य पुत्रने उन्हें गुरु बना लिया हो।

हुआ यह कि पुरोहित-वृत्तिको जीविकाका अच्छा साधन देखकर गुरुकी भी कुल परम्परा लोगोंने बना ली। शिष्यकी जो गुरुदेवमें श्रद्धा थी उसका प्रभाव उसके पुत्रोंपर पड़ना ही था। इस प्रभावके कारण उन्होंने गुरुके पुत्रोंको गुरु बनाना सुगम माना। सच्ची बात यह है कि यह परम्परा इसलिए चल सकी; क्योंकि मन्त्र दीक्षा भी एक आवश्यक पुण्य कार्य समझ लिया गया। 'दीक्षाके बिना सद्गति नहीं होती' इस धारणाके साथ यह भी मान लिया गया कि दीक्षामात्रसे सद्गति होजाती है। अतः दीक्षाका उद्-देश्य जाननेकी आवश्यकता शिष्यने नहीं समझी और गुरु समझाते, इतनी योग्यता उनमें हो भी तो शिष्यकी जिज्ञासा कहाँ थी जाननेकी।

जब तक आध्यात्मिक साधनकी इच्छा न जागे, दीक्षाका कोई अर्थ नहीं है और एक ही कुलके व्यक्तिसे दीक्षा-ग्रहणकी जाय इसके लिए न कोई शास्त्र आज्ञा देता और न कोई उचित तर्क ही इसके पक्षमें है।

महापुरुषोंके वंशजोंकी जो महिमा है, आदर हैं और उनकी गुरुता है, उसमें मेरी कोई आस्था नहीं है। उन महापुरुषोंमें मेरी पूरी श्रद्धा है; किन्तु उनके वंशमें उत्पन्न होनेके कारण ही कोई पूज्य, पवित्र अथवा गुरु पदका अधिकारी होजाता है, यह मान्यता केवल भ्रम है। इसके पीछे कोई शास्त्र प्रमाण नहीं है।

गुरु नानकके वंशज 'सोडी' कुलका और बंगाल, गुजरात, ब्रज आदिमें गोस्वामी वंशजोंका जो आदर है, उसमें मैं भली प्रकार परिचित हूँ। लेकिन कोई बता सकता है कि एक महापुरुषकी कितनी पीढ़ी पूज्य और पवित्र मानी जानी चाहिए? इसका कहीं कोई उल्लेख किसी शास्त्र या सन्तकी वाणीमें है? होनेकी सम्भावना भी है क्या?

मैं स्वयं भगवान् श्रीरामके वंशमें उत्पन्न हुआ हूँ। क्षत्रियोंमें सूर्य चन्द्र अथवा अग्निके वंशज हैं और ब्राह्मणोंमें अत्रि, वशिष्ठ, अङ्गिरा, कश्यप आदिके। आप अपना गोत्र स्मरण करें तो जान लेंगे कि आप किसके वंशज हैं। तब ये ऋषि-महर्षि महापुरुष नहीं थे अथवा इधर पाँच-सात सौ वर्षोंमें जो महापुरुष हुए, उनमें उन ऋषियोंसे कोई अधिक विशेषता थी? यदि महापुरुषके कुलमें उत्पन्न होनेसे ही कोई पवित्र होता हो, गुरु बननेका अधिकारी होता हो, पूज्य होता हो तो ब्राह्मण मात्र ऐसे ही हैं और ब्राह्मण ही क्यों, क्षत्रिय तो भगवान्के ही कुलमें उत्पन्न हुए हैं।

किसी महापुरुषके कुलमें उत्पन्न होने मात्रसे कोई पवित्र नहीं होता पूज्य नहीं होता और गुरु पदका अधिकारी तो सर्वथा नहीं होता। इस प्रकारकी जो भी प्रथाएँ हैं, वे चाहे जिस सम्प्रदायमें हों, सर्वथा अशास्त्रीय एवं अज्ञानके आश्रयसे टिकी हैं। यदि किसी महापुरुषने अपनी सन्ततिको पूजनेका आदेश दिया हो (मेरा विश्वास है कि किसीने नहीं दिया है। यदि दिया है) तो वह महापुरुष ही नहीं था। क्योंकि इस प्रकारका मोह तो देहासक्त, कुलासक्त, अहंकारी साधारण संसारी, प्राणीमें ही पाया जा सकता है।

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीरामकी उपासना होती है। उनका श्रीविग्रह पाञ्चभौतिक नहीं था, चिन्मय था। वे साक्षात् परम पुरुष थे।

लेकिन उनके औरस पुत्र लव-कुशकी किसीने पूजा की हो, उन्हें विशेष पवित्र माना हो, ऐसा कोई वर्णन आपको कहीं मिला है ? ऐसी दशामें किसी महापुरुषकी सन्तानमें विशेष पवित्रता, पूज्यता, गुरु-पदकी योग्यता कैसे आवेगी ? यह कोई साम्पत्तिक अधिकार है जो वंश-परम्परामें चलता रहेगा ?

कुलगुरु वनानेकी प्रथामें कुछ और विचित्रताएँ हैं। देशके अनेक भागोंमें कुलगुरुसे दीक्षा लेनेको कोई आध्यात्मिक दृष्टिसे महत्व ही नहीं दिया जाता। माता-पिता वालकोंको भी दीक्षा दिला देते हैं। क्योंकि मान्यता यह है कि दीक्षाके विना पवित्र नहीं हुआ जा सकता। वहुत लोग दीक्षा-रहितके हाथका वना भोजन नहीं करते। लेकिन वह दीक्षित बालक बड़ा होता है और उसमें यदि भगवत्प्राप्तिकी जिज्ञासा हुई तो वह गुरु ढूँढ़ने निकलता है। उसे अव गुरु-दीक्षाकी आवश्यकता प्रतीत होती है। उसे लगता है कि उसकी पहली दीक्षा उसके साधन मार्गमें कोई सहायता नहीं दे सकती।

इस प्रकार कुलगुरुकी प्रथाका एक अन्धविश्वासपर आश्रित परम्परा हैं; क्योंकि इस परम्पराओंके कारण गुरुओंके कुलको सम्मान, गौरव, दक्षिणा मिलती है, आजीविकाका सम्मान पूर्ण सुगम परिश्रम रहित साधन प्राप्त है और अपनी सन्तानोंके लिए भी उसके वने रहनेका भरोसा है, यह वर्ग स्वाभाविक ही इस लाभप्रद स्थितिको वनाए रखना चाहेगा और इस स्थितिको क्षति पहुँचाने वाले प्रयत्नोंका विरोध करेगा।

जिस प्रकार कुलगुरुकी परम्परा है, वैसे ही गुरुके शिष्यसे ही अपनी सन्तानको दीक्षा दिलानेकी परम्परा है। गुरु यदि गृहस्थ हैं तो वे सन्तान परम्परासे और विरक्त साधु हैं तो शिष्य परम्परासे, गुरुपद उनके ही कुलमें सुरक्षित रहता है। अमुक कुल, अमुक मठ या अमुक गद्दीका ही शिष्य वनता रहेगा, यह प्रथा भी कुलगुरु प्रथा जैसी ही है और उसीकी भांति निरर्थक है।

वैदिक यज्ञ, मूर्ति-प्रतिष्ठा आदिमें आचार्य वह होना चाहिए और होता भी है, जो उनकी विधियोंको सम्पन्न करानेकी योग्यता रखता है। महाराज दशरथसे जब पुत्रेष्टि यज्ञ कराना हुआ तो महर्षि वशिष्ठने शृङ्ग-ऋषिको स्वयं आमन्त्रित किया और उन्हें आचार्य वनाया।

मन्त्रानुष्ठानमें भी मन्त्र देवताका आराधक ही मन्त्र-दीक्षा देनेका अधिकारी है। भगवान श्रीकृष्णको जब शंकरजीकी आराधना करनी हुई तो उन्होंने परम शैव उपमन्युसे दीक्षा ली। जबकि यादव कुलके पुरोहित महर्षि गर्ग थे। और नन्दजीके कुलपुरोहित महर्षि शाण्डिल्य थे और इन दोमें-से कोई भी अयोग्य है, ऐसा कहनेका साहस किसीको नहीं होगा।

इसी प्रकार आध्यात्मिक साधन—भगवानकी उपासनाके लिए गुरु वह हो सकता है जो शास्त्रज्ञ हो और साथ ही भगवत्साक्षात्कार प्राप्त भी हो। वह शिष्यके अधिकारको पहिचानने वाला हो। एक कुलमें उत्पन्न सभी लोग एक ही साधन, एक ही मंत्र एक ही भगवद्रूप एवं एक ही उपासना सम्प्रदायके अधिकारी होते रहेंगे, ऐसा कोई नियम नहीं है। एक पिताकी सन्तानोंमें ही विभिन्न रुचि, भिन्न-भिन्न साधनाधिकार पाया जाता है। अतः एक कुलके लोग एक ही सम्प्रदायमें दीक्षित हों, यह आग्रह असदाग्रह है।

जो व्यक्ति साधन-निष्ठ नहीं हैं, शास्त्रज्ञ नहीं है, वह किसी भी कुलमें उत्पन्न हुआ हो, उसे किसीको शिष्य बनानेका कोई अधिकार नहीं है और यदि किसीको दीक्षा देता है, तो वह दीक्षा दीक्षा है ही नहीं। क्योंकि अधिकार पहिचाने बिना, स्वयंके साधनसे सबीज—सप्राण किये बिना दिया गया मन्त्र निःशक्त होता है। साधक-शिष्य अपनी श्रद्धासे, अपने साधन-बलसे, अपनी भाव दृढ़तासे उससे यदि कुछ लाभ उठाता है, तो इसमें दीक्षाकी कोई विशेषता नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कुलगुरु प्रथा चाहे वंश परम्परासे चल रही हो अथवा शिष्य परम्परासे, एक अन्धपरम्परा मात्र है और उसे चलाते रहनेमें समाजका कोई हित नहीं है।

गुरुपूजा और गुरुडम

आज हमारी अनेक सामाजिक रीतियोंका लोप हो गया है। उनमें-से यदि किसीका आचरण किया जाता है तो लोगोंको विचित्र लगता है। भारतकी प्राचीन परम्परा अतिथि सत्कारकी रही है। अतिथि-अभ्यागत, गुरु, साधु अथवा कोई सम्मानित व्यक्ति अपने यहाँ आजायं तो उसके सत्कारकी हमारी विशेष परिपाटी थी। अर्घ्य, पाद्य, आचमन (आवश्यक हो तो) स्नान, चन्दन, अक्षत, पुष्पोंकी माला, मधुपर्क, आचमन, धूप-दीप, भोजन, ताम्बूल और नीराजन (आरती) करके सम्मानितको प्रणिपात किया जाता था।

सत्कारकी इस विधिमें आज कुछ बातोंको समझा ही नहीं जाता। अर्घ्यका अर्थ है हाथ धुला देना। पाद्यका अर्थ है पैर धुला देना या स्वयं धो देना। आचमनका अर्थ है मुख धुला देना, कुल्ला करा देना। चन्दन लगाना, माला पहिनाना, वहाँ धूप जला देना, भोजन कराना, पान देना तो अब भी प्रचलित है। धूपके साथ दीपक भी जलाना और आरती करना यह हमारे सत्कार-पूजनकी विशेष विधि थी।

गुरु, अतिथि, संत और भगवद्भक्त साक्षात् भगवानके स्वरूप माने जाते हैं। ब्राह्मण भूदेव कहे ही जाते हैं। अतएव इनके समीप पहुँचनेपर इनका भली प्रकार पूजन किया जाता था। इनका चरणोदक लिया जाता था और वह जल पूरे घरको पवित्र करनेके लिए छिड़का जाता था। यह घर-घरमें चलने वाली एक सामान्य रीति थी और इसे अद्भुत कोई नहीं समझता था। उलटे इसका निर्वाह न करना अतिथि आदिका अपमान और सामाजिक मर्यादाको तोड़ना समझा जाता था।

अब देशमें न वह श्रद्धा रही, न समृद्धि और न सदाचार ही। 'अतिथिर्मे भूयात्' यह प्रार्थना करता था भारतीय गृहस्थ; किन्तु आज वह चाहता है कि मेहमान न आवें। साधुवेशमें साधु कम और भिक्षुक बहुत बढ़ गये। ब्राह्मण केवल जन्मना रह गये। जो नित्य सन्ध्यादि करते हों और नित्य कर्मकी उपेक्षा करनेके कारण व्रात्य न हो चुके हों, ऐसे ब्राह्मण ढूंढ़नेपर मिलते हैं। अतः अतिथि-अभ्यागत, साधु-ब्राह्मणकी विधिवत् पूजा

करनेकी प्रथाका लोप हो गया। अब तो अपने यत्किञ्चित रूपमें गुरु-पूजा रह गयी है।

गुरुदेवके श्रद्धापूर्वक चरण धोए जायँ, चरणोदक लिया जाय। उनकी पूजा चन्दन, पुष्प, धूप-दीप, आरती आदि करके की जाय, इसमें चौंकने या बुरा मानने जैसी तो कोई बात नहीं है। यह तो हिन्दू संस्कृति-की एक सर्वमान्य, प्राचीनतम परम्पराका पालन मात्र है। श्रद्धा एवं सम्मान व्यक्त करनेकी यह शुद्ध भारतीय पद्धति है।

गुरुजी अपनी पूजा कराते हैं, आरती कराते हैं, चरणामृत देते हैं— इस प्रकार आक्षेप करनेवाले बहुत हैं। 'वे स्वयं परमात्मा बन बैठे हैं'— यह सब लोग कहते हैं। लेकिन इसमें देवता अथवा परमात्मा बन बैठनेकी बात कहाँ आती है और आती भी है तो उत्तेजित होनेकी क्या बात है। अतिथि साक्षात् नारायण है, संत भगवन्तमें अन्तर नहीं, गुरु भगवानसे अभिन्न हैं, आदि बातें केवल कहने-सुननेके लिए तो नहीं है। उनको सम-झना, मानना और धारणाके अनुसार चलना ही तो श्रेयस्कर माना जाना चाहिए। फिर जब सामान्य अतिथि अभ्यागत, साधु-ब्राह्मण मात्रकी इसी प्रकार पूजाका आदेश शास्त्रोंमें है, युगों तक हमारी सम्मान्य सत्कार पद्धति रही है, तब गुरुदेवकी यदि पूजाकी जाती है तो उसमें कोई बुराई कहाँसे आ टपकती है ?

गुरु-पूजा करने वालोंको अवश्य कुछ सावधानी रखनी चाहिए। उनके गुरुदेव उनके लिए भगवानके स्वरूप हैं, संत हैं और पूजनीय हैं। लेकिन दूसरोंके लिए भी वे इसी प्रकार सम्मान करने योग्य हों, वह आव-श्यक नहीं है। दूसरोंकी दृष्टिमें वे सामान्य मनुष्य ही हैं। हो सकता है कि कुछ लोग उन्हें सम्मानित भी न मानते हों। अतः दूसरोंसे यह आशा नहीं करनी चाहिए कि वे भी उसी प्रकार सम्मान-पूजन करेंगे और वे न करें तो बुरा भी नहीं मानना चाहिए।

कुछ लोग श्रद्धातिरेकमें गुरुदेवका चरणोदक बाँटने लग जाते हैं और अनेक बार उच्छिष्ट प्रसाद भी। जब तक कोई माँगे नहीं, अपनी ओरसे अपने गुरुका चरणोदक या उच्छिष्ट दूसरेको एकदम नहीं दिया जाना चाहिए। गुरुकी उतारी माला भी दूसरेको सोच-समझ कर ही पहिनानी चाहिए। किसी ऐसेको वह माला मत दीजिये जो हिचक सकता हो।

यह पूजा गुरुडम है—ऐसा कहने वाले लोग न गुरुका स्वरूप समझते हैं, न शिष्यकी श्रद्धा समझते और न गुरुडमको ही समझते हैं। गुरुडम देश-में नहीं है, यह बात मैं नहीं कह रहा हूँ। वह है और बहुत अधिक है। इतना अधिक है, जितना इस शब्दके द्वारा चिढ़ने वाले अनुमान भी नहीं कर पाते हें; किन्तु यह है क्या, इसे समझना आवश्यक है।

गुरुपनेका दम्भ—गुरु होनेकी योग्यता तथा अधिकार न होनेपर भी गुरुपदको स्वीकार कर लेना, इस बातको गुरुडम कहते हैं। गुरु होनेका अधिकार किसे है? श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठको अर्थात् जो वेद-शास्त्रका रहस्यज्ञ विद्वान हो और साथ ही भगवत्साक्षात्कार अथवा आत्मसाक्षात्कार कर चुका हो, वह। ऐसे पुरुषको छोड़कर जितने भी गुरु हैं, जो भी गुरु बनते हैं, उनका गुरु बनना गुरुडम है। वे चाहे सदाचारी, साधक, किसी आचार्य कुलमें उत्पन्न, अच्छे गायक, श्रेष्ठतम कथावाचक या व्याख्यानदाता ही क्यों न हों।

इस व्यापक अर्थमें गुरुडमको पहचानने वाले थोड़े ही लोग हैं। सामान्य लोग गुरुडमसे जो कुछ समझते हें, वह बात भी जानने योग्य है। जो महापुरुष नहीं हैं, सिद्ध नहीं हैं, भगवत्प्राप्त नहीं हैं, वे अपनेको सिद्ध, आत्मज्ञानी, भगवत्प्राप्त कहते और अनेक चेष्टाओंसे प्रकट करते हैं। यह वे इसलिए हैं कि लोग उनकी ओर आकर्षित होकर उन्हें गुरु बनावें। यह दम्भ गुरुडम है।

इससे भी थोड़ा नीचे उतरिए तो गुरुडमका सबसे स्थूल रूप दिखायी पड़ेगा और यह रूप अनेक बार तो बहुत ही घृणित जान पड़ता है। कुछ लोग या उनके शिष्य गुरुदेवका जूठा प्रसाद सबको बाँटते हैं। जो उसे नहीं स्वीकार करता; उससे गुरुदेव अप्रसन्न होते हैं। एक सम्प्रदायमें तो गुरुदेव समस्त भोजन द्रव्यपर मुखमें पानी भर कर कुल्ला करते हैं और तब वह प्रसाद बनता है। गुरुदेव पूरी सुपारी निगल लें और मलसे वह निकले तब धोकर काटकर शिष्योंको प्रसाद दी जाय, यह भी एक सम्प्रदायकी प्रथा है। यह सब या इससे मिलते-जुलते कार्य जहाँ गुरु स्वयं अपने देहको पवित्र घोपित करता है और उसके देहके उत्सर्गका सेवन करके दूसरे पवित्र होंगे, इस धारणके प्रचारमें योग देता है, पाखण्ड है। इसीका नाम गुरुडम है।

महापुरुषका देह पवित्र होता है। उसका प्रसाद पापहारी तथा चित्तको शुद्ध करने वाला होता है। यह एक तथ्य है। इसको अस्वीकार

नहीं किया जा सकता, लेकिन यह भी तथ्य है कि महापुरुषमें देहासक्तिका लेश भी नहीं होता। उसकी अपनी दृष्टिमें देह मांस शोणितका पिण्ड तथा अपवित्र ही है। उसे देहकी सेवा-पूजाकी चाह नहीं होती। इसलिए वह किसीको अपनी पूजा करनेकी प्रेरणा नही देता। किसीको अपना जूठा खिलाना नहीं चाहता। वह इसकी अनुमति तभी देता है, जब देखता है कि शिष्यमें दृढ़ श्रद्धा है और उसका इसके लिए आग्रह है।

'मेरे नामका जप करो ! मेरे शरीरका ध्यान करो !' यह गुरुडम है और कुछ लोग अपने शिष्योंको इसका आदेश करते है। कुछ लोग अपने देहकी, अपने चित्रकी पूजाका उपदेश-आदेश तो करते ही हैं, जो उनके सम्पर्कमें आनेवाला ऐसा नहीं करता, उसपर दबाव डाला जाता है। उससे वे असन्तुष्ट रहते हैं। एक नहीं, अनेक स्थानोंमें वहाँ ठहरनेवालेके लिए प्रातः सायं आरतीमें सम्मिलित होना अनिवार्य बनाया गया है। यह नियम उचित है, यदि भगवानकी आरतीमें ही सम्मिलित होना अनिवार्य हो। स्थानके शिष्य भगवानकी आरतीके पश्चात् स्थानाध्यक्षकी आरती-स्तुति करें, यह भी उचित ही है; किन्तु उस स्थानाध्यक्षकी आरती स्तुतिमें सम्मिलित होना स्थानमें ठहरे प्रत्येक व्यक्तिके लिए अनिवार्य कर देना, गुरुडमके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इससे कोई लाभ नहीं होता। आरती-पूजा-स्तुति करानेवाला और उसके शिष्य भले इसमें गौरव मानते हों; किन्तु परिस्थितिसे विवश जो उसे करता है, वह कोई श्रद्धा नहीं पाता। उलटे वह निन्दक बन जाता है और अवसर मिलनेपर निन्दा करनेसे चूकता नहीं।

कुछ प्रसिद्ध लोगोंको जानता हूँ। उनके चर घूमते रहते हैं, लोगोंको उनका शिष्य बननेकी प्रेरणा देनेके लिए। किसी उपयुक्त व्यक्तिको देखते ही उसको प्रभावित करनेके व्यवस्थित प्रयत्न प्रारम्भ कर देते हैं। इस प्रकार स्व-शिष्य संख्यावृद्धिका आयोजन संगठित रूपसे वे चलाते हैं। यह गुरुडमके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

एक साधु थे। इन्होंने घूम-घूम कर अशिक्षित लोगोंको दीक्षा देना प्रारम्भ किया। उनका संकल्प एक लाख शिष्य बनानेका था। वे शिष्यको गुरुपूर्णिमा पर यथासम्भव दक्षिणा देनेका आदेश देते हैं। अपढ़ ग्रामीण जिनमें अधिकांश हरिजन थे, उनके शिष्य थे। पता नहीं, उनके शिष्योंकी

संख्या एक लाख पूरी हुई या नहीं, । उनका उद्देश्य था वर्षमें कमसे कम एक लाख रुपये दक्षिणा प्राप्त करना । यह गुरुडम ही तो है, जहाँ शिष्यके कल्याणसे कोई सम्बन्ध नहीं; दृष्टि केवल उससे होनेवाले आर्थिक लाभ-पर ही है ।

गुरुडम और गुरुके मध्यके भी कुछ लोग हैं । एक महात्मा हैं— मेरे एक परिचित उन्हें पतित-पावन कहते हैं । कोई भी व्यक्ति उनके पास संन्यास लेने जाय तो मना नहीं करेंगे । कुछ पूछताछ नहीं करेंगे । नाईसे मुन्डन करा आओ । वे चुटिया काट देंगे, लंगोटी दे देंगे और नामकरण कर देंगे । उसके बाद यदि उनके आश्रममें कोई सेवा करनेकी रुचि तथा योग्यता हो तो वहाँ रहो और नहीं तो विचरण करो । गुरुदेवको अपने शिष्योंकी नामावाली स्मरण नहीं रह सकती । कोई सन्यासी कभी आकर प्रणाम करके कहे कि मैं आपका शिष्य हूँ, तो समझ लेंगे कि कभी वह उनसे दीक्षा लेगया है । शिष्यसे कोई स्वार्थ, कोई सेवा, कोई सम्मान अपेक्षित नहीं है और शिष्य क्या करता है, कैसे रहता है, साधन भजन करता भी है या नहीं, इसकी कोई चिन्ता भी नहीं है । शिष्यका कुछ उत्तरदायित्व भी गुरुपर होता है, इसे वे नहीं समझते-मानते । यह गुरुडम तो नहीं कहा जा सकता; किन्तु गुरुपना भी यह नहीं है ।

गुरुडम त्याज्य है, अधर्म है और समाजके लिए तथा गुरु-शिष्यके लिए भी कलंककी, पतनकी बात है । लेकिन गुरुपूजा कर्तव्य है, धर्म है, परम कल्याणकारी है । यह भेद हमें समझना ही चाहिए ।

—×—

अनर्थोंका मूल—

जब गुरु न होने योग्य गुरु बनते हैं

गुरु न होने योग्य लोग गुरु बनते हैं और खूब बनते हैं। आजके युगमें तो ऐसे ही लोग अधिकांश गुरु बनते हैं। चाहे वे अपने कौशलसे गुरु वन गये हों, अथवा अपने अज्ञानके कारण शिष्यने उन्हें गुरु बना लिया हो, उनके गुरु बननेसे हित कदाचित ही शिष्यका होता है; सम्भावना बहुतसे अनर्थोंके ही होनेकी अधिक रहती है। लेकिन अनर्थोंकी चर्चासे पूर्व इनका श्रेणी विभाजन कर लें।

१—जो न विद्वान हैं, न तत्वज्ञ अथवा भगवत्प्राप्त। साथ ही जो साधक तथा आचार-परायण भी नहीं हैं। केवल साधुवेश धारी हैं, किसी मठ-मन्दिरके अध्यक्ष हैं अथवा किसी आचार्य-कुलमें उत्पन्न होगये हैं।

२—जो विद्वान या तत्वज्ञ तो नहीं हैं और साधक भी नहीं हैं; किन्तु अच्छे व्याख्यान दे सकते हैं, अच्छे गायक हैं, कथा-कहानी या दृष्टान्त सुनानेमें निपुण हैं अथबा साधन, तप या योगका, भक्तिका दम्भ करना जिन्हें आता है।

३—जो विद्वान या तत्वज्ञ नहीं हैं, किन्तु सदाचारी हैं, साधक हैं, श्रद्धालु हैं।

४—जो शास्त्रज्ञ हैं; किन्तु तत्वज्ञ या भगवत्प्राप्त नहीं हैं। भले वे भगवत्प्राप्त होने, तत्वज्ञ होने या योगी होनेका प्रचार अपने सम्बन्धमें करते हो।

५—जो तत्वज्ञ या भगवत्प्राप्त महापुरुष हैं; किन्तु शास्त्रोंके विद्वान नहीं हैं।

यह स्मरण रखना चाहिए कि इन पाँचमें से कोई गुरु बनने योग्य नहीं है। गुरु वही हो सकता है जो श्रोत्रीय अर्थात् शास्त्रज्ञ तथा ब्रह्मनिष्ठ—भगवत्प्राप्त दोनों हो। अतः ऊपर कहे पाँच प्रकारमें से किसी प्रकारके लोग जब गुरु बनते हैं, तब उनके द्वारा जान-बूझकर या अनजानमें ही अनेक प्रकारके अनर्थोंका प्रसार होता है। अतः अब पृथक-पृथक इन श्रेणियोंके सम्बन्धमें विचार करें।

१—जो विद्वान भी नहीं, तत्वज्ञ भी नहीं, साधक भी नहीं, सदाचारी भी नहीं, ऐसे व्यक्तिको कोई क्यों गुरु बनावेगा ? लेकिन दुर्भाग्य कहिए समाजका कि ऐसे व्यक्ति ही गुरुओंमें सबसे अधिक हैं। अपढ़ लोग ही नहीं, पढ़े-लिखे समझदार भी उनके शिष्य बन जाते हैं। क्योंकि ऐसे गुरु या तो साधुवेशमें हैं या मठ-मन्दिरके अध्यक्ष हैं। यदि कहीं वे किसी आचार्य महापुरुषके कुलमें उत्पन्न हुए तब तो जन्मसे गुरु बननेका अधिकार है उनका !

आप गोस्वामी वालकोंमें, सोडीकुलोंमें और साधुओंमें ऐसे लोग बहुत पासकते हैं। उनके शिष्य भी होते ही हैं।

यह अयोग्य गुरुओंकी श्रेणी सवसे कम हानि पहुँचाती है। क्योंकि ऐसे गुरु शिष्यसे कुछ सेवा, कुछ दक्षिणा पाकर ही सन्तुष्ट रहते हैं। इनके द्वारा शिष्यको कोई आध्यात्मिक लाभ नहीं होता, यह तो ठीक; किन्तु उसे कोई वड़ी हानि भी नहीं होती।

इस वर्गके द्वारा अनाचार भी सम्भव रहता है किन्तु अशिक्षित होनेसे यह वर्ग केवल वहीं अनाचार कर पाता है, जहाँ पतनकी पहिलेसे तैयारी हो। जैसे जो गाँजा-भाँगका व्यसनी है, वही गंजेड़ी गुरुका शिष्य बनेगा।

अवश्य ही इस वर्गमें जो साधु हैं वे छोटे वालकोंको बहकाकर चेला मूँड़ लेते हैं और संग दोषसे उस बालकमें वहुतसे दुर्व्यमन आजाते हैं। लेकिन इस बातको सरकार कानून बनाकर रोक सकती है। साधुओंके समाजमें भी अब छोटे वालकोंको साधु वनाना अच्छा नहीं माना जाता। लेकिन पूरे समाजमें जब तक दरिद्रता है, अनाथ बच्चे या दरिद्र माता-पिताके अनाथप्राय वच्चे है, तव तक ऐसी अनेक बुराइयाँ बनी रहेंगी। अन्ततः उन बच्चोंके लिए जिनका आश्रय नहीं होता, पेट नहीं भरता, क्या उपाय है ?

कुछ बालक संग दोषसे घरपर ही अनेक व्यसनोंमें पड़े होते हैं। वे सरलतासे ऐसे लोगोंके हाथ चढ़ जाते हैं। लेकिन अठारह वर्षसे कम आयुके वच्चेको साधु बनाना नैतिक अपराध माना जाना चाहिए, इस बातसे आज समाजका बहुत वड़ा भाग सहमत है। अतः यह बुराई बहुत दिन नहीं चलेगी।

२—जो गायक, कथावाचक अथवा साधनके दम्भी हैं, वे पहिले वर्गके गुरुओंसे अधिक हानि पहुँचाते है। क्योंकि अपने स्वर, कथा तथा दम्भसे

अथवा गुरुके दम्भ-नैपुण्यके कारण उन्हें भगवत्प्राप्त महापुरुष ही समझते हैं।

३—जो विद्वान या तत्वज्ञ नहीं हैं; किन्तु श्रद्धालु साधक और सदाचारी हैं, ऐसे लोग जब गुरु बनते हैं; तब हानि समाजमें व्यापक तो नहीं होती; किन्तु पहली दो श्रेणीके गुरुओंसे अधिक होती है—गम्भीर होती है।

आपको मेरी बात उल्टी लगती होगी; क्योंकि मैं बहुत बुरे लोगोंसे इन अच्छे लोगोंको अधिक हानि पहुँचाने वाला बता रहा हूँ। लेकिन पहला दो वर्ग पैसे ठगता है अथवा कहीं अपनी कामवृत्ति चरितार्थ करता है। साथ ही वह आपसे सम्मानित होता है। इसमें जहाँ तक धन हानिकी बात है, आध्यात्मिक क्षेत्रमें वह कोई हानि नहीं है। धनका दान भयसे, लज्जासे, धोखेसे भी अच्छा ही माना गया है। चरित्रकी हानि केवल दुर्बल-चरित्र लोगोंकी होती है; जो थोड़ेसे निमित्तसे फिसल सकता है, उसे ही दूसरा फुसला सकता है।

इस तृतीय श्रेणीका साधक गुरु न धन लेगा, न किसीको चरित्र भ्रष्ट करेगा; किन्तु वह जो साधन करता है, उसमें उसकी दृढ़ निष्ठा है। अतः शिष्यके मनमें वह यह धारण उत्पन्न करेगा कि दूसरे सब साधन मार्गहीन हैं, उपेक्षणीय है और उनसे आत्म-कल्याण नहीं हो सकता।

साधकका अधिकार निर्णयकी उसमें योग्यता नहीं है। अतः साधकके सिर वह अपना साधन ला देगा। इसका फल यह होता है कि ऐसे गुरुके शिष्य अपने साधनमें तो लग नहीं पाते, वे केवल अपने साधन तथा गुरुकी प्रशंसामें और उससे अधिक दूसरे साधनोंके खंडनमें, दूसरे साधनके पथिकोंका तिरस्कार करनेमें लगे रहते हैं।

इस प्रकार जीवनमें राग-द्वेष, अहंकार बद्धमूल होजाते हैं। आराधना उपासना तथा साधनके नामपर केवल गर्व चलता है। भक्तापराध और भगवदापराध होते रहते हैं। समाजमें गहरी जड़ द्वेषकी फैलाती है। ऐसे गुरुके शिष्यका जीवन कदाचित ही साधनोन्मुख हो पाता है। वह करता तो तितिक्षा, त्याग, जप, भजन बहुत है; किन्तु उसकी संकीर्णता, उसका गर्व, उसका राग-द्वेष उसके सब किये-कराएपर पानी फेरता जाता है।

४—चतुर्थ श्रेणीके गुरु शास्त्रज्ञ पण्डित हैं और ये पहले तीनोंसे अधिक हानिकर हैं। पण्डितों, मुल्लाओं तथा पादरियोंने धर्मके नामपर जो

वे पर्याप्त बड़े समाजको प्रभावित कर सकते हैं, बहुत रुपया भी एकत्र कर लेते हैं तथा चारित्रिक हानि भी बहुत कर सकते हैं—करते हैं।

इसके दो उदाहरण पर्याप्त हैं। एक महिला थीं जिन्होंने यह प्रसिद्ध कर रखा है कि भगवान श्रीकृष्णके उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन—वे जब चाहें तब हो जाते हैं। श्यामसुन्दरमें उनका पुत्र भाव है। ये महिला मन्दिरोंमें, घरोंमें प्रायः भोग लगाती भगवानको और पर्देके भीतर स्वयं रहती। स्वयं दूध पी लेती, कुछ पदार्थ वस्त्रोंमें छिपा लेती, कुछ खाती, कुछ बिखेरती। पर्दा हटानेपर कहती—'कन्हाईने प्रकट होकर खाया है।' इस प्रकार बड़े प्रसिद्ध आचरणनिष्ठ लोगोंको इन्होंने अपना जूठा खिलाया। वृन्दावनमें इन्हें स्वयं दूध-पीते पकड़ लिया गया था; किन्तु तब भी इनका व्यवसाय चलता रहा और देशके धार्मिकोंमें सम्मानित लोग इनके चक्करमें आये, आते रहे।

नाम नहीं लेना है; किन्तु इनकी विशेषता यह है कि इन्होंने मृत-शिशुकी शव-साधना कर ली है। अतः ये सबके सामने मिठाई, फल आदि मँगाकर अपना प्रभाव दिखा देतीं हैं; किन्तु रात्रिमें ये अकेले कमरेमे नहीं सो सकतीं। वह प्रेत शिशु इन्हें रात्रिमें तंग करता रहता है।

दूसरा उदाहरण हरिद्वारके एक कुम्भका है। संवत् भूल गया; किन्तु उस कुम्भका है, जब रोड़ियोंमें स्थित कैम्पोंमें भयंकर अग्नि लगी थी। उस कुम्भमें एक व्यक्ति दिगम्बर होकर शरीरमें विष्ठा लगा कर गंगा तट-पर रोड़ियोंकी ओर आ बैठा। वह दो पत्थरकी गिट्टियाँ बजाता था और कहता था—'मुझे ईश्वर मिल गया है। मैं तत्काल ईश्वर-दर्शन करा सकता हूँ और जो कोई कुछ चाहे, उसकी इच्छा पूरी कर सकता हूँ।

उसके पास जो आता था, उससे वह जनेऊ उतरवा देता था, चोटी कटवा देता था, हाथमें गिट्टीके पत्थर लेकर बजानेको कह देता था। दो दिनमें उसके आस-पास डेढ़-दो-सौ आदमी चोटी काट कर, जनेऊ फेंक कर पत्थरकी गिट्टियाँ बजाने लगे थे। पीछे सनातन धर्म सभाके प्रयत्नसे उसे पुलिसने मेला क्षेत्रसे बलपूर्वक निकाल दिया।

ये दो असाधारण उदाहरण हैं। लेकिन आज गुरुओंके समुदायमें इस वर्गकी ही प्रतिष्ठा-प्रसिद्धि है। अच्छे पढ़े-लिखे, विद्वान, पदाधिकारी सम्पन्न-तम व्यक्ति इस वर्गके लोगोंके शिष्य बनते हैं और अपनी श्रद्धाके कारण

साम्प्रदायिकता फैलायी है, जो महासंसारमें कराए हैं, उन सबसे इतिहासके पृष्ठ रंगे पड़े हैं। उन सबकी पुनरावृत्ति न हो, तो भगवानकी कृपा।

संस्कार शून्य कोई व्यक्ति नहीं होता। अतएव शास्त्रका अर्थ सभी अपने-अपने संस्कारके कारण भिन्न-भिन्न करते हैं। आत्मसाक्षात्कार या भगवद्दर्शन जिसे नहीं हुआ, वह विद्वान हुआ तो उसमें विद्याका अहंकार तथा अपने मतका आग्रह भी होगा ही। अत: ऐसा विद्वान अपने शिष्योंको सिखलाता है कि उसका मत, उसकी शास्त्र-व्याख्या ही ठीक है। दूसरे सब भ्रान्त हैं। उन भ्रान्त लोगोंपर कृपा करके उन्हें सत्पथपर अर्थात् इस विद्वानके मतपर चलनेको समझाना चाहिए और न समझें तो विवश करना चाहिए यह कृपाका आग्रह द्वेष और हत्यासे कैसे वदलता है, यह तो इतिहास ही बतला रहा है।

ऐसा गुरु चाहे जितना बड़ा विद्वान हो, वह स्वयंतत्वज्ञ न होनेसे शास्त्रका मर्म भी ठीक नहीं समझता। अपने विद्याभिमानमें वह स्वयं तो डूबा ही है, उसके अनुयायी भी डूबते हैं।

५—जो तत्वज्ञ या भगवत्प्राप्त महापुरुष हैं किन्तु शास्त्रज्ञ नहीं हैं, वे यदि एक दो शिष्य बना लें और उन शिष्योंको मना कर दें कि वे शिष्य न बनावें तो हानिकी सम्भावना नहीं रहती; किन्तु जब वे आचार्य बन जाते हैं, उनकी शिष्य-परम्परा चलती है, तब जितनी हानि उनके गुरु बननेसे होती है, दूसरे किसीके गुरु बननेसे नहीं होती।

महापुरुषमें आग्रह नहीं होता; किन्तु शास्त्रज्ञ न होनेसे उन्हें केवल अपना वही मार्ग ज्ञात है, जिससे वे पहुँचे हैं। अतः दूसरोंको वे उसीका उपदेश करते हैं। स्वभावतः शिष्यमें मतिभ्रम न हो, इसलिए उसे अन्य मार्ग अनावश्यक बता देते हैं। महापुरुषके प्रभावसे उनके शिष्योंकी दो-तीन पीढ़ी ठीक रहती है; किन्तु पीछे वे लोग आते हैं, जो न महापुरुष होते हैं और न शास्त्रज्ञ। वे प्रधान गुरु उस महापुरुषको भगवानसे भी बड़ा बना देते हैं। उसकी वाणी ही वेदका स्थान ले लेती है। वेद-शास्त्रकी निन्दा करनेमें गौरव माना जाने लगता है। एक नये धर्म, नये सम्प्रदायका जन्म हो जाता है, जो अवैदिक होता है। बिना नाम लिए ही मैं कह रहा हूं कि भारतमें संतों द्वारा चलाए सम्प्रदाय ऐसे ही हैं, जो अब वेदकी निन्दा करते हैं। कुछ तो अपनेको हिन्दू ही नहीं मानते। यह स्थायी और सबसे बड़ी गम्भीर हानि है।

—×—

गुरु बना कर कोई क्यों ठगा जाता है ?

आप कब ठगे जाते हैं ? ठीक उस समय, जब आप दूसरेको ठग लेना चाहते हैं। आपके मनमें दूसरेको ठग लेनेकी इच्छा हो, यह आवश्यक नहीं है। आप जब पूरा श्रम किये बिना बहुत अधिक मजदूरी चाहते हैं, पूरी कीमत दिये बिना बहुत लाभ चाहते हैं, जिस वस्तुके पाने योग्य नहीं हुए हैं, उसे पाना चाहते हैं, तब इसका अर्थ ही होता है कि आप किसी न किसीको ठग लेना चाहते हैं और ऐसी अवस्थामें सम्भावना यही रहती है कि आपका लोभ जो आपकी दुर्बलता है, उसका लाभ उठाकर कोई आपको ठग लेगा।

विद्यार्थी अध्ययन करते नहीं और परीक्षाके समय और अनेक बार परीक्षा देनेके पश्चात् साधुओंके पास, ज्योतिषियोंके पास दौड़ते हैं कि कोई उन्हें परीक्षामें उत्तीर्ण करा दे। इसका फल यह होना ही हैं कि उनको जेबको लोग हल्की करें।

नोट दुगना करने तथा सोना बनानेकी विद्या जाननेवाले अपनेको बता कर केवल धूर्त लोग महिलाओंको ही नहीं ठगते, अनेक बार समझ-दारोंके सिरपर भी वे हाथ फेर जाते हैं। मैं एक प्रसिद्ध साधुको जानता हूँ जो बड़े भारी विद्वान हैं; उन्हें एक स्वर्ण बनानेकी बात करके ठग ले गया।

मेरे पास भी एक बार एक व्यक्ति आया था और उसने बताया कि वह नोट दुगने कर देता है। मैंने उसे माँगनेपर पाँच रुपयेका नोट दिया। मिनट भर इधर-उधर करके उसने मेरे हाथपर पाँच-पाँचके दो नोट रख दिये। मैंने अपना नोट तो जेबमें रखा और दूसरा नोट एक पास बैठे व्यक्तिको दे दिया कि वे उसकी मिठाई ले आवें और श्रीहनुमानजीको भोग लगाकर प्रसाद बाँट दें। नोट दुगना करनेवाला मुझसे और अधिक नोट चाहता था। उसे मैंने धन्यवाद दिया चमत्कार दिखानेके लिए। साथ ही बता दिया कि मुझे जो अपने श्रमसे मिलता है, उससे अधिक पानेकी इच्छा नहीं है। उसने बहुत कुछ कहा और अन्तमें अपना नोट

माँगने लगा। तब मैंने उसे बताया कि मैं पुलिस बुलाने वाला हूँ। भाग खड़ा हुआ वह। मिठाई आयी, भोग लगा और प्रसाद मुझे भी मिला।

अपने परिश्रमके उचित पारिश्रमिकका लोभ मुझे नहीं था। अटपटे ढंगसे लाभ उठानेकी इच्छा मेरी नहीं थी। परम कृपावत्सल जगदीश्वर मुझे जो कुछ देना चाहेगा, उसे कौन रोक लेगा ? जो वह मेरे उपयुक्त नहीं समझता, उसके लिए मैं क्यों लोभ करूँ ? मेरा यह निश्चय उस समय डिगा नहीं था। फल यह हुआ कि मुझे ठगने आकर वह अपने पाँच रुपये खो बैठा था।

इसी प्रकार लोग तब ठगे जाते हैं जब वे मुकदमा जीतनेके लिए, कोई व्यापारिक सफलता पानेके लिए, पुत्र प्राप्तिके लिए अथवा अन्य किसी सांसारिक उद्देश्यकी पूर्तिके लिए कोई सिद्ध ढूढ़ते हैं या किसी ज्योतिषी, तन्त्र-मन्त्रके जानकारके पास जाते हैं। सकाम अनुष्ठान सफल होते हैं, यह मेरा विश्वास है ; किन्तु चुटकी बजाते आपका काम कर देनेका आश्वासन जो कोई देगा, अथवा आप ऐसा चाहेंगे तो ठगे जानेकी ही सम्भावना अधिक है। सकाम अनुष्ठानके लिए उचित व्यय, उचित श्रम तथा आवश्यक श्रद्धा आपमें हो तो वह सफल होगा।

अब आप गुरु बनाकर क्यों ठगे जाते हैं, इसपर विचार कीजिये। नियम यह बताया गया कि आप केवल तब ठगे जाते हैं, जब आपमें लोभकी दुर्बलता अधिक होती है। आप चाहते हैं कि कोई चुटकी बजाते आपको भगवद्दर्शन करा दे या आत्मसाक्षात्कार करा दे, आपको सिद्ध बना दे। आपको न साधन-भजन करना पड़े, न त्याग-तपस्या। आपका घर, रोजगार, कुटुम्ब, सम्मान सब बना रहे। इन सबकी उन्नति तथा आयी आपत्तियोंको दूर करनेका सच्चा आशीर्वाद भी गुरु देता रहे। इस सबके लिए आपको कुछ करनेको न कहे। आपके आचरणगत दोषोंकी वह चर्चा भी न करे। आप उसके समीप जायँ तो वह आपका सम्मान करे। आपसे स्नेह करे; आपको प्रसाद-माला आदि दे; आपके ठहरने-भोजन तथा अन्य आवश्यकताओंका पूरा ध्यान रखे। दूसरोंके सम्मुख आपके त्याग, वैराग्य, भक्ति, साधु-सेवा, उदारता आदिकी भूरि-भूरि प्रशंसा करे। जो ऐसा कर सके, वही आपकी दृष्टिमें ठीक महात्मा और गुरु होने योग्य है।

इस सबके बदले आप क्या करेंगे ? बड़ी नम्रतासे दण्डवत, माला-चन्दनसे सत्कार, शायद आरती और चरणोदक-प्रसाद ग्रहण भी। श्रद्धानुसार कुछ रुपये भेंट भी करते रहेंगे समय-समयपर। लेकिन आपकी भेंट सबको ज्ञात होते रहना चाहिए, यह आप चाहते हैं, भले कहते न हों।

अच्छा भाई, तब आप यह सुन लीजिये और चाहे जितना कटु लगे, इस सत्यको स्वीकार करनेमें ही आपका लाभ है कि आपको महात्मा नहीं चाहिए; आप साधु-महात्मा वेशधारी कोई व्यापारी चाहते हैं। वह आपके सम्मान-सुख-सुविधाका पूरा ध्यान रखेगा। आत्मज्ञान, भगवद्दर्शन, सिद्धि देना, साँसारिक बातोंमें सफलता दिला देना और विपत्ति नाश करना, यह उसके आश्वासन मात्र हैं। इन विषयोंमें वह चातुर्यपूर्ण बातें कर सकता है। कहीं भाग्यसे सफलता मिली तो वह अपना प्रभाव कहेगा और विफलता हो गयी तो भाग्य, ईश्वरेच्छा, भगवानका मंगल-विधान आदि बतानेके लिए उसके पास बहानोंका कभी अभाव नहीं हो सकता।

सबसे पहली बात यदि आप ठगे नहीं जाना चाहते तो यह कि आप जो संत या गुरुसे चाहते हैं, उसे पानेके अधिकारी भी हैं या नहीं, यह देख लीजिये। यदि लगता है कि आप अभी अधिकारी नहीं हैं, तो पहले अधिकारी बननेका प्रयत्न कीजिये। संत सब कुछ कर सकते हैं। वे सर्व समर्थ हैं। यह बात ठीक होनेपर भी यह नहीं होता कि वे मनमाने ढङ्गसे चमत्कार दिखाया करें। अधिकारीपर उनकी कृपा भी प्रकट होती है। अतः अधिकारके बिना आप कुछ पाने जायँगे तो ठगे जा सकते हैं।

दूसरी बात यह कि आप कोई असम्भव इच्छा तो नहीं कर रहे हैं, यह देख लीजिये। जैसे बन्धन और मुक्ति ये परस्पर विरुद्ध हैं। अब कोई चाहे कि उसके बन्धन तो बने रहें और उसे मोक्ष मिल जाय तो यह असम्भव इच्छा है। संसारमें जो आसक्ति है, राग-द्वेष है, यही बन्धन है। घर परिवार, स्त्री-पुत्र, धन-यश आदि भले उन्हें रहें; किन्तु इनकी आसक्ति छोड़े बिना मुक्ति सम्भव नहीं। अब आप इनपर तनिक विपत्ति आयी तो घबड़ाये गुरुदेवके पास भागे। कोई मुकदमा या व्यापारकी सफलता गुरुदेव दे दें। इस आसक्तिको त्यागना नहीं चाहेंगे आप और चाहिए मोक्ष-आत्मज्ञान अथवा भगवद्दर्शन। यह असम्भव इच्छा है और ऐसी इच्छावाला व्यक्ति ठगा जाय, यह स्वाभाविक है।

आत्मज्ञानका एक अद्भुत रूप आजकल देखा जाता है। शरीरके मोह इन्द्रिय-भोगोंमें आसक्ति, यथेच्छा, धनेच्छादिमें कोई अन्तर नहीं पड़ा है। इनकी पूर्ति उचित-अनुचित सब प्रकारसे की जाती है। यह ठीक है कि ब्रह्मात्मैक्य-बोध-वृत्तिके उदयके पश्चात् तत्त्वज्ञका कोई कर्तव्य नहीं रह जाता। उसमें अन्तःकरण रहता है और अन्तःकरणके धर्म तथा रोग भी रह सकते हैं; किन्तु विषयी तथा पामर पुरुषोंसे वैशिष्ठ भी उसमें होना ही चाहिए। उसमें क्रोध, लोभादि संस्कार नहीं छोड़ते। वे आये और गये। शत्रुताकी गाँठ बाँधकर रहने वाला तत्त्वज्ञ नहीं होसकता। तत्त्वज्ञान होनेसे पूर्व तो अन्तःकरणकी शुद्धि आवश्यक ही है। बिना शम-दमादि षट सम्पत्तिके, बिना विवेक वैराग्यादि साधन-चतुष्टयके जो ज्ञान होगा, वह केवल बौद्धिक ज्ञान होगा और वह जन्म-मरणका निवर्तक हो नहीं सकता। अतः बौद्धिक ज्ञानको ही ज्ञान मानकर आप एक हाथसे संसार और दूसरेसे परमार्थको पकड़ लेना चाहते हैं तो ठगे गये हैं अथवा ठगे जायँगे। यही बात भक्ति या अन्य सम्प्रदायोंके विषयमें है। गुरुकी कृपासे ही भगवत्प्राप्ति हो जायगी, ईसाकी शरण जानेसे ही सब पाप क्षमा कर दिये जायँगे, यह कहना मानना अपनेको और दूसरोंको धोखा देना मात्र है।

तीसरी बात यह कि आप अधिकारी भी हैं, उचित त्याग-श्रम करनेको प्रस्तुत भी हैं और आपकी माँग असम्भव भी नहीं है, फिर भी आप ठगे जासकते हैं, यदि आपने भली प्रकार विचार करके, कुछ दिन समीप रहकर निकटसे देखनेका धैर्य न रखकर 'श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ' की पहचान किये बिना किसीको गुरु बना लिया है। दूसरोंसे प्रशंसा सुनकर, व्याख्यान पाण्डित्य देखकर, सिद्धियोंके चमत्कारसे प्रभावित होकर, प्रसिद्धि अथवा वैभव देखकर आपने किसीको गुरु बना लिया है तो आप धोखेमें पड़ गये हों, यह असम्भव है। 'मैं अमुक विख्यात आचार्य-जगद्गुरु प्रकाण्ड विद्वानका शिष्य हूँ' इस लोभमें अहंकारके इस पोषणमें पड़ेंगे तो ठगे जायँगे।

चौथी बात यह कि यदि आप अपनी निष्ठाको नहीं पहचानते और अनेक निष्ठाओंकी खिचड़ी पकाते हैं तो ठगे भी जासकते हैं और बिना ठगे भी दुखी हो सकते हैं। आपको भ्रम हो सकता है कि आप ठगे गये हैं।

यह बात उदाहरणके द्वारा ठीक समझायी जासकती है । मैं एक व्यक्तिको जानता हूँ । बहुत वर्ष पहलेकी बात है, वे मेरे पास बहुत दुखी होकर आये थे । उनके गुरुदेव उन्हें स्पष्ट दृढ़ आज्ञा दे रहे थे, आग्रह कर रहे थे कुछ करनेको । वह कार्य उनकी रुचिके, आराधनाके भी विपरीत था । वे क्या करें, क्या न करें, यह निर्णय नहीं कर पाते थे । मैंने उनसे पूछा—'आप अपने श्रीरामको पाना चाहते हैं या गुरुदेवके श्री विग्रहमें लीन होना पसन्द करते हैं ?'

उनका स्पष्ट उत्तर था—'मैं रघुनाथजीका कैंकर्य ही चाहता हूँ । उसके लिए सर्वस्व अर्पित करूँगा ।

'तब आप इष्ट-निष्ठ हैं । गुरु-निष्ठ होनेका प्रयत्न छोड़ दिया जाय । गुरु आज्ञा जहाँ इष्ट निष्ठाके विपरीत पड़े, पालन करने योग्य नहीं है—उसे न माननेमें कोई दोष नहीं ।' यह समाधान उनके लिए और सबके लिए है । आप अपने लक्ष्यको, अपनी निष्ठाको ठीक पहिचान नहीं लेंगे तो भय, प्रलोभन आदिके द्वारा कोई आपको ठग सकता है ।

ऐसा भी होता है कि आप ठगे नहीं गये, किन्तु यह मान कर कि आपको ठग लिया गया, आप दुखी होते हैं । जैसे गुरु आपसे क्या ठगते हैं ? रुपया लेते हैं वे । आप परमार्थके साधक हैं । धनासक्ति त्याज्य है आपके लिए । अब गुरुने धन ले ही लिया तो आपका गया क्या ? जिसे आप छोड़ने ही वाले थे; वह गया या ले लिया गया, इसमें आप ठगे कहाँ गये ?

बड़ी भयानक बात है, किन्तु सत्य भयानक होनेसे ही तो त्याज्य नहीं । एक स्त्रीके गुरुने उसके देहका उपयोग चाहा । कामकी वृत्ति जब तक अन्तःकरण है, आ सकती है । तत्त्वज्ञ महर्षियोंमें भी आयी है । स्त्री पतिनिष्ठ है तो उसने गुरु क्यों बनाया ? उसका गुरु तो पति है । वह आचार निष्ठ है तो गुरु आज्ञाका उल्लंघन दोष नहीं है । लेकिन यदि दोनों बातें नहीं हैं तो दैहिक पवित्रताका अहंकार नष्ट होनेमें उसके ठगे जानेकी बात कहाँ आती है ?

अवश्य आप ठगे जाते हैं, यदि आपने जिस इष्ट, साध्यकी ओर जानेको गुरु बनाया, उसके विपरीत गुरु आपको संसारमें भोगमें लगाता है । यह आपकी ऊपर बतायी गयी त्रुटियोंमें-से ही किसीका परिणाम होगा ।

—*—

क्या गुरु बदला जा सकता है ?

'नहीं बदला जा सकता ।' यह मेरा दृढ़ उत्तर है और इससे भी दृढ़ उत्तर है कि 'प्रति दिन बदला जा सकता है । जीवनमें दो-चार छः बदलनेकी तो बात ही छोड़ दीजिये ।'

ये उत्तर परस्पर विरोधी हैं । दोनों बातें कैसे सम्भव हैं ? आपका यह प्रश्न उचित है और यह बात साधकको अवश्य ही समझ लेना चाहिए ।

मुख्य बात यह है कि गुरु बनाया भी है आपने या नहीं । आपने जिसे गुरु बनाया है, वह गुरु होने योग्य है या नहीं ? अर्थात् वे शास्त्र ज्ञान सम्पन्न तथा आत्म-साक्षात्कार अथवा भगवद्दर्शन प्राप्त महापुरुष हैं या नहीं ? उनमें शिष्यके अधिकारको पहचाननेकी योग्यता है या नहीं ? और योग्यता होनेपर भी उन्होंने आपके अधिकारको पहिचान कर आपके उपयुक्त दीक्षा दी है अथवा साधन अपने सम्प्रदायमें ही आपको दीक्षित कर दिया है, यह बिना सोचे कि आपकी रुचि तथा अधिकार उसका है भी या नहीं ?

इन प्रश्नोंका उत्तर यदि आप ठीक सोच लें तो यह कहा जा सकता है कि आप गुरु बदल सकते हैं या नहीं बदल सकते ।

गुरु शास्त्रोंके विद्वान हैं । आत्म साक्षात्कार सम्पन्न हैं साधकके अधिकारको जान लेनेकी क्षमता उनमें है । उन्होंने साधकके अधिकारको समझ कर उसके अनुरुप दीक्षा दी है । दीक्षामें प्राप्त मन्त्र उस समय साधनमें रुचि होगयी थी । तब उसी समय आपके साधन जीवनका जन्म हो गया जैसे देहका जन्मदाता पिता होता है, साधना जीवनका जन्मदाता गुरु होता है । किसीने पिता कभी बदला हो, सुना है आपने ? पुर्नविवाहकी प्रथा जिनमें है, उनमें स्त्री भले दूसरा विवाह; किन्तु औरस संतान जिसकी है, पिता तो वही रहेगा । ऐसी अवस्थामें गुरु भी कदापि नहीं बदला जा सकता ।

अब उस साधनमें, उस इष्टमें मन नहीं लगता । कोई दूसरा भगवद्-रुप मनको अधिक आकर्षित करता है । किसी दूसरे महापुरुषमें अधिक

श्रद्धा होगयी । इन्हीं कारणोंसे आप गुरु बदलना चाहते हैं । लेकिन आपके पितासे कोई अधिक सुन्दर, सबल, धनवान, दयालु, प्रसिद्ध एवं सद्गुणी विद्वान है, इसीलिए आप उसे बाप बना लेंगे ? भारतीय परम्परामें कन्याका विवाह पिता करता है । पिताने जिस पुरुषके हाथमें कन्याका हाथ दे दिया, वह कन्याका पति । वह उसके इस लोक परलोकके स्वामी । संसारमें उससे सुन्दर उससे बलवान, उससे विद्वान, उससे धनवान और उससे गुणवान पुरुष बहुत हो सकते हैं; किन्तु उस कन्याके लिए वही है । यदि वह पुरुषोंके धन, बल, रूप, विद्या, गुण आदिसे प्रलुब्ध होती है तो व्यभिचारिणी मानी जायेगी । उसका पतन अवश्य होगा ।

ठीक गुरुने ठीक दीक्षा दी तो वह साधनजीवनका पिता है । उसने जिस आराध्यकी दीक्षा दी, वह आराध्य पतिके समान है । उसी आराध्यको सर्वात्म समर्पण करना है । वह मन्त्र और साधन ही इस जीवनका है । इनमें किसीको बदलनेकी बात अनर्थकारी है ।

महादेव अवगुन भवन विष्णु सकल गुनधाम ।
जाकर मन रम जाहि सों ताहि ताहि सन काम ।।"

"अब मैं जनम सम्भु हित हारा ।
को गुन-दूषन करइ बिचारा ।।"

यह दृढ़ निष्ठा साधकमें होनी चाहिए । गोस्वामी तुलसीदासजीने दोहावलीमें निष्ठाका आदर्श बताया है—

"बनै तो रघुवरसे बनै, बिगरै तौ भरपूर ।
तुलसी औरनि सों बनै, वा बनिबै में धूरि ।।"

मन तो चंचल है । वह एक स्थानपर टिकना नहीं चाहता । उसे नया-नया परिवर्तन चाहिए । इसीलिए वह पुराने गुरु, साधन तथा इष्टको छोड़ कर नएमें अब अधिक महानता दिखलाने लगा है । मनके इस प्रलोभनसे सावधान रहना है । वह धोखा दे रहा है । अतः उसकी बात सुननी ही नहीं है । साधकका हित मनमानी करनेमें नहीं है । मनको बलपूर्वक रोकना है और अपने गुरु-मन्त्र, साधन, इष्टमें ही लगे रहना है ।

ऐसे साधकके लिए, ऐसी अवस्थामें गुरु बदलनेका विचार करना भी हानिकारक है । अवश्य ही वह अन्य महापुरुषोंका सत्संग करे, उनसे अपने

साधनमें प्रेरणा ले-यह उत्तम है; किन्तु गुरु वह बदल नहीं सकता। गुरु उसके वही रहेंगे जो हैं और साधन भी उनका प्रदान किया हुआ ही रहेगा।

आजकल जैसे गुरु सामान्यत: होते हैं और जैसी दीक्षा शिष्यको देते हैं, वैसे ही गुरु हों तो ? इसका स्पष्टार्थ यह है कि यदि गुरु केवल विद्वान हों, अच्छे व्याख्यानदाता हों, किसी मठ या सम्प्रदायके आचार्य हों अथवा यह भी न हों तो ? गुरु विद्वान न हों, शास्त्रज्ञान न हो और अच्छे साधु हों तो ? गुरुने अपने साधन या सम्प्रदायके मन्त्रकी दीक्षा दी हो, जैसा कि प्राय. होता है तो ? गुरुने साधकके अधिकारको जाननेका प्रयत्न न किया हो अथवा उनमें अधिकार निर्णयकी क्षमता न हो तो ?

अच्छा एक बात बतलाइए, आप बच्चे थे तो आपके कानमें कितने बच्चोंने 'टू' अथवा 'कू' किया है ? पत्नी, मित्र अथवा अन्य किसीने आपके कानमें कोई बात कभी चुपचाप कही है या नहीं ? ऐसा करनेवाले सब आपके गुरु होगये, यह आप मानेंगे ?

देखिये, कानमें कोई शब्द कह देनेसे कोई किसीका गुरु नहीं होजाया करता। इसका भी कोई महत्व नहीं है कि वह कानमें कहा जाने वाला शब्द कोई मन्त्र है या नहीं। उस मन्त्रको सुनते समय जो विधि-विधान हुआ, उसका भी कोई महत्व नहीं है। यह सब एक खेल एक नाटक मात्र ही है।

मान लीजिये कि एक नाटकमें एक व्यक्तिको गुरुका अभिनय करना है और आपको शिष्यका। नाटककी पूर्णताके लिए मन्चपर सब पूजा, विधि-विधान ठीक किया जाता है और वह गुरु बना व्यक्ति आपके कानमें कोई मन्त्र भी कह देता है। वह व्यक्ति आपका गुरु होगया, यह माननेको तैयार हैं ?

भोले भाई ! किसी नारीके गर्भसे कोई माँस पिंड निष्प्राण निकले तो केवल जात-कर्म-संस्कार कर देनेसे वह उसका पुत्र नहीं बन जायगा। बहुतोंके पेटसे केंचुए या छोटे कीड़े निकलते हैं। कोई उनको अपनी सन्तान नहीं मानता।

इसीलिए आपके सब 'तो' का उत्तर यह है कि आपके साथ केवल दीक्षाका नाटक हुआ है। गुरु जो आत्मानुभव या भगवद्दर्शन सम्पन्न

शास्त्रज्ञ नहीं है, व अच्छा साधु, अच्छा विद्वान, अच्छा वक्ता या मठाधीश सम्प्रदायाचार्य आदि होनेसे गुरु बनने योग्य नहीं हो गया। जो गुरु बननेका अधिकारी नहीं है, उसे आपने गुरु बना लिया, तो भी आप बिना गुरुके ही हैं। भले समाजकी मान्यता इसके ठीक विपरीत ही क्यों न हो।

देखिए, देवताकी मूर्ति ठीक बनी है; किन्तु टूट कर टुकड़े होगयी थी। उसे किसीने मसालेसे जोड़ दिया है। वह मूर्ति प्रदर्शनीमें रखी जा सकती है किन्तु अब देव-पूजाके योग्य नहीं है। आप चाहे जितने विधि-विधानसे उसकी पूजा करें, यह पूजा देवपूजा नहीं है। पूजा करनेपर भी आपने देव पूजा नहीं की, यही माना जायगा।

अब मान लीजिए गुरुमें गुरु बननेकी योग्यता तो है, वे गुरु बनने अधिकारी हैं; किन्तु उन्होंने किसी कारण अधिकारका निर्णय नहीं किया और आपको दीक्षा दे दी। इस अवस्थामें भी वे आपके गुरु नहीं हैं। आपको दीक्षा मिलकर भी नहीं मिली आपका, कोई गुरु आपका अभी नहीं है।

इस बातको यों समझिए कि एक चतुर किसान है। उसे कृषि कम भली प्रकार आता है। वर्षा हुई और धानके खेतोंमें पानी भर गया। खेत जोते तैयार हैं, लेकिन किसी कारण किसानका चित्त ठीक नहीं है। वह अन्यमनस्कतामें उस पानी भरे खेतमें गेहूँके बीज डाल आया। अब आप उस खेतको बोया मान लेंगे? उसमें कुछ उत्पन्न होनेकी आशा है? अथवा वह खेत नहीं बोया गया, यह मानकर उसमें धानके बीज डालना आप ठीक समझते हैं?

आपने गुरु बनाया है अपनी दृष्टिसे, समाजकी दृष्टिसे; किन्तु शास्त्रकी दृष्टिसे, साधनकी दृष्टिसे वह गुरु बन भी गया या नहीं? आपकी दीक्षा ठीक दीक्षा है अथवा दीक्षाका अभिनय मात्र है? आप इस बातपर विचार करेंगे तो आप समझ लेंगे कि मैं क्यों कहता हूँ कि गुरु प्रतिदिन बदले जा सकते हैं।

आपके मान लेनेसे, कुछ विधियां सम्पन्न कर देनेसे कुछ आता-जाता नहीं। इस प्रकार आपने कोई गुरु बनाया है तो वह गुरु नहीं है। आपने इस प्रकार दीक्षा ली है तो वह दीक्षा नहीं है। अभिनय करनेका कोई शास्त्र निषेध नहीं करता। अतः आप चाहें तो दिनमें दस बार इस प्रकार नए नए गुरु बनाने और नयी-नयी दीक्षा देनेका अभिनय करते रह सकते हैं। इसमें कोई पाप नहीं है।

लेकिन इस प्रकार आपने एक गुरु बनाया हो अथवा एक सहस्र, वस्तुतः आपको दीक्षा नहीं ही मिली है। आपका कोई गुरु नहीं है। जिसका कोई गुरु नहीं है, जिसे दीक्षा नहीं मिली है, उसे गुरु बनाना चाहिए या नहीं, यह प्रश्न समझदारीका नहीं माना जायेगा। उसे तो गुरु बनाना ही चाहिए जब तक उसे वस्तुतः गुरु न मिल जायँ और दीक्षा न प्राप्त होजाय ।

गुरु बदले जा सकते हैं या नहीं ? इसके उत्तरमें तो दृढ़तापूर्वक यही कहना पड़ेगा कि गुरु बदले नहीं जा सकते। मन्त्र बदला नहीं जा सकता। इष्ट बदला नहीं जा सकता । ये सम्बन्ध तो जन्म-जन्मान्तरके लिए होते हैं।

लेकिन गुरु हुए नहीं; केवल सामाजिक रीतिके कारण एक दीक्षाका अभिनय हुआ और किसीको गुरु मान लिया तो उन्हें बदला जाय या नहीं ? प्रश्न यही किया जाता है और इसका उत्तर तो स्पष्ट है कि ऐसे एक नहीं एक हजार गुरुओंको भी बदलते बदलते रहा जा सकता है।

सच पूछिये तो ऐसी दीक्षा लेना ही भूल है, जहाँ तक हो सके ऐसी दीक्षा नहीं लेना चाहिए। साधकका जीवन अभिनयके लिए नहीं है। लेकिन भय, प्रमाद, प्रथा अज्ञानके कारण यदि किसीसे ऐसी भूल हो गयी तो जब ज्ञात हो गया कि यह भूल थी, तभी उसे सुधार लेना चाहिए। भूलको बनाए रखना, उसीको दृढ़तासे पकड़े रहना, कोई समझदारीकी बात नहीं है।

———

गुरु-सेवाके प्रकार

आदेशका पालन ही सेवाकी सर्वश्रेष्ठ कोटि है। लेकिन अब युग नहीं रहा—इतनी श्रद्धा नहीं रही कि तत्त्वज्ञानकी जिज्ञासासे आये शिष्यको कोई गुरु कुछ गाएँ देकर आज्ञा देगा—'जब इनकी संख्या एक सहस्र हो जाय, तब आना।' अब इस प्रकारके आदेश-पालनकी क्षमता लोगोंमें रही नहीं है। इस बातको सभी समझते हैं, अतः कोई गुरु ऐसी आज्ञा देता भी नहीं है। लेकिन यह बात तो ठीक समझ ही ली जानी चाहिए कि गुरुदेव-की आज्ञाका पालन ही उनकी सबसे बड़ी सेवा है।

आज्ञा,पालन भी अविचार-पूर्वक किया जाय तो सदा सेवा नहीं बनती। सच्ची बात यह है कि 'सेवाधर्म' बहुत कठिन है। उसमें समझदारी-की बहुत अधिक आवश्यकता होती है। उदाहरणके लिए लीजिए कि कोई गुरुदेवके पैर दबा रहा है। गुरुने आदेश दिया कि यह काम बन्द कर दो। अब क्या किया जाय ? यदि शिष्यकी थकावट-श्रम आदिको देखकर उसको सुख देनेके लिए, उसका सम्मान करानेके लिए यह आदेश गुरुने दिया है तो आदेशके पालन न करनेमें ही उसका पालन करना है। क्योंकि गुरु दयालु हैं, संयमी हैं, तितिक्षु हैं। वे अपने लिए शिष्यको कोई श्रम या व्यय नहीं करने देना चाहते। इसलिए वे मना करते हैं। लेकिन यह भी हो सकता है कि शिष्यको पैर दबाना आता ही न हो। उसके पैर दबानेसे गुरुको कष्ट हो रहा हो। अथवा वे निद्रा लेना चाहते हों और पैर दबानेसे उनकी निद्रामें बाधा पड़ती हो। यह भी सम्भव है कि वे सर्वथा एकान्त चाहते हों और किसी कारण यह बात शिष्यसे कहनेकी इच्छा न हो। ऐसी अवस्थामें आदेशका पालन न करना सेवा नहीं कहा जायगा।

आदेशके पालनमें कई बार संकटकी स्थिति आती है। गुरुदेवका आदेश पालन करने योग्य नहीं लगता। वह सामान्य धर्मके विपरीत जान पड़ता है। ऐसे अवसरपर यदि आदेशके पालनसे अपनी ही आर्थिक, शारी-रिक अथवा और कोई क्षति होती हो तो आदेशका पालन करना ही कर्तव्य है; किन्तु यदि उसके पालनसे गुरुदेवकी भी हानिकी सम्भावना हो, उनकी शारीरिक, आर्थिक, कीर्तिकी क्षति हो अथवा उन्हें अधर्मका भागी बनना

पड़ता हो तो आदेशका पालन न करना ही गुरुकी सेवा है। उदाहरणके लिए कोई बीमार गुरु, रोगके आवेशमें अपथ्य देनेका आदेश एवं आग्रह करें तो उस आदेशको अनसुना करना हो उनकी सेवा होगी। आदेशका पालन करना तो अधर्म हो जायगा। जैसे शरीरके रोग होते हैं, वैसे ही मनके रोग ईर्षा-द्वेष काम-क्रोध, लोभ-मोह हैं। इनके आवेशमें दी गयी आज्ञा भी यदि गुरुका भी अहित करने वाली है तो पालन करने योग्य नहीं है।

गुरुके आदेशका पालन, गुरुकी इच्छाका अनुवर्तन अथवा गुरुकी अनुकूलताके अनुसार आचरण—सेवाका यह उत्तम प्रकार है; किन्तु इन सबमें सावधानी तथा विचारकी आवश्यकता है। निर्विवाद रूपसे यही कहा जा सकता है कि गुरुको सुख हो, उनका शरीर-स्वास्थ्य, यश तथा धर्म बाधित न होता हो, इनमें अभिवृद्धि हो, इस प्रकारका आचरण सेवाका श्रेष्ठ प्रकार है।

सेवाका एक श्रेष्ठ प्रकार है, अपने जीवनमें गुरुके उपदेशोंको यथा-वत ले आना। गुरुकी शारीरिक सेवाकी अपेक्षा यह कहीं श्रेष्ठ सेवा है। गुरुदेवसे दूर रह कर भी आप उनके अत्यन्त समीप हैं और उनके परम प्रिय है, यदि उन्होंने आपको जो जीवनका आदर्श बतलाया है और जो साधन निर्देश किये हैं, उनका आप अपनी शक्ति एवं योग्यताके अनुसार पूरा-पूरा पालन करते हैं। सेवाकी यह पद्धति निर्दोष है। इसमें भ्रम, प्रमाद आदि होनेका भय प्रायः नहीं है।

गुरुदेव यदि किसी विशेष साधन-नियम अथवा सामाजिक सेवाके कार्यको महत्ता देते हैं और उसका प्रचार चाहते हैं, तो उस प्रचारके लिए जीवन लगा देना, गुरुदेवकी उत्तम सेवा है। लेकिन इस सेवामें यह साव-धानी बहुत अधिक अपेक्षित है कि कहीं अपने सम्मान, अपनी ख्यातिका लोभी साधक न बन जाय और गुरु-सेवाके नामपर वह अपने ही अहंकारी-की तुष्टिमें न लगा हो।

आज संत-सेवा और गुरु-सेवाके नामपर जो कुछ प्रायः किया जाता है, वह अधम कोटिकी सेवा भी नहीं है। मैंने अधिक संतोंके यहां देखा है कि सत्संग चल रहा है, लोग ध्यान पूर्वक उपदेश सुननेमें लगे हैं। उस बीचमें ही दूसरोंको ठेलते ठालते लोग पहुंचते हैं संतके पास और प्रणाम करने लगते हैं, पैर-दबाने बैठ जाते हैं। कुछ लोग चरण धोने और आरती-पूजाका भी उपक्रम कर देते हैं। इससे सत्संगमें बाधा पड़ती है, महात्माको

असुविधा होती है, इसकी ओर ध्यान देना चाहिए—इसकी उन्हें आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती।

मैं प्रणाम करने, पूजन करने, चरण धोनेका विरोध नहीं कर रहा हूँ। हमारे शास्त्रोंने तो ब्राह्मण, साधु तथा अतिथि मात्रको भगवान मानकर उसकी पूजा करनेका निर्देश किया है। प्राचीन परम्परा अब लुप्त हो गयी, अन्यथा अर्घ्य-पाद्य, आचमनादि समस्त उपचारोंसे अतिथि-ब्राह्मण-साधु पूजाकी प्रथा थी भारतीय गृहोंमें ; लेकिन इसके लिए भी अवसर देखना उचित है। हम जिसकी पूजा करते है, उसे हमारी क्रियासे उद्वेग, क्लेश तथा असुविधा न हो, यह सबसे प्रधान बात है।

श्रीउड़िया बाबाजी महाराज कहीं पधारते थे तो बहुत भीड़ हो जाती थी। लोग श्रीमहाराजजीके पैर छूने दौड़ते थे। एक बार पैर छूने वालोंने इस प्रकार महाराजजीके पैर छुए कि उनके नखोंसे चरणमें घाव हो गया और यह घाव बहुत दिनों तक अच्छा नहीं हुआ ; क्योंकि चरण छूनेवाले उसे बार-बार नोच कर ताजा कर देते थे।

यह एक आकस्मिक घटनामात्र नहीं है। मैंने कई महात्माओंके समीप लोगोंको भोजन-सामग्री लाते देखा है। महात्मा कहते हैं—'मुझे रोग है। मुझे मेरे चिकित्सकोंने चीनी और घी अथवा तेल वाले मेवे खानेसे रोका है।'

'आप थोड़ा सा ले लें !' लाने वाला आग्रह करता है। अनेक बार दुराग्रह करता है। कुछ गिड़गिड़ाते हें, रोने तक लगते हैं। उनका अद्भुत तर्क है—'यह अमुकका प्रसाद है ! यह मैं बड़ी श्रद्धासे लाया हूँ, अतः इससे आपको कोई हानि नहीं होगी।'

किसीको रूक्षता पूर्वक निराश एवं दुखी कर देना साधु-संतोंके लिए बहुत कठिन होता है। अतः ऐसे दुराग्रहोंके सम्मुख वे प्रायः झुक जाते हैं। वे दो चार कण ले ले, इतनेसे भी सन्तोष नहीं होता। आग्रह चलता है—'थोड़ा सा और !' इससे उनका शरीर रोगी बना रहता है। उन्हें कष्ट होता है, यह सब देखनेका अवकाश किसे है ? ऐसे सेवकोंको तो अपनी सेवा-सार्थक करके पुण्य लूटना ठहरा।

अच्छे शीतकालमें लगातार लोग चन्दन लगाते और पुष्पमाला पहनाते चले जाते हैं। कोई भला आदमी नहीं सोचता कि जिसे वे पूज्य मानते हैं, उसे भी सर्दी लगती है। उसे भी जुकाम होता है। उसे भी कष्ट पहुँचे, यह नहीं है।

'मुझे केवल दो मिनटका समय चाहिए !' यह सत्संग या साधनके सम्बन्धमें कुछ जाननेके लिए आने वालोंकी माँग है। लेकिन दो मिनटका अर्थ तब तक, जब तक संकोच त्याग कर उनको चले जानेके लिए न कह दिया जावे। स्नान-भोजनके समय ही नहीं, शौच जाते समय भी कुछ लोगोंकी भीड़ ठेठ शौचालयके द्वार तक साथ-साथ चली जाती है। विवशता है कि वे शौचालयके भी सिरपर खड़े नहीं रह सकते। अतः बाहर ही खड़े-खड़े प्रतीक्षा कर लेते हैं। निद्रा तथा विश्रामके लिए भी समय चाहिए, यह सोचनेका उन्हें अवकाश ही नहीं।

मुझे ऐसे अवसर भी देखनेको मिले हैं कि साधुके पास औषधिके लिए पैसे नहीं हैं अथवा उन्हें वस्त्र चाहिए। उनकी कुटियाकी मरम्मत आवश्यक है। लेकिन उनके पास भण्डारेके लिए रुपया लेकर लोग आये है। ऐसे लोगोंका आग्रह भी होता है कि उनका पूरा धन भण्डारेमें ही खर्च हो और यदि सब श्रम करके भी वह रोगी साधु भण्डारेके मिष्ठान्न नहीं खाता तो वे 'भगत' दुःखी होते हैं। अनेक बार भयानक रूपसे रुष्ट हो जाते हैं।

मेरे परिचित एवं श्रद्धेय एक महापुरुषने बताया 'लोग शनिवारको छाता या लोहेका सामान भेंट करने आते हैं। गुरुदेवकी सेवाका बहाना भी और शनिश्चरका दान भी !'

यह सब सेवा नहीं है। पुण्य-प्राप्ति, पाप या ग्रहादिके दोष दूर करनेकी यह सब चेष्टा उलटे परिणाम देती है। इस प्रकार न पुण्य होता, न पाप या ग्रहदोष मिटते हैं। मूर्खतावश गुरु या संतको कष्ट देकर, असुविधा पहुँचा कर अपराध ही बनता है। उससे करनेवालोंकी मानसिक सन्तुष्टि भले हो जाती हो, उसे कोई पुण्य लाभ नहीं मिलता। दोष भले उसे मिल सकता है।

इसलिए गुरुदेव या संतकी सेवाका संकल्प आप करें तो अपनी रुचि, अपनेको प्रिय लगनेवाले कार्य या पदार्थकी बात एक दम छोड़ दें। यह देखना आवश्यक है कि गुरुदेव या संतको किसमें प्रसन्नता होगी। उनके लिए क्या आवश्यक, हितकर तथा सुखदायी होगा।

गुरुदेव साक्षात् भगवानके स्वरूप हैं, यह आपका तर्क ठीक है। लेकिन भगवानको प्रत्यक्ष आपकी सेवा-पूजा नहीं लेनी पड़ती। भगवानकी मूर्ति जिस धातुकी है, वह धातु आपकी पूजा सहनेमें समर्थ है। आप शिवलिंग अथवा शालिग्रामका लक्षाभिषेक कर सकते हैं ; किन्तु गुरुदेवकी यह जो प्रत्यक्ष मूर्ति आपके सामने है, उसकी धातु आपके ये अभिषेक सहन नहीं

कर सकती। अतएव गुरु-सेवा, गुरु-पूजाके अवसरपर आपको गुरु-मूर्ति (गुरु देह) की धातुका भी ध्यान रखना चाहिए। अन्ततः भगवानके कागज-पर बने चित्रका अभिषेक तो आप नहीं करते।

सच्ची बात यह है कि सेवा तभी सेवा होती है, जब उसमें सेव्यकी सुख-सुविधाका ध्यान रहता है। अपनी प्रसन्नता, अपनी रुचि, अपने लिए पुण्य, अपने ग्रह-दोषकी शान्तिके लक्ष्यसे किये गए कार्य सेवा तो किसी प्रकार कहे ही नहीं जा सकते। ये सब कार्य स्वार्थ ही माने जायँगे।

सर्वोत्तम-सर्वोत्कृष्ट-सर्वोपरि सेवा गुरुदेवकी है अपने अहंको गुरु-चरणों-में सर्वथा समर्पित करके अपनेको गुरुदेवकी इच्छाका यन्त्र बना देना। सर्वात्मभावसे सम्यक समर्पणसे उच्च एवं श्रेष्ठ दूसरी कोई सेवा नहीं हैं।

—:×:—

क्या स्त्री गुरु बना सकती है ?

मूल प्रश्न यह है कि स्त्रीको पारमार्थिक साधनका अधिकार है या नहीं ? क्योंकि यदि स्त्रीको पारमार्थिक साधनका अधिकार आप मानते हैं यह भी आपको मानना होगा कि उसे मार्गदर्शककी आवश्यकता है और कोई विरले पति ही इस विषयमें पत्नीके मार्ग-दर्शक बनाने योग्य मिलेंगे।

'पतिदेव गुरु स्त्रीणां' स्त्रियोंका गुरु उनका पति ही है—यह वाक्य मेरे ध्यानमें है ; किन्तु यह माहात्म्य वाक्य है। इसे विधि-वाक्य माननेका कोई कारण नहीं जान पड़ता। धर्म-विमुख, आचार भ्रष्ट, अनीश्वरवादी पतिकी बात छोड़ भी दें, तब भी संसारासक्त, इन्द्रिय-भोग-परायण पति अपनी पत्नीका गुरु बनकर उसे कौनसा सन्मार्ग दिखला सकता है ?

कामकी सन्तुष्टि, सन्तानका पालन, गृहकी व्यवस्था और आजकल तो इससे भी आगे बढ़कर कुछ कमा लानेकी आशा भी पति अपनी पत्नीसे करने लगे हैं। जिन्हें धर्मके विषयमें, साधनके विषयमें, आत्मा-परमात्माके विषयमें स्वयं कुछ नहीं पता है और पता लगानेकी चिन्ता भी नहीं है, उन्हें गुरु बनानेका उद्देश्य ? 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।'

पति-पत्नीका सम्बन्ध दैहिक सम्बन्ध है। हिन्दू-शास्त्र जीवमें मनुष्य, पशु, पक्षी अथवा स्त्री-पुरुषका भेद नहीं मानते। यह भी नियम नहीं कि पुरुष मर कर पुरुष ही होगा और स्त्री मर कर स्त्री ही बनेगी। अतएव कोई बात कहनेसे पहले आप यह सोचलें कि कहीं दुर्भाग्यसे अगला जन्म आपका स्त्री-रूपमें हो तो क्या वह सव व्यवस्था आप अपने लिए स्वीकार करेंगे, जो स्त्रियोंके लिए आप आज देनेको उद्यत हैं।

'अनेक जन्म संसिद्धिः ततो याति परां गतिम्।' (गी० ६-४५)

इसके साथ गीताका यह वाक्य भी सम्मुख रहता है—

'पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।' (गी० ६-४४)

अब मान लीजिये कि एक अच्छा साधक इस जन्ममें किसी कारण स्त्रीमें आसक्त चित्तसे देह त्याग करता है। जैसे मृगमें आसक्त-चित्त राजा भरत मृग हुए, जैसे स्त्रीमें आसक्त-चित्त पुरञ्जनका जन्म स्त्रीमें हुआ, यह साधक भी कहीं नारी देहके रूपमें ही जन्म लेगा। गीताकी वाणीके अनुसार इस स्त्रीका चित्त पूर्वजन्मके साधनकी ओर ही खिंचेगा। वह उसी साधनमें सरलतासे लगेगी और उसी साधनकी वह अधिकारिणी है। अब वह किसी योग्य गुरुसे उस साधनकी दीक्षा न ले तो क्या करे ?

स्त्री देह जीवके अनन्त जीवनमें-से एक जीवनका देह है। वह कोई नित्य देह नहीं है। अतएव नित्य-जीवनके अभ्युत्थानका विचार करते समय इस एक देहको इतनी महत्ता क्यों मिलनी चाहिए कि उसके जन्म-जन्मान्तरके साधन-श्रमकी उपेक्षा कर दी जाय ?

स्त्रीके लिए पति भक्ति ही साधन है। यह बात कहते समय यह बात ही ध्यानमें रहती है कि वह स्त्री है। वह जीव भी है और पिछले जन्ममें वह पुरुष भी रही हो सकती है—यह बात विस्मृत कर दी जाती है।

स्त्रीके लिए पति-सेवा, पति-प्रेम बहुत सरल एवं स्वाभाविक है। लेकिन अनेक अवस्थाओंमें वह बहुत कठिन भी होता है, यदि दोनोंकी रुचियोंमें वहुत भिन्नता हो। पति-प्रेम सरल हो तो पति-भक्ति दूसरे साधनोंसे सरल होती है। इसीलिए प्रधान रूपसे स्त्रीका साधन पति-भक्ति बतलाया गया है ; किन्तु यही एकमात्र साधन है, ऐसी तो कोई बात नहीं है।

साधकमें साधनके प्रति निष्ठा आवश्य है और निष्ठाओंकी शास्त्रोंमें अपार महिमा है। उदाहरणके लिए प्रसाद निष्ठाकी बात ले लीजिये।

भगवत्प्रसादमें पदार्थ बुद्धि करना दोष है । उसे किसने बनाया, किसने छुआ, उसमें क्या-क्या पड़ा आदि विचार करना अपराध है। उसे प्राप्त होते ही मुखमें लेना चाहिए। यह सब विधि किसके लिए है ? सबके लिए निश्चय यह नहीं है। जो आचारनिष्ठ हैं, वे बिना स्नान किये किसी अस्पृश्य व्यक्तिसे स्पष्ट अथवा किसी अविहित द्रव्यसे युक्त प्रसाद कभी ग्रहण नहीं करेंगे ; क्योंकि उनकी निष्ठा आचारमें है, अतः आचार सबसे पहिले, सर्वाधिक महत्त्व देने योग्य है उनके सामने। लेकिन जो उपासना निष्ठ, प्रसाद निष्ठ हैं, उनके लिए प्रसाद पदार्थ ही नहीं। वह तो दिव्य है । अतः उसके विषयमें कोई दोष विचार उनके लिए अपराध है।

यहाँ यह उदाहरण यह बतानेके लिए आया है कि अनेक साधनोंमें-से पति-भक्ति भी एक साधन है । वही एकमात्र साधन नहीं है । जिस नारीकी पातिव्रत निष्ठा है, उसके लिए पति ही गुरु है और पति ही आराध्य है। वह मृत्युके उपरान्त भी उसी पतिकी पति रूपमें पानेकी कामना करती है। अपनी निष्ठा और आसक्तिके कारण उसे जन्म-जन्ममें नारी देह मिलता है अथवा वह पतिके साथ ही भगवद्धाम जाती है।

लेकिन सभी नारियाँ पतिको परमात्मा मान लें, यह न शास्त्र कहता और न सम्भव है। जिसे प्रत्यक्ष विषय लम्पट, असदाचारी, निष्ठुर, लोलुप, स्वार्थी कोई देख रहा है, उसे वह सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, परम कारुणिक मान ले—यह कैसे सम्भव है ? शास्त्र असम्भवका आग्रह नहीं करता। बहुत उदाहरण हैं भगवद्भक्ता नारियोंके स्त्री भगवानकी भक्ति कर सकती हैं, देवताओंकी आराधना कर सकती हैं और पतिके मना करनेपर, विरोध करनेपर भी ऐसा कर सकती हैं, इसके आदेश हैं तथा उदाहरण हैं।

अब स्त्रीकी निष्ठा भगवद्भक्तिमें है, ज्ञानमें है अथवा योगमें है, उस-पर आप बलपूर्वक पतिनिष्ठाके नियमोंको लादनेका प्रयत्न क्यों करते हैं ? भक्ति, ज्ञान, योगादिके साधनके लिए जैसे पुरुषको गुरुकी आवश्यकता है, स्त्रीको भी है ही।

पतिनिष्ठा न हो तो स्त्री पतिव्रता अथवा पवित्र नहीं रहती, ऐसी कोई बात नहीं है। धनमें, गहनोंमें, घरमें, प्रशंसामें, पत्रमें, मायकेके लोगोंमें, इस प्रकार संसारकी अनेक बातोंमें बहुत अधिक मोह होनेपर भी यदि स्त्रीका पातिव्रत नष्ट नहीं होता, तो भगवानकी भक्ति अथवा गुरुदेवके प्रति श्रद्धा रखनेसे ही वह कैसे नष्ट हो सकता है ?

पातिव्रतका अर्थ है शारीरिक पवित्रता तथा मनसे पतिभाव-भोक्ता-बुद्धिसे अन्य पुरुषका चिन्तन न करना। नारी शारीरिक पवित्रताकी रक्षा करे और वह रक्षित रहना चाहिए—इस विषयमें दो मत हो नहीं सकते। भगवानका पतिबुद्धिसे भी नारी चिन्तन करे तो उसका इस लोकका पातिव्रत भङ्ग नहीं होता, यह शास्त्र एवं सन्तोंका मत है; क्योंकि भगवान तो पतिकी भी आत्मा तथा सर्वस्व-रूप हैं। गोपियोंने, मीराबाईने तथा अन्य भी अनेक भगवद्भक्ताओंने उनका इस रूपमें चिन्तन किया, उन्हें पाया और वे लोकवन्दिता हुयीं।

भगवान व्यक्ति नहीं हैं। भगवानके अतिरिक्त किसी अन्य सांसारिक पुरुषका पतिभावसे चिन्तन स्वपतिको छोड़कर कोई नारी करेगी तो वह पतिता ही मानी जायगी। वह साधिका हो नहीं सकती।

यावत्यर्णानि मन्त्राणि स्त्री-शूद्रादिभ्यो दीयते।
तावत्यब्द सहस्राणि नरके वसति ध्रुवम्।

पाराशरस्मृतिके नामसे यह श्लोक निबन्ध ग्रन्थोंमें आता है, अतः इसे 'सिद्धान्त' तथा 'सन्मार्ग' में विद्वानोंने स्त्री-दीक्षाके विरुद्ध उद्धृत किया है। छपी हुई पराशरस्मृतिकी प्रतियोंमें यह नहीं मिलता; किन्तु स्वयं निबन्ध ग्रन्थ भी स्मृतिके समान ही प्रामाणिक माने जाते हैं। उनमें कोई वचन किसी शास्त्रका उद्धृत है तो विद्वानोंका मत है कि भले वह वर्तमान प्रतियोंमें न हो, निबन्धकारके समयमें उपलब्ध प्रामाणिक प्रतिमें अवश्य था। अतः वह प्रामाणिक वचन ही मानना चाहिए।

अब उपरोक्त वचनमें स्त्री-शूद्रादिको मन्त्र-दीक्षाका जो स्पष्ट निषेध है, उसकी सङ्गति क्या है? क्योंकि परम्परा तथा अन्य बातें तो स्त्री-दीक्षाके पक्षमें हैं। यहाँ यह बात भूलने योग्य नहीं है कि वेदमें स्त्री, शूद्र तथा अन्त्यज, म्लेच्छादिका अधिकार हिन्दू शास्त्र नहीं मानते और मूल संहिताके वचन मन्त्र ही कहलाते हैं। अतएव स्मृतिका उपरोक्त वचन केवल वैदिक मन्त्रकी दीक्षा स्त्री-शूद्रादिको न देनेका विधान करता हैं, ऐसा मानना चाहिए। वैदिक-मन्त्र गायत्री आदिकी दीक्षा स्त्री-शूद्रादिको देनेमें बहुत दोष है, यह स्मृति वचनका तात्पर्य है।

वेद मन्त्रोंसे भिन्न पुराण तथा तन्त्रके जो मन्त्र हैं, उनकी दीक्षा तथा भगवन्नाम मन्त्रोंकी दीक्षा स्त्री शूद्रादिको दी जा सकती है। इस

विषयमें परम्परा-प्रमाण तो है ही । वैष्णव परम्परामें मीरा, सहजो आदिके समान अनेक स्त्री सन्त हुयी हैं । उन्होंने गुरु बनाए थे और दीक्षा प्राप्त की थी ।

गोस्वामी तुलसीदास जी शास्त्रीय मर्यादाके कट्टर समर्थक हैं । वे किञ्चित भी मर्यादाका भङ्ग पसन्द नहीं करते थे और उनका श्रीरामचरित-मानस शास्त्र ही है । उसी रामचरितमानसमें भगवान मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम शवरीजीको उपदेश करते हुए कहते हैं—

मन्त्र जाप मम दृढ़ विश्वासा ।
पंचम भजन सो वेद प्रकासा ।।

यह नवधा भक्तिमें पञ्चमभक्तिके केवल वर्णन ही नहीं है । यह भक्ति शवरी जी में है, इसे श्रीरघुनाथजीने ही स्वीकार किया है—

नव महँ एकउ जिन्हके होई ।
नारि-पुरुष सचराचर कोई ।।
सो अतिसय प्रिय भामिनि मोरे ।
सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे ।।

'नव महं एकउ' अर्थात् यह पञ्चम-भक्ति मन्त्र जप भी 'नारि-पुरुष सचराचर' के अधिकारकी है, यह बात भी यहाँ कह दी गयी है । इसी प्रकार श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें जव महाराजाधिराज श्रीराघवेन्द्र प्रजाको उपदेश करने लगे हैं, तव भी 'मन्त्र-जाप' को उन्होंने सवके लिए भक्ति वतलाया है ।

तन्त्रशास्त्र तो और भी चार पद आगे हैं । तन्त्रोंमें दीक्षा-प्रसङ्गमें यह वात स्पष्ट रूपसे कही गयी है कि स्त्री-गुरुसे प्राप्त मन्त्र अधिक प्रभाव-शाली होता है और शीघ्र फल देता है । लेकिन दीक्षा तो वही देगा, जो स्वयं किसीसे दीक्षा प्राप्त कर चुका हो ।

मन्त्र-जपके आदेशका अर्थ गुरु वनाना नहीं होता, यह तर्क आप करें तो इसे कुतर्क ही माना जायगा ; क्योंकि सर्वत्र ही शास्त्रोंमें सुनकर या पढ़ कर मन्त्रका जप निष्फल कहा गया है । जपके लिए दीक्षाको अनिवार्य आवश्यकता वताया गया है ।

'गुरुकी अनिवार्यता, तथा 'दीक्षाकी आवश्यकता' शीर्षक निबन्धोंमें जो बातें कही गयी हैं, उन्हें यहाँ फिर दुहराना आवश्यक नहीं है। पारमार्थिक साधनका अधिकार स्त्रीको भी उतना ही है, जितना पुरुषको। अतः स्त्रीके लिए भी गुरु बनानेकी आवश्यकता है और वह ऐसा करे, इसमें कोई शास्त्र-वाक्य बाधक नहीं है।

—×—

दीक्षाकी आवश्यकता

सामान्य जीवन और साधक जीवनमें बहुत बड़ा मौलिक भेद है। सामान्य जीवनमें मनुष्य, घर, परिवार, सम्पत्ति, सुयश आदिकी प्राप्तिके लिए सचिन्त रहता है और प्रयत्न करता है। अपने द्वेषियों-शत्रुओंके प्रयत्न विफल करने तथा उन्हें नीचा दीखानेमें लगा रहता है। लेकिन साधक जीवन इसके सर्वथा विपरीत है। राग और द्वेष दोनोंको ही उसे निर्मल करना है। अपनी दुर्बलताके कारण वह भले राग-द्वेषके वशमें वार-बार हो जाता हो; किन्तु उसका लक्ष्य इनको समाप्त करना है। उसे घर, परिवार, सम्पत्ति, सुयश आदिकी आसक्ति छोड़नी है। अपने द्वेषी तथा शत्रुके प्रयत्नको अपने ही प्रारब्धका भोग समझ कर सबमें भगवद्बुद्धि करनी है।

जीवनके इन दो मौलिक भेदोंको समझ कर ही शास्त्र तथा आचार्योंने साधककी दीक्षाको उसका नवीन जन्म माना है। अनेक दीक्षाओंमें तो साधकका नामकरण भी किया जाता है।

'जिसे साधन नहीं करना है, उसे केवल पुण्य-भावनासे गुरु मन्त्र लेना चाहिए'—यह बात तथ्य रहित है। केवल दीक्षामात्रसे पवित्रता आनेकी भावना तो भावनामात्र है। जैसे उपनयन संस्कार तथा गायत्री मंत्रकी दीक्षासे वालकको द्विजत्व प्राप्त होता है; किन्तु वह सन्ध्या न करे तो फिर वह शास्त्र विधिके अनुसार द्विज न रहकर 'व्रात्य' होजाता है। द्विजत्वसे वह च्युत होजाता है। दीक्षाका अर्थ ही है साधकके संस्कारी जीवनका प्रारम्भ।

विना दीक्षाके ही साधन किया जाय तो क्या हानि ? यह प्रश्न आज प्रायः पूछा जाता है और एक वड़ा वर्ग गुरु-दीक्षाके प्रतिकूल है। यह बात अपवाद रूपसे स्वीकार की जानी चाहिए कि व्यक्तिमें यदि साधनके प्रति प्रबल रुचि है, चित्तमें स्थिर निष्ठा है और आराध्यमें दृढ़ श्रद्धा है तो उसका काम दीक्षाके विना भी चल सकता है और उसे भगवत्प्राप्ति होनेमें कोई वाधा नहीं है।

एक वार जव मैं गीताप्रेस [गोरखपुरसे] वृन्दावन गया तो दो-तीन व्यक्तियोंने संदेश दिया कि अमुक महापुरुष मुझसे मिलना चाहते हैं। मैं एक सज्जनको साथ लेकर एक दिन तीसरे पहर उनके दर्शन करने पहुँच गया और मुझे उन तक पहुँचनेमें कोई वाधा नहीं पड़ी।

'तुमने किस सम्प्रदायमें दीक्षा ली है ? कुशल प्रश्नके अनन्तर उन्होंने मुझसे पूछा—'विना किसी सम्प्रदायमें दीक्षित हुए तो भगवत्प्राप्ति हो नहीं सकती।'

उन्होंने लगातार कुछ श्लोक सुनाए और तव मुझे कहना पड़ा—'आप जानते ही हैं कि ग्रन्थोंमें अर्थवाद भी है और उसे सुनानेसे कोई लाभ इस समय नहीं है।' मैंने कुछ नाम लिए महापुरुषोंके जिन्हें विना किसी सम्प्रदायमें सम्मिलित हुए ही भगवत्प्राप्ति हुई थी।

'जिस द्वारसे महापुरुष भगवद्धाम गये, वह द्वार बन्द तो हुआ नहीं है ? भगवान अमुक सम्प्रदायमें दीक्षितपर ही कृपा करेंगे, ऐसा भी कोई वन्धन उन करुणामयने स्वीकार नहीं किया है ?' मेरी बात उन महात्माको वहुत वुरी लगी। वे रुष्ट भी हुए।

'जो यह आग्रह करता है कि उसके सम्प्रदायका आश्रय लिए बिना जीवका उद्धार नहीं हो सकता, वह और कुछ भी हो, वैदिक परम्पराका अनुयायी नहीं है। उसका यह मत अवैदिक है। वैदिक परम्पराकी मूल विशेपता ही यह है कि उसमें अधिकार भेदसे साधन भेदको प्रधान मान्यता दी गयी है—'यह कहकर मैं वहांसे उठ आया था।

अधिकार भेदसे साधन भेद स्वीकार किया है केवल हिन्दूधर्मने। इसीलिए हिन्दूधर्म ही एक मात्र धर्म है। दूसरे धर्म तो मात्र सम्प्रदाय हैं। उनमें केवल एक साधन परम्परा है और उसी परम्परापर सबको चलानेका वे आग्रह करते हैं।

लेकिन मैं पहले ही कह चुका हूं कि केवल अपवाद रूप कुछ व्यक्ति हो सकते हें, जिन्हें दीक्षाकी आवश्यकता न हो। साधनके लिए पहली आवश्यकता है अपने अधिकारको—अन्तःकरणकी सच्ची रुचिको जाननेकी। यह रुचि-जन्म जन्मान्तरके संस्कारोंसे बनी तथा पुष्ट हुई है और बहुधा इसे समझनेमें भ्रम होता है। तात्कालिक संग-अध्ययन आदिसे बनी रुचियोंके परिवर्तनशील बाहुल्यमें स्थायी रुचि कौनसी है, यह निर्णय कोई बिरले ही स्वयं कर सकते हैं। बिना इसके निर्णयके अधिकारको बिना पहचाने जो साधन प्रारम्भ होगा, उसमें स्थायित्व नहीं आवेगा।

साधन चुन लेनेके पश्चात् उसमें निष्ठाकी आवश्यकता होती है। इष्ट-निष्ठा और मन्त्रनिष्ठाके बिना किसीको सफलता नहीं मिलती। ग्रन्थोंमें अनेक मन्त्रों, अनेक तीर्थों, अनेक भगवद् रूपोंकी अपार महिमा है। जिसकी महिमाका वर्णन जहाँ है, उसके सम्मुख दूसरोंको वहाँ अल्प बतलाया गया है। साधक भी अपने साधन, अपने इष्ट, अपने मन्त्र, अपने तीर्थका ही भूरि-भूरि गुणगान करते हैं—यह सब पढ़ और सुनकर जिसने स्वयं अपने साधनका चुनाव किया है, उसके चित्तमें चंचलताका आना स्वाभाविक है। अपने साधनमें अल्पताका भाव भी आ सकता है और तव वह मन्त्र, इष्ट आदि परिवर्तन करनेके लोभको रोक नहीं पाता। इस प्रकार उसमें निष्ठा-का अभाव होनेसे उसकी प्रगति नहीं होती।

सकाम अनुष्ठानमें तो स्वयं ग्रन्थसे चुना मन्त्र प्रायः फल नहीं दिया करता। उसमें तो विधि है कि किसी उस मन्त्रके साधकसे मन्त्र दीक्षा लेकर तब साधनका प्रारम्भ किया जाय।

निष्काम साधनमें भी जो मन्त्र या साधन साधक स्वयं चुनता है, उसे उस साधनके साथ कोई शक्ति नहीं प्राप्त होती। उसे अपने ही श्रम एवं श्रद्धासे अपने मन्त्र अथवा साधनको सप्राण करना है।

गुरु यदि ठीक गुरु है और दीक्षा देनेमें समर्थ है तो वह सबसे वड़ा काम यह करता है कि साधकके अधिकारको पहचान कर उसके अनुरूप साधन तथा मन्त्र देता है। जिस साधना—जिस मन्त्रादिके साधनमें साधक अपने पिछले जन्मोंमें लगा रहा है, गुरु उसीमें उसे लगाता है।

गुरुके द्वारा प्राप्त साधन तथा मन्त्रमें अपने साधन चुननेकी स्वतन्त्रता न होनेसे निष्ठाके विपर्ययको अवकाश नहीं रहता। दूसरे साधनोंका माहात्म्य

पढ़-सुनकर भी साधक अपने ही साधनमें लगा रहता है, क्योंकि उसे स्वयं तो साधन चुनना नहीं है।

दीक्षाके समय प्राप्त मन्त्र सप्राण होता है। गुरुदेवने भी अपनी गुरु-परम्परासे उसे पाया है। अतः अनेकानेक लोगोंके साधनानुष्ठानकी शक्ति उसमें निहित है। मन्त्र-दीक्षाके साथ साधकके अन्तःकरणमें साधनाके जीवनका बीज पड़ जाता है।

यदि साधकका अन्तःकरण अनुकूल क्षेत्र है अर्थात् उसके अधिकारका ठीक निर्णय हुआ है तो दीक्षाके साथ ही वह यह अनुभव करने लगता है कि साधनमें उसकी सहज प्रवृत्ति होगयी है। क्योंकि उत्कण्ठा, वैराग्यादि कुछ उसके पास न होते तो वह दीक्षा ही क्यों लेता।

यह तो हो सकता है पीछे आसक्ति, द्वेष, मोह, लोभ, क्रोध या यशेच्छादिके संस्कारोंका प्रावल्य होजाय और चित्तभूमिमें अंकुरित साधना वीज उनसे आच्छन्न होजाय। उसके प्रभावका कोई अनुभव न हो; किन्तु दीक्षाकालमें अवश्य ही उसका अनुभव कुछ समय तक होना चाहिए, यदि दीक्षा सचमुच हुई है। केवल दीक्षाका दिखावा ही नहीं हुआ है।

खेतमें पड़ा वीज नष्ट हो जाता है, यदि उसे उपजाऊ भूमि न मिले, खाद न मिले और समयपर जल न मिले अथवा बहुत अधिक जल मिले। वीज अंकुरित होकर भी नष्ट हो जा सकता है और वृक्ष बननेके बाद भी उसके नाशकी सम्भावना रहती है। लेकिन भगवानने कहा है—

'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मातिवर्तते।'

(गीता—६-४४)

भगवानसे कैसे मिला जा सकता है, यह बात जाननेकी इच्छा भी जिस चित्तमें एक वार उदय होगयी, वह वैदिक कर्मकाण्डके अर्थात् स्वर्ग नरकादिके वन्धनसे अवश्य मुक्त होकर रहता है।

साधनाका वीज जो दीक्षाके द्वारा हृदयमें बोया गया, वह बढ़े तथा फलवान हो, इसके लिए तो साधककी तत्परता आवश्यक है। यदि वह सावधान वैराग्यवान न हुआ, साधनमें लगा न रहा तो वह बीजांकुर आसक्ति तथा काम-क्रोधादिके झाड़-झंखाड़से दब जायगा; किन्तु वह अमर बेलका अंकुर। अतएव वह सूख जाय, सड़ जाय, नष्ट कर दिया जाय किन्हीं

विकारोंके द्वारा, यह सम्भव नहीं है। वह दबा पड़ा रहेगा, जैसे हिमक्षेत्रमें हिमपातके समय अंकुर बर्फके नीचे दबे पड़े रहते हैं। अनुकूल अवसर थोड़ा भी मिला तो वह बढ़ने लगेगा और इस प्रकार एक या अनेक जन्ममें वह मोक्ष अथवा भगवत्प्राप्ति रूप सुफल अवश्य प्रदान करेगा।

इस प्रकार दीक्षाके द्वारा साधक साधनाकी प्रथम सीढ़ीपर पैर रखता है। वह अपने अधिकारके अनुरूप साधन प्राप्त करता है, निष्ठाकी दृढ़ता प्राप्त करता है, परम्परागत साधनाकी शक्तिसे सम्पन्न बीज पाता है और एक दयामय, शक्तिशाली संरक्षक भी पाता है अपने लिए।

लेकिन यह सब कुछ वह नहीं पाता, यदि उसे गुरु उचित नहीं मिला है, यह बात मुझे यहाँ पुनः कह देनी है। कोई भी व्यक्ति किसीके कानमें कोई शब्द कह दे तो वह उसका गुरु नहीं होजाता। भले वह शब्द किसी बालकने 'कू' या 'ठू' कहा हो या किसी बूढ़े पण्डित अथवा साधु-वेशधारीने कोई मन्त्र। परम्परागत साधनाकी शक्ति अथवा अपने दीर्घ-कालीन साधनसे जिसे सप्राण नहीं किया गया है, जो बिना अधिकारको समझे दिया गया है, ऐसा मन्त्रदान दीक्षा नहीं है। जो दीक्षा ही नहीं है, उससे कोई लाभ होगा या उसकी कोई उपयोगिता होगी, यह बात कोई भी कैसे भी सोच सकता है?

गुरु उचित हों तो साधकके लिए दीक्षाकी आवश्यकता है और खूब अधिक है। इससे उसे जो सहायता, संरक्षण, शक्ति एवं प्रेरणा प्राप्त होती है, वह उसे दूसरे मार्गसे नहीं प्राप्त हो सकती।

दीक्षाके भेद

आजकल जो मन्त्र-दीक्षा प्राय: प्रचलित है, उसमें अधिकांश निर्बीज-दीक्षा है और इसे दीक्षा कहा नहीं जा सकता, यह बात 'दीक्षाकी आवश्यकता' शीर्षक निवन्धमें विस्तारसे बतायी गयी है।

दीक्षा निर्वीज दो कारणोंसे होती है। एक तो दीक्षा देनेवालेके अपने साधनकी शक्ति अथवा परम्परागत साधनकी शक्ति मन्त्रमें नहीं है। दीक्षा देनेवालेको वह मन्त्र न तो साधक-सिद्ध परम्परासे प्राप्त है और न उसने स्वयं दीर्घकाल तक साधन करके उसे सप्राण किया है। कहींसे सुना या पढ़ा और वहुत हुआ तो स्वयंको प्राप्त निर्वीज मन्त्र उसने दे दिया है।

दूसरा कारण निर्वीज होनेका है अनधिकारीको दीक्षा देना। जिस खेतमें धान होने योग्य पानी भरा है, उसमें कोई वाजरा डालेगा तो बीजका सड़ जाना निश्चित है। वहां वह उग या पनप नहीं सकता। इसी प्रकार जो जिस मन्त्र या साधनका अधिकारी नहीं है, उसे वह मन्त्र या साधन दिया गया तो उस क्षेत्रमें वह निर्वीज ही बना रहेगा।

सम्प्रदाय-परम्परा देशमें खूब है और इन सम्प्रदायोंके जो साधन या मन्त्र है, उनमें परम्परागत साधनकी शक्ति भी है। भले प्रत्यक्ष गुरुने स्वत: साधन न किया हो, उन्हें गुरु-परम्परासे शक्तिवान-सप्राण मन्त्र प्राप्त है; किन्तु अधिकार भेद विना जाने सवको स्व-सम्प्रदाय वृद्धि या शिष्यसंख्या वृद्धिके लिए दीक्षा देते जानेका फल यह हुआ है कि अनधिकारीके पास पहुँच कर वह मन्त्र निर्वीज हो गया और अव वह व्यक्ति जिसे दीक्षा देता है, उसको निर्वीज मन्त्र ही प्राप्त होता है। इस प्रकार यह दीक्षा दीक्षा ही नहीं रह जाती।

उपनयनके समय दी गयी दीक्षा द्विजत्वकी—वैदिक कर्मके अधिकार-प्राप्तिकी दीक्षा है। इस गायत्री-दीक्षाके विना द्विज होनेपर भी कई वैदिक कर्मको करनेका अधिकारी नहीं बनता।

किसी विशेष अनुष्ठानके लिए उस मन्त्र या देवताके आराधकसे दीक्षा लेनी पड़ती है। यह दीक्षा अनुष्ठान-कालके लिए है और वह दीक्षा

देनेवाला गुरु भी अनुष्ठान कालमें ही गुरुपदपर रहता है। जैसे यज्ञमें जिस आचार्यका वरण किया गया, यज्ञका अवभृथ स्नान हो जानेके अनन्तर वे आचार्य नहीं रहते। यही बात मन्त्रानुष्ठान विशेषके लिए भी है।

एक दीक्षा कुलगुरुसे प्राप्त करनेकी प्रथा है। कुलमें जो सम्प्रदाय या देवाराधन है, दीक्षाके पश्चात् बालक उसका अधिकारी हो गया, ऐसी मान्यता है; किन्तु अधिकांश यही देखा जाता है कि यह दीक्षा भी निर्बीज होती है और इसके होने न होनेका दीक्षा-दीक्षा ग्रहण करनेवालेके जीवन-पर कुछ बाह्य चिह्न धारणके अतिरिक्त कोई प्रभाव नहीं पड़ता। दीक्षा न लेनेके समान ही यह दीक्षा भी है।

यज्ञ अनुष्ठानादिकी अल्पकालिक दीक्षाको छोड़ दें और निर्बीज दीक्षाको भी छोड़ दें तो जो सचमुच साधकको साधन-जीवन प्रदान करती है, ऐसी दीक्षाके कई भेद हैं। ऐसी दीक्षा जिसे प्राप्त होती है, वह दीक्षा देनेवाले गुरुका पुत्र है—ठीक वैसा पुत्र जैसा वह अपने पिताका है। क्योंकि शास्त्र बिन्दु-सन्तति और नाद-सन्तति—दोनोंको सन्तति मानता है। जैसे पिताके वीर्यके कारण स्थूल देह पाकर हमारे भौतिक जीवनका प्रारम्भ हुआ है, वैसे ही गुरुके शब्द या मन्त्रने हमारे साधना-जीवनको जन्म दिया है। अतएव शिष्य गुरुकी नाद-सन्तान है, यदि दीक्षा सजीव सप्राण हुई है।

इस सप्राण दीक्षामें सबसे अधिक प्रचलित शब्द या मन्त्र-दीक्षा है। शास्त्रीय विधिके अनुसार गुरु शिष्यको उसके दाहिने कानमें मन्त्र सुनाता है। मन्त्र-श्रवण मात्रसे शिष्यमें एक दिव्यत्वकी अनुभूति तत्काल होती है और साधनमें उसकी रुचि जाग उठती है।

बिना मन्त्रके भी दीक्षा होती है और वह भी सप्राण दीक्षा है। इसके भी दो भेद हैं—स्पर्श दीक्षा और शक्तिपात। यह स्पष्ट है कि इस प्रकारकी दीक्षा देना उसीके वशकी बात है, जिसने स्वयं योगका साधन करके उसमें उच्च स्थिति प्राप्त की हो। योगमार्गमें ही इस दीक्षाकी सम्भावना है।

गुरु केवल स्पर्श करता है शिष्यका—वह शिष्यके मस्तक अथवा हृदयपर हाथ रख देता है। गुरुकी अद्भुत शक्तिसे शिष्यको तत्काल समाधि अवस्था प्राप्त हो जाती है। यह न भी हो तो शिष्यकी कुण्डलिनी जागृति हो जाती है अथवा उसे 'नाद श्रवण' होने लगता है। गुरु यदि गन्ध, रस,

या स्पर्श योगके साधक हुए तो शिष्यमें दिव्य गन्ध, दिव्य रस या दिव्य स्पर्शका अनुभव जागता है।

शक्तिपात भी स्पर्श दीक्षाके समान ही है अथवा स्पर्शदीक्षा शक्तिगत ही है, यह कहना अधिक उपयुक्त है। लेकिन शक्तिपातके लिए स्पर्श अनिवार्य नहीं है। गुरुदेव अपने संकल्प या दृष्टिमात्रसे शिष्यमें वे सब अनुभव जागृत कर दे सकते हैं जो स्पर्श-दीक्षामें ऊपर बताए गये हैं।

स्पर्शमे या दृष्टिसे शक्तिपात दीक्षामें मन्त्र दीक्षा भी दी जा सकती है। गुरुदेव मुखसे तो मन्त्रका उच्चारण नहीं करते; किन्तु शिष्य उस मन्त्रका स्पष्ट उच्चारण अपने भीतर श्रवण करता है। यह मन्त्र दीक्षा हुई उसकी।

तत्वज्ञानके जिज्ञासुके लिए जप, ध्यान आदि अनिवार्य नहीं हैं। तत्त्वज्ञानमें प्रत्यक्ष साधन तो महावाक्यका श्रवण ही है। परम्परा साधन और परोक्ष साधन तो मध्यम कोटिके जिज्ञासुके लिए हैं। यदि जिज्ञासु उत्तम कोटिका है, अर्थात् षट्सम्पत्ति [शम-दमादि] से युक्त और साधन चतुष्टय (विवेक-वैराग्यादि) सम्पन्न है तो उसको उपदेश-दीक्षा ही प्राप्त होगी। गुरुदेव उसे ब्रह्मात्मैक्यका उपदेश करेंगे। इस प्रकार उपदेशके द्वारा जिन्होंने अज्ञानका नाश करके आत्म-ज्ञानका प्रकाश प्रदान किया, वे ही सच्चे गुरु हैं। मन्त्र-दीक्षा देने वाले गुरुसे भी उनका स्थान बहुत उच्च है।

मन्त्र-दीक्षा तथा उपदेश-दीक्षा भी किसी जीवित, पाञ्चभौतिक शरीरधारी मानवसे ही लिया जाय, यह आवश्यक नहीं है। सिद्ध देहधारी महापुरुष भी किसीपर कृपा करके उसे मन्त्र-दान अथवा तत्त्वोपदेश कर सकते हैं। श्रीवल्लभाचार्यजीको विष्णु स्वामीने और श्रीचरणदासजीको शुकदेवजीने मन्त्रोपदेश किया, यह बात तो प्रसिद्ध ही है। इस प्रकारके और भी उदाहरण बहुत हैं।

सिद्धदेहधारी महापुरुष किसीपर कृपा करके उसे दर्शन या उपदेश देना चाहें तो उसे वे प्रत्यक्ष दर्शन देकर उपदेश दे सकते हैं। यह अवश्य है कि उनके दर्शन वही व्यक्ति कर सकता है, जिसे वे दर्शन चाहते हैं। वहीं उपस्थित दूसरे व्यक्ति न उनका दर्शन कर पाते हैं और न उनके शब्द ही सुन पाते हैं।

सिद्ध महापुरुषोंके द्वारा प्रत्यक्ष दर्शन, उपदेश तथा दीक्षाके समान ही एक और अवस्था है, जिसे न प्रत्यक्ष कह सकते और न स्वप्न ही। प्रत्यक्ष इसलिए नहीं कह सकते कि नेत्र खुले नहीं रहते और स्वप्न इसलिए नहीं कि वह पूर्णतः जागृत रहता है और अपने आसपास होने वाले दूसरे सामान्य शब्दों तथा गन्धको वह जागृतके समान सुनता-अनुभव करता रहता है। इस अद्भुत अवस्थामें उसके नेत्र बन्द रहते हैं। पलकें वह चाहते हुए भी खोल नहीं पाता किन्तु खुले नेत्रोंसे देखे, इस प्रकार उन महापुरुषके उसे दर्शन होते रहते हैं और उनके उपदेश उसे पीछे भी ठीक स्मरण रहते हैं।

इस अवस्थाके अतिरिक्त शुद्ध स्वप्नमें भी दीक्षा प्राप्त होती है। कोई महापुरुष स्वप्नमें मन्त्रोपदेश कर जाते हैं या कोई अनुष्ठान बतला जाते हैं। यदि अनुष्ठान बतलाया गया है तो वह केवल अनुष्ठान दीक्षा है; किन्तु यदि मन्त्र या इष्टका निर्देश किया गया है तो वह पूरी गुरु दीक्षा है।

यहाँ यह बात स्पष्ट कर देना है कि यदि स्वप्नसे जागनेपर मन्त्र अथवा निर्देश स्मरण न रहे तो उस स्वप्नकी दीक्षाका कोई महत्त्व नहीं है। लेकिन यदि जागनेपर मन्त्र स्मरण रहता है तो वह ठीक दीक्षा है और ऐसे व्यक्तिके लिए दूसरे किसीसे दीक्षा लेनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। स्वप्नमें जिन्होंने दीक्षा दी, उनका परिचय भले ज्ञात न हो, उनका रूप भी भूल जाय; किन्तु मन्त्र या उपदेश स्मरण रहे तो दीक्षा प्राप्त होनेमें कोई भी त्रुटि या सन्देह माननेका कोई कारण नहीं है।

जिन लोगोंको किन्हीं सिद्धपुरुषने प्रत्यक्ष दर्शन देकर दीक्षा दी है, वे महान सौभाग्यशाली हैं। वे अवश्य अनेक जन्मोंके साधक हैं। उनके भाग्य एवं पुण्यकी कोई क्या कल्पना करेगा ?

जिन्हें नेत्र बन्द रहते किन्तु जागते हुए किन्हीं महापुरुषके दर्शन हुए और उसी दशामें उन्हें मन्त्र अथवा उपदेश प्राप्त हुए, वे भी धन्यभाग्य है। उनके सम्बन्धमें भी यह निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि वे अनेक जन्मोंके साधक हैं और उनके आराध्यकी प्रेरणासे ही उन्हें इस प्रकार महापुरुषके दर्शन तथा उनके द्वारा दीक्षाकी प्राप्ति हुई है।

शास्त्रोंने स्वप्न-दीक्षाको किसी मानव गुरुसे ली गयी जागृत दशाकी दीक्षासे अधिक प्रभाव वाली माना है। मन्त्र-शास्त्रका मत है कि स्वप्नमें प्राप्त मन्त्र सिद्ध मन्त्र होता है। उसमें ऋणी-धनी विचारकी तथा निष्कीलन आदिकी आवश्यकता नहीं होती। वह केवल जपमात्रसे सफलता देने वाला होता है। जब कि सामान्य दीक्षामें प्राप्त मन्त्रके साथ न्यास, निष्कीलन तथा कभी-कभी मृत, मूर्छितादि दोष भी दूर करनेकी आवश्यकता पड़ती है।

जागृत दशाकी सामान्य दीक्षासे स्वप्न दीक्षाका महत्व क्यों अधिक है? यह बात समझने योग्य है। स्वप्नमें केवल दो हेतुसे दीक्षा मिल सकती है। एक तो कोई सिद्ध पुरुष, नित्यगुरु, ऋषि-मुनि या भगवत्पार्षद अथवा स्वयं भगवान ही कृपा करके ऐसा स्वप्न दिखावें। उनके प्रत्यक्ष दर्शनका साधक अधिकारी नहीं था, अतः स्वप्नमें उन्होंने दर्शन देकर दीक्षा दे दी। दूसरे वह स्वप्न साधकके ही संस्कारोंके कारण दिखायी पड़ा हो।

पहिली अवस्थामें तो वह सिद्ध दीक्षा है। उसकी महत्तामें सन्देहका कारण ही नहीं है। दूसरी दशामें भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि जिन संस्कारोंने अन्तर्मनमें स्थान बना लिया था, उनके अनुसार स्वप्न आया। ऐसी दशामें भी यह निर्णय तो हो ही गया कि उस साधकके अन्तर्मनमें उसी मन्त्र या साधनके जन्मान्तरके संस्कार हैं। अतः वही उसीका अधिकारी है। इसलिए उसके लिए वही सर्वश्रेष्ठ सुगम साधन है।

—o—

गुरु कितने प्रकारके

जिनसे भी हमें कुछ ज्ञान प्राप्त होता है, वे गुरु हैं। इस प्रकार न केवल मनुष्य, अपितु पशु-पक्षी और जड़ तक हमारे गुरु हो जाते हैं। दत्तात्रेयने जो चौबीस अपने गुरु गिनाए हैं, उनमें पृथ्वी आदि पंचतत्व हैं और मकड़ी, सर्प, चील जैसे प्राणी भी हैं। ऐसे गुरु सभीके इतने हैं कि उनका स्मरण भी नहीं किया जा सकता। यहाँ मेरा तात्पर्य ऐसे गुरुओंसे नहीं है।

बच्चा यदि द्विजातिका है और उसका यज्ञोपवीत संस्कार किया जाता है तो उसे गायत्री मन्त्रकी दीक्षा देनेवाले प्रथम गुरु प्राप्त होते हैं। बहुधा ये कुलगुरु ही होते हैं। यह दीक्षा पारमार्थिक दीक्षा नहीं है। मैं यहाँ यह नहीं कह रहा हूँ कि गायत्री मंत्रसे पारमार्थिक कल्याण नहीं होता। गायत्री वेद माता हैं और उनके आश्रयसे परमपद दुर्लभ नहीं है; किन्तु उपनयनके समय जो दीक्षा दी जाती है, वह त्रिवर्ग (अर्थ, धर्म तथा काम) के सम्यक् सम्पादनके लिए ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ इन तीन आश्रमोंके निर्वाहकी तैयारीकी प्रारम्भिक दीक्षा है। अतएव उपनयनके समय दीक्षादेनेवाले गुरुका महत्व एवं पूजनीयता त्रिवर्गके क्षेत्रमें है। विशेषतः जब वह ब्रह्मचारी गृहस्थ हो तब उसके यज्ञ, श्राद्ध, पूजनादि कर्मोंमें उन गुरुदेवकी उपयोगिता तथा पूजनीयता है।

उपनयन सभी बालकोंका तो होता नहीं। आजके युगमें तो जिनका होना चाहिए, उनका भी कदाचित् ही होता है। उपनयनके पश्चात् दूसरे गुरु मिलते हैं विद्या देनेवाले। प्राचीन समयमें ब्रह्मचारी गुरुकुल जाते थे और वहाँ एक गुरुसे शिक्षा पाते थे। अब स्कूल हैं, कालेज हैं, विश्वविद्यालय हैं। इनके अतिरिक्त भी घरपर जाकर पढ़ाने वाले लोग हैं। विद्या-प्राप्तिकी जो वर्तमान प्रणाली है, उसमें शिक्षक केवल 'मास्टर' रह गया है। उसे गुरुका गौरव प्राप्त नहीं है। केवल संस्कृत पाठशालाओंके विद्यार्थी कुछ अंशोंमें शिक्षकको गुरुका सम्मान देते हैं।

विद्या देने वाले गुरु या गुरुओंका प्रयोजन जीवनमें अध्ययन काल तक ही रहता है। उनकी सेवा-सम्मान उसी काल तक या फिर कभी जब

वे अकस्मात मिल जायँ। जीवनमें उनके गुरु पदका स्थायी स्थान नहीं है। इसी प्रकार कविता, संगीत तथा दूसरी कलाओंके गुरुओंकी स्थिति है।

गुरु शब्दसे सामान्यतः आध्यात्मिक साधनमें माग-दर्शकका बोध होता है औरगुरुत्वका सच्ची प्रतिष्ठा भी यही है। वर्तमान जीवन तो अनन्त जीवनकी दृष्टिसे क्षणिक है। जो नित्य जीवन है, उसका जो प्रकाश कर सके, जो ज्ञानका प्रकाश देकर अन्धकारको दूर करे, वह गुरु।

लेकिन इस क्षेत्रमें भी कई प्रकारके गुरु होते हैं। जैसे उपनयनके समयका गायत्री दीक्षा देने वाला गुरु होता है, वेसे ही जब किसीको कोई अनुष्ठान विशेष करना होता है, तब उस अनुष्ठानकी भी दीक्षा लेनी पड़ती है। दीक्षा वही देसकता है, जो अनुष्ठानके द्वारा जो देवता आराध्य है, उसका नैष्ठिक आराधक हो। जैसे श्रीकृष्णचन्द्रको जब भगवान शंकरकी आराधना करनी थी, तव परमशैव आचार्य उपमन्युसे उन्होंने शिव-मन्त्रकी दीक्षा ली। इस प्रकार एक व्यक्ति अनेक दीक्षा अनेक अवसरों पर ग्रहण कर सकता है दीक्षाके समय प्राप्त-मन्त्र, वेश (माला-तिलक आदि) का सेवन उसके लिए केवल उतने दिनों आवश्यक है, जितने दिन वह उस विशेष अनुष्ठानको करता हो। अनुष्ठान दीक्षा देनेवाले गुरुका स्थान भी अनुष्ठानके दिनोंमें ही गुरुके रुपमें है। पीछे वे सामान्यतः सम्मान्य रह जाते हैं आज कल अनुष्ठान दीक्षा देने तथा ग्रहण करनेकी प्रथाका लोप हो जानेसे प्रायः अनुष्ठानोंमें कम ही सफलता मिलती है।

अब जो भगवत्प्राप्ति या ज्ञानके पथके पथिक हैं, उनकी दीक्षाकी वात आती है। वास्तविक गुरु यही हैं और ऐसी दीक्षा-शिक्षा देनेवाले गुरु सदा ही परम पूजनीय हैं इस श्रेणीमें भी कई प्रकारके गुरु हैं। १. सम्प्रदाय गुरु २. मन्त्र-गुरु ३. शिक्षा-गुरु।

एक परिवार किसी सम्प्रदायमें दीक्षित होता चला आ रहा है, अतः परिवारके सभी नवीन सदस्योंको सम्प्रदायके किसी महत्पुरूषसे मन्त्र-दीक्षा दिला दी जाती है। आगे चलकर उस सम्प्रदायके अनुसार ही उस व्यक्ति-का कर्तव्य जप-पूजन-ध्यान वन जाता है। इस प्रकारकी दीक्षाकी उप-योगिताका विचार यहाँ नहीं करना है। यह विचार तो दीक्षाके प्रकार-पर विचार करते समय करेंगे।

मन्त्र-गुरु वे नहीं हैं, जो सम्प्रदायकी दीक्षा देते हैं, ऐसा मैं नहीं कहता। वे भी मन्त्र-गुरु या दीक्षा- गुरुही हैं। लेकिन मन्त्र-गुरुका एक भिन्न प्रकार भी है व्यक्ति जब समझदार हो जाता है, उसमें वैराग्य तथा संसारके आवागमनसे छुटकारा पानेकी इच्छा जागती है, तव वह अपने लिए मार्ग-दर्शककी खोज करता है। वह अपनी रूचि तथा श्रद्धाके अनुसार किसी महापुरूषसे दीक्षा ग्रहण करता है। यह भी हो सकता है कि पहले उसे पारिवारिक सम्प्रदाय-दीक्षा मिली हो। यह इस समयकी दीक्षा भी किसी न किसी साधन सम्प्रदायकी ही होगी, यह निश्चित प्राय है। लेकिन ऐसा मुमुक्षु इस दीक्षा देनेवाले गुरुको ही अपना गुरु मानता है और और उसके जीवनमें गुरुका ठीक स्थान वस्तुतः इसी गुरुका है भी ।

दीक्षा-गुरुसे भिन्न एक शिक्षा-गुरु भी होते हैं और उनका स्थान जीवनमें दीक्षा-गुरुसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है शिक्षा -गुरु ही वास्तविक-गुरु हैं, ऐसा भी कहा जा सकता है। शिक्षा-गुरुकी प्राप्ति दीक्षा-गुरुके पहिले भी हो सकती और पीछे भी। अनेक बार शिक्षा-गुरु शिष्यको किन्हीं कारणोंसे दीक्षा नहीं देते। शिष्य उनकी आज्ञासे अथवा स्वयं किसी अन्यसे दीक्षा ग्रहण कर लेता है; किन्तु अपना सच्चा गुरु उन्हींको मानता है।

श्रीउड़िया बाबाजी महाराज किसीको दीक्षा नहीं देते थे। उनकी आज्ञासे कई लोगोंने दूसरे महात्माओंसे दीक्षा ग्रहण की; किन्तु वे लोग श्रीउड़िया वावाजीको ही अपना गुरुदेव मानते हैं।

श्री चैतन्य महाप्रभुको सन्यास तो 'भारती' जीसे लेना पड़ा; किन्तु वे भी श्रीईश्वरीजीको ही अपना गुरु मानते रहे।

ऐसा भी होता है कि दीक्षा ग्रहणके पश्चात् साधकको अपने लिए पर्याप्त प्रकाश दीक्षा देनेवाले गुरुसे प्राप्त नहीं होता। गुरुदेव देशान्तरमें भी जा सकते हैं और देहत्याग भी सम्भव है। कारण कुछ हो, जव वह उधरसे मार्ग-दर्शन एवं शक्ति नहीं पाता तो किन्हीं अन्य महात्माकी शरण ग्रहण करता है। उन्हें अपना शिक्षा-गुरु बनाता है ।

इस प्रकार सम्प्रदाय-गुरु, दीक्षा-गुरु तथा शिक्षा-गुरु चाहे जो हों, उनके भी तीन प्रकार होते हैं— १.सामान्य,२,साधक,३.सिद्ध ।

सामान्य कोटिके गुरु विद्वान हो सकते हैं, कथा-प्रवचन निपुण हो सकने हैं अथवा किसी महापुरूषकी कुल परम्परामें उत्पन्न हो सकते हैं।

जैसे अनेक गोस्वामी वंशज तथा पंजाबके 'सोडी' लोग हैं। यह वर्ग शिष्य संख्या वृद्धि और शिष्यसे प्राप्त मान-दक्षिणापर दृष्टि रखता है। दुर्भाग्यवश आज देशमें इसी श्रेणीके गुरुओंकी बहुलता है इस वर्गके जीवनमें न वैराग्य देखा जाता, न त्याग-वैराग्य, भक्ति-ज्ञान, भगवत्प्रेमकी लच्छेदार बातें करके भी जीवनमें मान तथा भोगके ही आराधक ऐसे गुरु देखे जाते हैं।

दूसरी कोटि ऐसे गुरुकी है, जो साधक हैं। वे स्वयं साधनमें लगे हैं और चाहते हैं कि शिष्य भी साधनमें लगे। ऐसे लोग बहुत कम शिष्य बनाते हैं किसीको शिष्य बनानेमें बहुत जाँच करते हैं और शिष्यपर कड़ाई भी भरपूर रखते हैं। यह तो हो सकता है कि शिष्यका अधिकार न समझ पानेके कारण ये उसे अपने साधनमें लगानेका ही घोर आग्रह करें; किन्तु इस प्रकारके गुरुके आश्रयमें टिक जानेवालेका कल्याण निश्चत् रहता है।

तीसरे हैं महापुरूष। ऐसे गुरु कदाचित् तथा भगवानकी महती कृपासे प्राप्त होते हैं। ये ज्ञानी, भगवत्प्राप्त या सिद्ध योगी हो सकते हैं। इनकी जीवनचर्या कैसी हो, कुछ कहा नहीं जा सकता; क्योंकि सब विधि निषेधसे वे परे हो चुके हैं। ऐसे गुरु शिष्यसे साधन करा सकते हैं, सेवा करा सकते है या कुछ न कराके उसे अपने संकल्पसे ही पूर्ण कर दे सकते हैं। सच बात यह कि वे शिष्यके अधिकारको ठीक-ठीक समझते हैं। जिस प्रकार जो अधिकारी है उसे वैसे ही कार्य अथवा साधनमें लगाते हैं। शिष्यका कल्याण अपनेको इनके हाथमें यन्त्रकी भाँति छोड़ देनेमें ही है।

यहाँ तक सर्वसाधारणको प्राप्त होनेवाले गुरुओंकी चर्चा हुई। लेकिन समाजमें कुछ असाधारण श्रद्धा, लगन एवं निष्ठावाले लोग भी समय-समय-पर होते हैं वे लोग साधारण ढंगसे ऊपर वर्णित मानव शरीरधारी ही कोई गुरु प्राप्त करें, यह आवश्यक नहीं है। उनके लिए कुछ असाधारण गुरु भी होते हैं—१. मानस-गुरु २. शास्त्रगुरु ३. दिव्यगुरु।

एकलव्यने द्रोणाचार्यको मनसे गुरु मान लिया और उनकी मिट्टीकी मूर्ति बनाकर धनुर्विद्याके अभ्यासमें लग गया। द्रोणाचार्यके सर्वश्रेष्ठ शिष्य अर्जुनकी अपेक्षा भी एकलव्यका धनुर्विद्या ज्ञान बढ़ गया था। इस प्रकार जीवित लोगोंमें या ऋषि-महर्षि अथवा देवताओंमें किसीको अपना गुरु

मनसे मानकर जो दृढ़ श्रद्धालु साधनमें लग जायगा, उसके लिए उसका मनसे माना हुआ गुरु ही प्रकाश देने वाला हो जायगा ।

गीता भगवानकी वाणी है, रामायण श्रीरघुनाथजीका और भागवत श्रीकृष्णचन्द्रका शब्दमय स्वरूप है इसी प्रकार सभी ग्रन्थोंकी अपार महिमा है । किसी शास्त्रीय ग्रन्थको कोई अपना गुरु मान कर उसकी आराधना तथा शिक्षाका अनुसरण करने लगेगा तो उसे कभी साधनपथमें अन्धकार नहीं मिलेगा । शास्त्र स्वयं उसका मार्ग-दर्शक बन जायगा ।

भगवान शंकर, देवी उमा, भगवती लक्ष्मी, श्रीसंकर्षण, सनकादि कुमार, देवर्षिनारद, भगवान व्यास यथा दूसरे अनेक भगवानके रूप तथा ऋषि-महर्षि हैं जो नित्यगुरु माने गये हैं इनमें कोई भी किसी अधिकारी पुरूषको तथा दीक्षा देकर कृतार्थ कर सकते हैं जैसे श्रीवल्लाभाचार्यको विश्वमंगलजीने दीक्षा दी । श्रीचरणदासजीको शुकदेवजीने शिष्य बनानेकी कृपा की । जिनपर ऐसे नित्यगुरु कृपा करे वे तो महापुरूष हैं ही । उन्हें कोई भौतिक देहधारी भला क्या दीक्षा देगा ।

आप जिस सम्प्रदायमें दीक्षित हैं, उसके प्रवर्तक आचार्य आपके परम गुरु हैं साथ ही आपके सम्प्रदायकी परम्परा जहाँसे प्रारम्भ हुई, वे सर्वोपरि शाश्वत गुरु हैं आपके । जैसे श्री रामानुज सम्प्रदायके परम गुरु श्री रामानुजाचार्य और शाश्वत गुरु भगवती लक्ष्मी हें ।

कभी-कभी शाश्वत गुरु सम्प्रदायके मल प्रवर्तकसे भिन्न भी होता है जैसे श्रीनिम्बार्क सम्प्रदायके मूल प्रवर्तक तो भगवान् हंस हैं; किन्तु सम्प्रदाय की शाश्वत गुरु निकुंजस्थ श्री राधाकी अष्टसखियोंमें-से एक हैं ।

———

भावी युगोंके गुरु

किसी एक युगका कोई एक गुरु हो सकता है, यह बात समझमें आने योग्य नहीं है। ऐसा नियम भी नहीं है कि युगावतारोंके समान महापुरुष भी निश्चित समयपर ही प्रकट हों। जीव, विशेषतः मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। अतएव कोई भी मनुष्य किसी भी समय साधन-भजन करके तत्वज्ञान अथवा भगवत्प्राप्ति कर सकता है। साथ ही वह अध्ययन करके शास्त्रज्ञ भी हो सकता है। ऐसी अवस्थामें वह गुरु पदके योग्य हो जाता है। तब भावी युगोंके गुरुओंका पहिलेसे परिचय देना सम्भव कैसे है?

भावी युगोंके गुरुओंका परिचय देना तो सम्भव नहीं है; किन्तु जो सम्भव है, उसीकी चर्चा यहाँ करनी है। गुरु शास्त्रज्ञ और अनुभव सम्पन्न होना चाहिए। अनुभव अर्थात् आत्मज्ञान अथवा भगवत्प्राप्ति तो अपने भजन-साधनपर निर्भर है; किन्तु शास्त्र ज्ञान परम्परासे ही प्राप्त होता है; यह एकान्तके भजन-ध्यान अथवा तपसे नहीं प्राप्त होता।

सृष्टिके प्रारम्भमें भगवान नारायणकी कृपासे अर्थके साथ वाणी अर्थात् वेद मन्त्र तथा उनके अर्थका ज्ञान ब्रह्माजीको प्राप्त होता है। ब्रह्मासे मुख्य ऋषिवृन्द प्राप्त करते हैं। इस प्रकार परम्परा क्रमसे यह शास्त्रज्ञान चलता रहता है।

प्रत्येक मन्वन्तरमें भिन्न-भिन्न सप्तर्षि होते हैं। इन ऋषियोंका मुख्य काम शास्त्रीय ज्ञानकी परम्पराको अपने मन्वन्तरमें बनाए रखना तथा अधिकारियोंको प्रदान करना है। इस प्रकार ये ऋषि अपने मन्वन्तरके परम गुरु होते हैं। भावी मन्वन्तरोंके जो ऋषि होंगे, उनका वर्णन पुराणोंमें हैं। उन उन युगोंके वे परम गुरु हैं, यह माननेमें किसीको कोई बाधा नहीं हो सकती।

एक कल्पमें चौदह मन्वन्तर होते हैं। इस समय श्वेत वाराह कल्पका यह सातवाँ वैवस्वत मन्वन्तर चल रहा है। इसके बाद सात मन्वन्तर और आवेंगे। एक कल्प ब्रह्माका एक दिन होता है। इस एक ब्राह्म दिनमें एक सहस्र बार सतयुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग आते हैं। एक कल्पमें क्योंकि

चौदह मन्वन्तर होते हैं, अतः एक मन्वन्तरमें इकहत्तर चतुर्युगी पड़ती हैं। कुछ काल मन्वन्तरोंका सन्धिकाल होता है।

कल्पके अन्तमें अर्थात् अपने दिनके अन्तमें ब्रह्मा सो जाते हैं। उस समय सृष्टिका प्रलय होजाता है। जितना बड़ा दिन, उतनी ही बड़ी रात्रि। इस प्रकार अपने दिन-रातके हिसाबसे अपने सौ वर्ष ब्रह्मा जीते हैं। ब्रह्माकी मृत्युके साथ महाप्रलय होती है, जिसमें आकाशादि पञ्चभूत भी कारण प्रकृतिमें लय होजाते हैं। इस समय जो ब्रह्मा हैं, उनका द्वितीय परार्ध चल रहा है अर्थात् उनकी आयुके पहिले पचास वर्ष बीत चुके हैं। दूसरे पचास अर्थात् इक्यावनवें वर्षका प्रारम्भ है और उसमें जो दिन चल रहा है, उसका सातवाँ मन्वन्तर है। इसका अर्थ है कि ब्रह्माके वर्तमान दिनका मध्याह्न होने ही वाला है; क्योंकि इस मन्वन्तरका यह अट्ठाइसवाँ कलियुग चल रहा है। लगभग आठ चतुर्युगी और बीतनेपर ब्रह्माका ठीक मध्याह्न होगा।

जैसे अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, वैज्ञानिक भी अनन्त सूर्य मानते हैं और स्वीकार करते हैं कि नीहारिका मंडलके (आकाश गङ्गाके) सभी तारे सूर्य ही हैं; किन्तु यह भी स्वीकार किया जाता है कि हमारे ज्ञानकी गति अपने ब्रह्माण्ड अर्थात् अपने सौर मण्डल तक ही हैं। बहुत अधिक वैज्ञानिक उन्नति होनेपर भी अपने सौर मण्डलके ग्रह नक्षत्रादिका ही हम ठीक-ठीक परिचय जान सकते हैं। इसी प्रकार अपने कल्प—उस दिनका जिस ब्रह्माके दिनमें हम हैं, उसका विवरण ज्ञात करना हमारे साधनकी सीमामें है। अतएव भावी युगोंके ऋषियों—परम गुरुओंका वर्णन भी इसी कल्पका अर्थात् प्रलयसे पूर्व जो सात मन्वन्तर आने वाले हैं, उनका ही देना सम्भव है।

मैं यहाँ एक पूरी सूची दिये देता हूँ। इसमें अबसे वीते हुए ६ मन्वन्तरोंके भी परम-गुरुओं अर्थात् ऋषियोंका नामोल्लेख मात्र ही किया जा सकता है। सबके विशेष परिचय उपलब्ध भी नहीं हैं और जो उपलब्ध हैं, उन्हें देनेका स्थान यहाँ नहीं—

१. **स्वाम्भुव मन्वन्तर**—अङ्गिरा, मरीचि आदि सप्तर्षिगण।

२. **स्वारोचिष मन्वन्तर**—ऊर्जस्तम्भ प्रधान ऋषिगण।

३. **उत्तम मन्वन्तर**—प्रमद आदि वशिष्ठजीके सात पुत्र ऋषि।

४. **तामस मन्वन्तर**—ज्योतिर्धाम प्रमुख ऋषिगण।

५. **रैवत मन्वन्तर**—हिरण्यरोमा, वेदशिरा, ऊर्ध्वबाहु आदि ऋषि गण।

६. **चाक्षुष मन्वन्तर**—हविष्मत् वीरक आदि ऋषि।

७. **वैबस्वत (वर्तमान) मन्वन्तर**—कश्यप, अत्रि, वशिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और भरद्वाज ऋषि।

८. **सावर्णि मन्वन्तर**—गालव, दीप्तिमान, परशुराम, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, शृंगीऋषि, कृष्णद्वैपायन व्यास ऋषि।

९. **दक्षसावर्णि मन्वन्तर**—द्युतिमत् प्रमुख ऋषिगण।

१०. **ब्रह्मसावर्णि मन्वन्तर**—हविष्मत आदि ऋषि।

११. **धर्म सावर्णि मन्वन्तर**—अरुण आदि ऋषि।

१२. **रुद्र सावर्णि मन्वन्तर**—तपोमूर्ति, तपस्वी, आग्नीध्र, आदि ऋषि।

१३. **देव सावर्णि मन्वन्तर**—निर्मोक, तत्त्वदर्शी आदि ऋषि।

१४. **इन्द्र सावर्णि मन्वन्वर**—अग्नि, वाहु, शुचि, मागध आदि ऋषि।

इस प्रकार प्रत्येक मन्वन्तरका एक सप्तर्षि मण्डल होता है। ये सप्तर्षि तपस्याके द्वारा शुद्ध चित्त होकर अपने मन्वन्तरमें श्रुतिका अर्थ दर्शन करते हैं और फिर योग्य अधिकारियोंको उनका उपदेश करते हैं। सप्तर्षियोंका दायित्व ही सनातन धर्मकी परम्पराको बनाए रखना है।

इन ऋषियोंके अतिरिक्त प्रत्येक मन्वन्तरमें भगवानका अवतार होता है। ज्ञानके आदि गुरु तो वे परमपुरुष ही हैं। अतः वे स्वयं अवतार धारण करके ज्ञानका उपदेश करते है। जैसे नर-नारायण, कपिल, दत्त, व्यास आदि अवतार भगवानके तप, ज्ञान, योगादिकी परम्पराका यथावत् स्थापन करनेके लिए हुए हैं, वैसे ही आगामी मन्वन्तरोंमें भगवानके अवतार क्रमशः अष्टम मन्वन्तरसे चतुर्दश पर्यन्त इस प्रकार होंगे—सार्वभौम, आयुष्मत्, विष्वक्सेन, धर्मसेतु, स्वधर्मा, उपहर्त्ता और बृहद्भानु।

भगवान्के ये अवतार मर्यादाका स्थापन करते हैं, धर्मकी रक्षा करते हैं और साधन-परम्पराका क्रम चलाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक मन्वन्तरमें ही आध्यात्मिक साधनका सम्प्रदाय प्रवर्तन श्रीभगवान ही करते हैं।

भावी युगोंके इन महर्षियों तथा अवतारोंका वर्णन करनेका एक प्रयोजन है शास्त्रका। यह प्रयोजन आश्वासन देनेके लिए है। कलिके अन्तमें धर्मका, शास्त्रका, साधन परम्पराका लोप हो जाता है। यह क्रम आज प्रारम्भ होगया है और परम्पराएँ टूटने लगी हैं। धर्ममें, धर्मशास्त्रमें, साधनमें ही नहीं, ईश्वर और परलोग तकमें मनुष्य विश्वास खोता जा रहा है। यह अवस्था तब है जब कि ४,३२,००० वर्षकी आयु वाले कलि-युगका यह ५०६३ सम्वत् बीत रहा है।

ऐसी अवस्थामें जन सामान्यकी घबराहट धर्मके सम्बन्धमें, शास्त्र-निष्ठकी शास्त्रके सम्बन्धमें और साधककी अपने सम्बन्धमें होती है; क्योंकि यदि इसी जीवनमें साधक मुक्त नहीं होजाता तो उसे फिर जन्म लेना होगा और जो साधन-पथमें चल रहा है, वह तो आगे ही बढ़ेगा। देहके अन्तसे साधना रुकती नहीं। लेकिन साधक जब पुनः मनुष्य जन्म पावेगा तो उसे ठीक गुरु मिलेंगे या नहीं ? सत्संग प्राप्त होगा या नहीं ? इन प्रश्नोंके उत्तर-पर ही उसकी साधनमें प्रगति निर्भर करती है। अतएव साधकका भविष्यके सम्बन्धमें चिन्तित होना स्वाभाविक है।

'अनेक जन्म संसिद्धः ततो याति परां गतिम्'

—गीता ६-४५

एक जन्ममें—इसी जन्ममें साधक अपने लक्ष्यको प्राप्त कर लेगा, यह आवश्यक नहीं है। यदि ऐसी बात होती तो भगवान गीतामें 'अनेक जन्म'की बात ही क्यों कहते।

लेकिन साधकको भय या चिन्ता करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। वह जब भी, जिस किसी मन्वन्तरमें, जिस युगमें भी कर्मानुसार जन्म लेगा, उसे उचित संग और ठीक मार्ग-दर्शक प्राप्त हो जायगा। क्योंकि कलिमें लुप्त हुए धर्म, शास्त्र मर्यादाकी स्थापनाके लिए प्रत्येक युगमें ऋषिगण प्रकट होते हैं और साधन-परम्पराका प्रवर्तन करनेके लिए स्वयं भगवान युग-युगमें अवतार धारण करते हैं।

जगतकी आध्यात्मिक व्यवस्थाके सम्बन्धमें सूफी संतों तथा योगियों-की एक मान्यता है और वह केवल मान्यता नहीं है, एक तथ्य है। वह यह कि जैसे प्रशासनके देशव्यापी उच्चतर अधिकारी राष्ट्रपति हैं, उनके अन्त-

र्गत राज्यपाल, और राज्यपालोंके अन्तर्गत कमिश्नर। इस प्रकार एक छोटेसे गाँव तक प्रशासनके अधिकारियोंकी परम्परा है, वैसे ही जगतके स्वामीकी ओरसे भी व्यवस्था है।

छोटेसे छोटे स्थानमें भी कोई आध्यात्मिक व्यवस्थापक होता है और वह अपनेसे ऊपरके अधिकारी द्वारा नियन्त्रित होता है। आधिदैविक एवं मानसिक रूपसे सत्वगुणको कालानुसार सुव्यवस्थित रखना, साधकोंकी रक्षा तथा उनको अज्ञात रूपसे मानसिक सहायता देते रहना, इस प्रकारके अधिकारियोंका कर्तव्य होता है। यह क्रम पूरे विश्व संगठन जैसा है और सर्वोच्च अधिकारीको ये योगी 'शाहेवक्त' कहते हैं।

पागल, अर्ध पागल अथवा उपेक्षणीय साधुओं-भिखारियोंसे लेकर व्यापारी, पंडित आदि अनेक रूपोंमें ये लोग रहते हैं। इनकी रहन-सहन तथा बोलचालसे इनका पता लगाना कठिन ही रहता है। ये अपनेको प्रगट नहीं करते।

यह वर्ग प्राय: गुरु नहीं बनता; किन्तु यह भी कोई नियम नहीं है। कभी-कभी ये साधनका उपदेश या दीक्षा भी देते हैं। ये सिद्ध कोटिके लोग हैं। इनमें चमत्कारकी शक्ति थोड़ी-बहुत रहती है। एकका देहपात होनेपर उसके स्थानपर दूसरा तुरन्त आ जाता है।

साधकको संरक्षण एवं मानसिक रूपसे प्रेरणा देना तो इनका कर्तव्य ही है। उचित अधिकारीको उसके उपयुक्त गुरु तक पहुँचनेमें भी ये सहायता अथवा प्रेरणा देते हैं।

इस प्रकार भवदीय व्यवस्था ऐसी है कि कभी किसी युगमें कोई भी जिज्ञासु, कोई भी साधक अपने लिए उपयुक्त गुरु, उचित सहायककी प्राप्तिसे वञ्चित नहीं रहता।

॥

हिमालयके योगी गुरु

गुरु-भूमि कलाप ग्रामकी चर्चा पृथक निबन्धमें कर चुका हूँ। लेकिन हिमालय दिव्य भूमि है और उसमें कलाप ग्रामके अतिरिक्त अन्यत्र योग-सिद्ध-पुरुष न हों, ऐसी बात नहीं है। हिन्दू धर्मकी भाँति ही बौद्धधर्ममें भी साधना बहुत प्रधान है और बौद्ध योगियोंकी परम्परा भी अत्यन्त प्राचीन है। जैसे हिमालयमें कलापग्राम महर्षियों, सिद्धोंका क्षेत्र है, वैसे ही हिमालयमें ही योग सिद्ध बौद्ध गुरुओंका निवास भी माना जाता है। अतएव उनके सम्बन्धमें भी कुछ जानकारी चाहिए :

बुद्ध धर्मके तीन मुख्य भेद अथवा सम्प्रदाय है—१, हीनयान, २. महायान और ३. वज्रयान। इसमें से हीनयान विचार-प्रधान रहा और उसका लोपप्राय होगया है। महायान उपासना तथा योग प्रधान है और वज्रयान तान्त्रिकोंका सम्प्रदाय है। वज्रयान तथा हिन्दू तन्त्रोंमें बहुत एकात्मकता है। वामतन्त्रकी रीतियाँ उसमें भी बहुत कुछ प्रचलित हैं।

तिब्बतमें महायान तथा कहीं-कहीं वज्रयानका भी प्रभाव है। मुख्यतः प्रधान साधन तपस्या मानी जाती है और तपकी भी एक पद्धति 'गुहा प्रवेश' बहुत प्रचलित है। दलाईलामाने भारत आकर बताया था कि तिब्बतकी राजधानी ल्हासाके समीप पर्वतोंमें चार हजारसे कुछ अधिक गुफाएँ हैं। इन गुफाओंमें भीतर जल रहता है—कुण्डके भीतर। जब किसी 'लामा' [बौद्धपुरोहित] को तपस्या करनेकी इच्छा होती है, तब वह दलाई-लामासे आज्ञा और आशीर्वाद प्राप्त करके गुफामें प्रवेश करता है। प्रवेशसे पूर्व वह बतला देते हैं कि कितने दिनोंके लिए वह गुफा-प्रवेश कर रहा है। एक वर्षसे लेकर चालीस वर्ष तकके लिए गुफा-प्रवेश करनेवाले इस समय थे। गुफाका द्वार पत्थरोंसे भली प्रकार बन्द कर दिया जाता है। सीमेन्ट भी करनेकी प्रथा अब है केवल एक छोटा सा छिद्र द्वारमें रखा जाता है उस छिद्रसे गुफामें रहनेवाले तपस्वीके लिए प्रतिदिन-निश्चित समयपर एक बार लगभग तीन पाव दूध नली द्वारा पहुंचाया जाता है।

जिस समय दलाईलामा तिब्बतसे चले थे, उस समय लगभग दो हजार गुफाएं वन्द थीं अर्थात् उनमें तपस्वी थे उनको नियमित रूपसे दूध मिलता रहे, इसकी पक्की व्यवस्था थी। अब यह कहना कठिन है कि कम्युनिस्ट चीनके अधिकारियोंने उन गुफाओंके तपस्वियोंके साथ कैसा व्यवहार किया उन्हें दूध मिलते रहने व्यवस्था अब भी है या नहीं ?

यह तो तिब्बतके तपस्वी साधकोंकी बात हुई। दलाईलामा तिब्बतके धर्मगुरु हैं और उनकी भी कुछ चर्चा आवश्यक है। बौद्धमतावलम्बी विश्वास करते हैं कि दलाईलामा बुद्ध भगवानके अवतार हैं स्मरण रखना चाहिए कि जगद्गुरु शंकराचार्य या जगद्गुरु रामानुजाचार्यके समान ही यह दलाई-लामा शब्द भी पदका नाम है, व्यक्तिका नाम नहीं है और इस पदपर जो बालक आता है, उसका दूसरा व्यक्तिगत नाम रखा भी नहीं जाता। तिब्बतीय बौद्ध ग्रन्थोंमें यह बताया गया है कि दलाईलामाके शरीरमें कितने लक्षण होने चाहिए। भगवान बुद्धके शारीरिक लक्षणोंकी सूची है। जैसे आजानुबाहु, कपोलपल्लीके नीचे तक पहुँचने वाले कान आदि। जब एक दलाईलामाका देहावसान होता है, ऐसी मान्यता है। अतएव दलाईलामा-के शरीर छोड़ते ही पूर्व तिब्बत, चीन तथा मंगोलियामें यह खोज प्रारम्भ कर दी जाती है कि जिस समय दलाईलामाने देह छोड़ा, उस दिन कहां-कहाँ कितने बालकोंका जन्म हुआ। उन बालकोंमें वे शारीरिक लक्षण ढूँढ़े जाते हैं ग्रन्थमें वर्णित हैं। सबके सब लक्षण तो मिलते नहीं; जिस बालकमें सबसे अधिक लक्षण मिलते हैं, वह दलाईलामा घोषित कर दिया जाता है। उसको तिब्बतके मठमें लाया जाता है और विशेष रीतिसे उसका पालन-पोषण होता है।

दलाईलामा भी मानते हैं कि हिमालयमें बहुतसे सिद्ध योगी रहते हैं और वे कभी किसी श्रेष्ठ अधिकारी पुरुषको दर्शन भी देते हैं। थियोसोफि-कल सोसायटीकी ही अन्तरंग समिति है 'फ्री मिशन' यह एक गुप्त संस्था है। इसके भीतर क्या होता है इसका कोई सदस्य बतलाता नहीं। विश्वके मुख्यतम लोग इसके सदस्योंमें कहे जाते हैं यह संस्था अपने सदस्योंको छपे पत्र द्वारा यह सूचना नियमित रुपसे भेजती रहती है कि तिब्बतकी अमुक घाटीमें इस पूर्णिमाके दिन अमुक तारीखको रात्रिमें ठीक इस समय [घण्टे, मिनट, सेकेण्ड भी बताए जाते हैं] भगवान अमिताभ बुद्ध अपने तेजोमय देहसे पधारेंगे और साधकोंको विशेष शक्ति प्रदान करेंगे। उस

समय अपने यहाँ निर्दिष्ट स्थानकी ओर मुख करके सदस्यको ध्यान करने बैठना चाहिए और।भगवान बुद्ध द्वारा भेजी शक्तिको ग्रहण करनेका मानसिक प्रयत्न करना चाहिए ।

एक योरोपीय यात्रीने एक पुस्तक ही तिब्बतके अदृश्य योगियोंपर लिखी है सम्भव है, आपने पालब्रिन्टनकी पुस्तक 'तिब्बतके योगी' देखी हो । यह पुस्तक अंग्रेजीमें है । इसके अतिरिक्त भी दो व्यक्तियोंने लगभग वैसे ही वर्णन किये हैं । इस समय मेरे सम्मुख पुस्तक नहीं है, अतः जो कुछ स्मरण है, उसीका थोड़ा सा परिचय आपको दे रहा हूँ । इससे केवल कुतूहलकी निवृत्ति ही होना शक्य है । क्योंकि हिमालयमें जाकर इन योगियों तथा उनके स्थानको ढूँढ़ना सम्भव नहीं है । वे स्वयं किसीको अधिकारी समझकर दर्शन दें तो उनका दर्शन सम्भव होता है ।

एक योरोपीय यात्रीने लिखा है, कि वह हिमालयकी यात्रा करते हुए मार्गमें भटक गया और लगाकि अब उसे वहीं हिम-समाधि लेनी पड़ेगी ऐसे विकट अवसरपर एक व्यक्ति उसके पास आया । वह व्यक्ति कहाँ किधरसे आगया था, कुछ पता नहीं लगा । वह था भी कंकाल मात्र । चमड़ा-हड्डी छोड़कर उसमें मांसका नाम नहीं जान पड़ता था । उसके न सिरपर केश थे, न मुखमंडलपर भौंहोंके रोम हो । उसने पूरे शरीरपर कुछ लेप लगा रखा था; इसलिए उसके शरीरसे एक विचित्र गन्ध निकलती थी ।

इस आगन्तुकको अंग्रेजी नही आती थी । कोई भाषा आती भी थी या नहीं, पता नहीं, । क्योंकि वह अन्त तक मौन रहा । लेकिन यात्रीने जब कुछ जानना चाहा, उसने या तो उत्तर दिया अथवा शान्त रहने को कहा । यह अद्भुत व्यक्ति यात्रीको अपने पीछे आनेका संकेत करके एक ओर चल पड़ा । यात्रीके लिए उसका अनुगमन करनेके अतिरिक्त कोई मार्ग ही नहीं था । यह व्यक्ति आया तो यात्रीको लगा कि अब कदाचित उसके प्राण बच जायँ । वह उस व्यक्तिके पीछे चल पड़ा ।

यात्रीके लिए उस व्यक्तिका अनुगमन बहुत कठिन था । वह इतनी तेज गतिसे चलता था कि शीघ्र नेत्रोंसे ओझल होगया; किन्तु बीच-बीचमें रुक कर वह यात्रीसे इतनी दूर अवश्य बना रहा कि उसको शरीर भले दिखलायी न पड़े; किन्तु यह आभास यात्रीको रहे कि उसका पथ-प्रदर्शक किधर जा रहा है ।

मार्ग तो था ही नहीं। हिमपर और पत्थरोंपर चढ़ते उतरते, एक दो शिखरोंको पार करते वे एक स्थानपर पहुँचे। वहाँ भारी शिला हटाकर पथ-प्रदर्शकने एक गुफाका द्वार खोला। यात्री उस गुफामें प्रविष्ट होकर जब आगे बढ़ा तो उसे लगा कि शिला रख कर गुफाद्वार बन्द किया गया। गुफामें प्रविष्ट होनेसे पूर्व उस शिलाको इतना भारी थी कि उसे दस बलवान पुरुष भी नहीं हटा सकते थे। यात्री आश्चर्यसे स्तब्ध होगया कि वह शिला उसके अकेले पथ-दर्शकने सरलतासे हटा दी। गुफा बन्द होनेसे यात्रीको भय भी लहुन लगा और अन्धकार भी इतना थि आगे चलनेको मार्ग दिखायी नहीं पड़ता था।

पथ-दर्शकने कहीं अंधेरेमेंसे एक पत्थर उठा लिया और गुफामें लटकते किसी घंटेपर चोटकी। घंटेकी ध्वनि गुफामें गूंज गयी। ध्वनि होते ही गुफाकी भित्तियोंमें स्थान-स्थानपर पत्थरों से ऐसी ज्योति निकलने लगी, जैसे पत्थरके भीतर मोमबत्ती जलरही। यह प्रकाश बढ़ता गया घंटे-की ध्वनिके साथ। पद-प्रदर्शकने तीन चोट घंटेपर की और प्रकाश इतना बढ़ गया कि नेत्रोंमें चकाचोंध होने लगी। वे दोनों उसी प्रकाशमें गुफाके मार्गसे आगे बढ़े।

अब यात्रीने देखा कि गुफामें नीचे कुछ पानी-कीचड़ है। स्थान-स्थानपर कुछ दूरीसे ताँबे जैसी धातुके घंटे लटक रहे हैं। गुफाकी भित्तियों में कुछ अन्य प्रकारके पत्थर जहाँ जड़े हैं, वहाँ-वहाँ उन पत्थरोंकी चमकसे ही यह प्रकाश उत्पन्न हो रहा है। आगे चलनेपर जब प्रकाश मन्द हो, तब पथ-दर्शकने फिर समीपके घंटेपर चोट की। घंटेकी ध्वनि ही पत्थरोंमें चमक उत्पन्न करती और बढ़ाती है, इस बातमें अब यात्रीको कोई सन्देह नही रहा।

गुफा बहुत लम्बी थी। कई घंटे उसमें चलना पड़। गुफाका द्वार किसी हिमालयकी घाटीमें निकला। पथ-दर्शकने संकेतसे दूरपर स्थित एक बौद्ध मठ यात्रीको दिखाया और फिर किधर चला गया, यह यात्रीको कुछ पता नहीं लगा।

उस बौद्धमठमें यात्रीका सत्कार हुआ। उसे पीनेको दूध दिया गया। उस मठके वृद्ध लामाकी जो आयु उसे बतायी गयी, वह अकल्पनीय थी। यात्री खिन्न था अपने पथ-दर्शकके लिए, वह बेचारा पता नहीं कहाँ बर्फसे

ढके प्रदेशमें होगा और रात्रिका प्रारम्भ हो गया था। यात्रीकी चिन्ता जानकर प्रधान लामा हंसे। उन्होंने कहा—'वह तुमसे बहुत पहले आगया। वह इसी मठमें सो रहा है। आज डेढ़ सहस्र वर्षसे वह भूले-भटके आध्यात्मिक जिज्ञासुओंको हिमालयकी इन दुर्गम चोटियोंमें से ढूँढ़कर उनकी जीवन रक्षा तथा उन्हें यहाँ पहुँचानेके कार्यपर नियुक्त है।'

यात्रीने पथ-दर्शकसे मिलकर कृतज्ञता प्रकट करनेकी इच्छा प्रकट की। लामा ने कहा—'इसकी आवश्यकता नही है; किन्तु तुम उससे मिलनेको बहुत उत्सुक हो, अतः मिल लो।'

यात्री एक ऐसे कमरेमें पहुँचाया गया, जो एकदम अंधेरा था। उसमें मशालके प्रकाशमें पत्थरकी चौकीपर उसे एक लगभग आठ फीट लम्बा लकड़ीका बन्द सन्दूक दिखायी पड़ा। लामाने सन्दूकका ढक्कन खोल दिया। यात्रीकी क्या दशा हुई होगी, आप अनुमान कर सकते हैं। उस सन्दूकमें एक मुर्दा था पता नहीं कितने वर्षोंसे मसाला लगाकर सुरक्षित रखा गया शव। लेकिन लम्बाई, रंग,शकल सबकी दृष्टिसे यह वही था, जो यात्रीका पथ दर्शक बना साथ आया था। पथ-दर्शकके पूरे देहमें यही लेप लगा था, यह बात यात्री समझ गया।

रात्रि यात्रीने उसी बौद्ध मठमें बितायी। उसे कितनी अद्भुत बातें ज्ञात हुईं। दूसरे दिन उसे एक मार्ग बता दिया गया। उस मार्गसे वह तिब्बतकी राजधानी ल्हासा दो तीन दिनमें पहुँच गया। ल्हासामें पूछताछ करके और पुनः उसी मार्गसे यात्रा करके भी वह उस रात्रि वाले, बौद्ध मठका कोई पता नहीं पा सका।

गुरु-भूमि-कलाप-ग्राम

पुराणोंमें कलाप-ग्रामकी चर्चा प्रायः आयी है। स्कन्द पुराणमें इसका विस्तृत वर्णन है। आजकल श्रीबद्रीनाथ धामसे आगे 'सतोपथ' जाते समय जो एक बड़ा मैदान पड़ता है, उसे लोग कलाप-ग्रामका स्थान मानते हैं; किन्तु स्कन्दपुराणके वर्णनके अनुसार तो कोई भिन्न ही स्थल प्रतीत होता है।

कलाप ग्राम दिव्य भूमि है। वहाँ पूर्व युगोंके योगी अपने सिद्ध देहसे निवास करते हैं। कलिके अन्तमें ब्राह्मणों एवं क्षत्रियोंके कुल जिनके द्वारा विस्तृत होंगे, वे मूल पुरुष भी कलाप ग्राममें ही तपस्या कर रहे हैं।

महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथजी कविराजके दिवंगत गुरु स्वामी विशुद्धानन्दजी महाराज तथा अन्य भी कुछ अद्भुत प्रतिभा एवं चमत्कार सम्पन्न महापुरुष हिमालयमें एक दिव्य योगियोंकी निवास भूमि प्रायः बताते हैं वे वहाँ किसी असाधारण स्थितिमें पहुँच गये। इन लोगोंके वर्णनोंके अनुसार वहाँ युगोंसे सिद्ध पुरुषोंका समुदाय निवास करता है और कभी-कभी उन लोगोंमें-से कोई भारत भूमिमें अदृश्य या गुप्त रूपमें आ भी जाते हैं।

ऐसे जितने वर्णन मिलते हैं। उनमें उस स्थानके नाम लोगोंने भिन्न-भिन्न बताये हैं; क्योंकि स्थानका नाम उन्होंने स्वयं रख लिया है। लेकिन उनके वर्णन यह सूचित करते हैं कि पुराण-वर्णित कलाप ग्राम ही वह होना चाहिए।

कलापग्रामके ये सिद्ध महापुरुष समय-समयपर अनेक लोगोंको दर्शन देते रहे हैं और मन्त्र तथा उपदेश देकर उन्हें कृतार्थ करते रहे हैं। कलिके अन्तमें जब सतयुगका प्रारम्भ होगा, तब कलाप ग्रामके तपस्वियोंसे ब्राह्मण एवं क्षत्रियोंके कुलका तो विस्तार होगा ही, उनके द्वारा ही वैदिक धर्म तथा साधन परम्पराके सम्प्रदाय भी प्रचलित होंगे।

इस समय भी अनेक सम्प्रदाय ऐसे हैं, जिनके मूल प्रवर्तकको व्यासजी, शुकदेवजी अथवा ऐसे ही किसी दिव्य सिद्ध पुरुषने मन्त्र-दीक्षा दी है। कल्पान्त अमर इन महापुरुषोंके निवासके वैसे तो कई स्थल बताये

गये हैं; किन्तु मुख्य स्थल कलाप ग्राम ही है। अतः कलापग्राम दिव्य गुरुओंकी पावन भूमि है।

स्कन्दपुराणमें कलापग्राम और वहाँ पहुँचनेके उपायका वर्णन माहेश्वर खन्डान्तर्गत कुमारिका खण्डमें है। उसका संक्षिप्त भाव यहाँ दे रहा हूँ—

"केदार क्षेत्रसे आगे सौ योजन तक हिम संयुक्त प्रदेश माना जाता है। उसके अन्तमें सौ योजन विस्तीर्ण कलाप ग्राम है। कलाप ग्रामके पश्चात् सौ योजन तक बालूका समुद्र (मरुस्थल) है ! इस मरुस्थलके पश्चात् भूस्वर्ग (सम्भवतः कुबेरके यक्षोंका प्रदेश) है।"

इस कलाप ग्रामको एक तो सिद्ध जन आकाश मार्गसे जा सकते हैं; दूसरा मार्ग भूमिके भीतरसे है। उस मार्गकी प्राप्ति और उसमें जानेका उपाय भी बताया गया है जो इस प्रकार है—

"अन्न और जलका त्याग करके दक्षिण दिशामें स्थित भगवान कार्तिकेय (सुब्रह्मण्य स्वामी) की आराधना करे। कार्तिकेय स्वामी जब साधकको पाप-रहित हुआ समझ लेते हैं, तब स्वप्नमें दर्शन देकर उसे यात्रा करनेकी अनुमति प्रदान करते हैं।

कार्तिकेयजीके स्थानसे पश्चिम एक बहुत बड़ी गुफा है, जो सात सौ योजन तक गयी है। स्वामिकार्तिककी आज्ञा होनेपर उस गुफामें प्रवेश करे। गुफामें पहिले सूर्यके समान प्रकाशमान मरकत मणिका शिवलिंग मिलेगा। उसके आगे स्वच्छ स्वर्णके समान पीले रंगकी मिट्टी मिलती है। शिवलिंगका पूजन करके वह मिट्टी लेकर स्तम्भतीर्थ (खम्भात) आना चाहिए।

स्तम्भतीर्थमें कुमार कार्तिक तथा वाराही देवीकी आराधना करके मध्यरात्रिमें कुएसे जल निकालकर उस जलमें लायी हुई मिट्टी मिलाकर नेत्रोंमें अञ्जन करना चाहिए। साथ ही वह जल मिली मिट्टी सम्पूर्ण शरीरमें भली प्रकार लगा लेना चाहिए।

अञ्जनके प्रभावसे साठ पद चलनेपर एक बिल दिखायी देगा। उसी बिलमें प्रवेश करके यात्रा करना चाहिए। बिलमें 'करीष' नाम वाले भयंकर कीड़े हैं; किन्तु मृत्तिका लेपके कारण वे काटते नहीं। उस बिलमें अनेक तेजस्वी सिद्धपुरुषोंके दर्शन होंगे। इसी मार्गसे, कलाप-ग्राम पहुँचना होगा।

कलाप-ग्रामके निवासियोंकी आयु चार सहस्र दिव्यवर्ष होती है और वहाँ केवल मूल फलका ही वे आहार करते हैं।

कलाप-ग्रामका जो मार्ग बताया गया है, उसमें अनेक बातें स्पष्ट नहीं हैं। स्वामिकार्तिककी आराधना कहाँ करनी चाहिए और उनके किस स्थानके पश्चिम वह गुफा है, जहाँसे मृत्तिका लाना है ? पुराणमें जहाँ यह वर्णन है, वहाँ मही-सागर-संगमके माहात्म्यका वर्णन चल रहा है। अतएव वहीं दक्षिण दिशामें कोई स्वामिकार्तिकका स्थान है या दक्षिण भारतमें जहाँ स्वामिकार्तिककी उपासना प्रचलित है, वहाँके किसी क्षेत्रमें जाकर आराधना करनेको कहा गया है ? यदि दक्षिण भारतमें जाकर आराधना करनेको कहा गया है तो कहाँ? क्योंकि दक्षिण भारतमें स्वामिकार्तिकके अनेक क्षेत्र हैं और उनमें भी ६ प्रधान क्षेत्र हैं। इन क्षेत्रोंमें किसीमें ऊपर वर्णित गुफा है या नहीं, पता नहीं है।

इन अनिश्चित बातोंके अतिरिक्त एक और बड़ी समस्या यह है कि स्कन्दपुराण सनातन-धर्मावलम्बी जनोंकी मान्यताके अनुसार भगवान व्यासकी आजसे लगभग पाँच सहस्र वर्ष पूर्वकी रचना है। इन पाँच सहस्र वर्षोंमें पृथ्वीपर बड़े-बड़े परिवर्तन हुए हैं। अतः उस समय जो स्वामीकार्तिकका क्षेत्र था, उस क्षेत्रके पश्चिमकी गुफा और स्तम्भतीर्थका वह बिल-मार्ग अब भी है या लुप्त होगया, भूमिमें दब गया ? यह सब जाननेका कमसे कम मेरे पास कोई साधन नहीं है।

केवल यह कहा जा सकता है कि मार्ग भले ही लुप्त हो गया हो; किन्तु कलापग्राम अवश्य होगा; क्योंकि वहाँ तो इस कलियुगके अन्तमें ब्राह्मण क्षत्रिय वंशों तथा उपासना, योग एवं ज्ञानके सम्प्रदायोंके प्रवर्तक महापुरुष रहते हैं और उन्हें युगान्तके पश्चात् कार्यक्षेत्रमें आना है। अतः भगवदीय विधानके अनुसार वह क्षेत्र तो रक्षित ही रहेगा।

आजके युगमें आकाश मार्गसे यात्रा कुछ भी कठिन नहीं है। हवाई जहाज अथवा हेलीकोप्टरसे कहीं भी जाया जा सकता है; किन्तु हिमालयके दुर्गमस्थल अब भी रहस्य बने हैं। हिमालयका उच्चतम भाग वर्षमें बहुत कम समय तक बादल, कुहरे आदिसे खुला रहता है। यही कारण है कि हिम-मानवकी सत्ताको मानकर भी अब तक उसे किसी हवाई जहाजसे देखकर उसका फोटो नहीं लिया जा सकता।

मान लें कि कोई भूला भटका जहाज या हेलीकाप्टर कलापग्राम पहुँच सकता है। तब भी प्रश्न है कि क्या उसके यात्री वहाँ कुछ देख सकेंगे ? क्योंकि युगान्त जीवी महापुरुषोंका शरीर तो सिद्ध देह होता है। जब तक वे स्वयं इच्छा न करें, सामान्य मनुष्य उनके दर्शन नहीं कर सकता। देवर्षि नारद, भगवान व्यास आदि सब लोकोंमें घूमते हैं; किन्तु उनके दर्शन तो उसी बड़भागीको प्राप्त होते हैं, जिसे कृपा करके वे दर्शन देना चाहें। अतः कोई कलापग्राम किसी प्रकार पहुँच भी जाय तो वहाँ उसे एक लम्बे-चौड़े मैदानके अतिरिक्त और कुछ दीख पड़ेगा इसकी आशा नहीं करनी चाहिए। जहाँका मार्ग ही विशेष तप करके निष्पाप हुए बिना और विशेष मृत्तिका अञ्जन लगाए बिना नहीं दीख पड़ता था आजसे पाँच सहस्र वर्ष पहले भी, वहाँके निवासियोंका दर्शन केवल किसी मशीनका सहारा लेकर वहाँ कूद पड़नेसे हो जायगा, इसकी तो कोई भी सम्भावना जान नहीं पड़ती।

स्कन्दपुराणके इसी प्रसंगमें यह वर्णन है कि देवर्षि नारदजी ब्राह्मणोंकी ज्ञान-परीक्षा करनेके लिए पृथ्वीपर घूम रहे थे। वे नगरमें, ग्रामोंमें और तपोवनोंमें जा-जाकर कुछ प्रश्न करते थे। पूरे भारतवर्षमें कहीं किसीने उनके प्रश्नोंका उत्तर नहीं दिया। अन्तमें देवर्षि कलाप-ग्रामके ब्राह्मणोंके एक समुदायमें पहुँचे।

देवर्षि नारदने वेश बदल रखा था। वे पहचाने नहीं जा सकते थे। उन्होंने जब प्रश्न पूछनेकी इच्छा की तो वहाँ उपस्थित सभी ब्राह्मण उत्सुक हो उठे कि उत्तर देनेका अवसर उन्हें मिले; क्योंकि इसी बहाने शत्रुके गूढ़ रहस्योंकी चर्चाका अवसर मिल जायगा, ऐसी आशा थी।

नारदजीने अपने प्रश्न सुना दिये। प्रश्नोंको सुनकर वे विप्र खिन्न होगये। उन्होंने कहा—'इन, सीधे सरल प्रश्नोंका उत्तर तो कोई बालक ही दे देगा। आप यहाँ जिसे सबसे अल्पवयका, अल्पज्ञानी और अयोग्य समझते हों; वही आपके प्रश्नोंका उत्तर देगा।'

देवर्षिने एक बालकको चुना। वह थोड़ी आयुका और सबसे कम तेजस्वी तथा भोला लगता था। बालकका नाम सुतनु था। उसने नारद-जीके सभी प्रश्नोंका भली प्रकार विस्तृत ढङ्गसे उत्तर देकर उन्हें सन्तुष्ट कर दिया और तब नारदजीने अपना परिचय दिया।

देवर्षि नारदको ही जहाँके निवासियोंके अगाध ज्ञान तथा प्रतिभाका अनुमान नहीं हुआ, उन तपोधन ज्ञानमूर्तियोंके तप, तेज, विद्या तथा प्रतिभा-का कोई कैसे अनुमान कर सकता है। उस समय कुछ ब्राह्मणोंको वहाँसे लाकर नारदजीने मही-सागर-संगम (गुजरात)के समीप बसाया था। कहा जाता है कि नागर ब्राह्मण उन्हीं विप्रोंके वंशज हैं।

कलाप-ग्रामकी दिव्य भूमिका त्याग करके भारतकी कर्मभूमिमें आ-जानेके कारण उन ब्राह्मणोंकी आयु भी वैसी दीर्घ नहीं रह गयी थी और उनके वंशज तो सामान्य भारतीय विप्रों जैसे होते थे ही।

पर्वताधिराज हिमालयके अङ्कमें अनेक अज्ञात गुप्त दिव्य स्थल हैं। अनेक युगान्त जीवी सिद्ध देह महातापस वहाँ रहते हैं। ऐसे दिव्य स्थानोंमें सर्व प्रमुख स्थान सिद्ध पुरुषोंके निवासका कलापग्राम है। यह हमारी परम्पराकी गुरु-भूमि है।

हम आप कलाप-ग्राम पहुँच नहीं सकते। यह निश्चय करनेका भी कोई उपाय नहीं कि वह कहां होगा। यह भी पता नहीं कि केदार क्षेत्रसे वह सीधा उत्तर है, उत्तर पूर्व है या उत्तर-पश्चिम है। जो दूरी बतायी गयी है, वह हवाई मार्गकी सीधी दूरी है अथवा पर्वत शिखरोंकी ऊँचाई और उनके टेढ़े-मेढ़े मार्गको ध्यानमें रखकर भूमिपर की दूरी। क्योंकि केदारनाथसे बद्रीनाथकी सीधी (हवाई दूरी) कुल अधिकसे अधिक दस मील है; किन्तु यात्रा-मार्गकी दूरी सैकड़ों मील है। दूरीका वर्णन किस प्रकारका है, यह निश्चित न होनेसे स्थलका निश्चय और अशक्य होगा।

इन सब बातोंके होते हुए भी उस गुरु-भूमिकी उपस्थितिका ज्ञान ही कम महत्वपूर्ण तथा कम आशादायक नहीं है।

—××—

साधन

धर्म और सम्प्रदायका अन्तर

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः ।
यस्याद धारणासंयुक्तं स धर्म इतिकथ्यते ॥

—महाभारत

'धृञ् धारण पोषणयोः' धृञ् धातुका अर्थ है धारण करना तथा पोषण करना । इसी धातुसे धर्म शब्द भी बना है । अतः धर्मका अर्थ है धारण करने वाला—'धार्यत इति धर्मः । यह धारण तथा पोषण करना कहाँ तक ?

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः सः धर्मः'

जिससे इस लोकमें उन्नति हो तथा परलोकमें कल्याण हो वह धर्म कहलाता है । इसका अर्थ हुआ कि लोक तथा परलोक दोनोंको जो धारण करे वह धर्म है ।

'धर्मसे मनुष्य महान है'

अग्निका धर्म है उष्णता । उष्णता ही अग्निके अग्नित्वको धारण करती है । अग्निमें उष्णता न रहे तो वह भस्म होगी, अग्नि नहीं रहेगी । इसी प्रकार मनुष्यमें धर्म न हो तो द्विपाद होकर भी वह पशु या पिशाच भले हो, मनुष्य नहीं कहला सकता । भगवान व्यासने कहा है—

'नहि मनुष्यात् परतरं हि किंचित्'

मनुष्यसे श्रेष्ठ कुछ नहीं है । विश्व कविने इसी स्वरमें स्वर मिलाया—

सर्वोपरि मानुषः, मानुषोपरि नहि'

लेकिन मनुष्य सर्वोपरि क्यों है ? तड़क-भड़क वाले वस्त्र पहिननेके कारण ? ऊँचे महलोंमें रहनेके कारण ? मोटर या हवाई जहाजमें घूमनेके कारण ? अथवा शीघ्रसे शीघ्र, अधिकसे अधिक प्राणियोंके संहारके नवीन-नवीन उपायोंको खोज निकालनेके कारण ?

देखिये मनुष्यकी बुद्धिमत्ताकी डींग मत हाँकिए ! मनुष्यकी बुद्धिने जितना अनर्थ किया है, और कर सकती है, उतना कोई पशु-पक्षी न कर

सका और न कर सकता है। योजनापूर्वक विश्व संहारके शस्त्र पशु नहीं बना सकता। पशु अपने आहारके लिए हिंसा भले करे, पाल-पाल कर पशु-पक्षियोंको पेटमें पहुँचानेकी नृशंसता वह नहीं करता।

अच्छा, इसे भी छोड़िये। जंगलमें केवल कौपीन लगानेवाली, पेड़ों-पर रहनेवाली जो जातियाँ हैं, उन्हें आप मनुष्य मानते हैं, या कुछ और ? हाथी, कुत्ते, घोड़े, कबूतर, चीटियाँ, अनेक वार इतनी सूझ-बूझका काम करते देखे गये है कि अनेक मनुष्योंमें उतनी समझदारी नहीं होती। इसलिए बुद्धिके कारण मनुष्य श्रेष्ठ है, यह बात ठीक नहीं है और न भगवान व्यास अथवा विश्वकविने ही मनुष्य होनेके कारण पक्षपात पूर्वक मनुष्यको श्रेष्ठताका पदक दिया है।

मनुष्य श्रेष्ठ है धर्मके कारण। धर्माधर्म कर्त्तव्याकर्त्तव्यका विचार, मरणके पश्चात् भी जीवकी सत्ताकी मान्यता तथा ईश्वरानुभूतिकी क्षमता केवल मनुष्यमें है। इसीलिए मनुष्य श्रेष्ठ है।

प्रकृतिने ऊर्ध्वस्रोत, तिर्यक्स्रोत तथा अधःस्रोत, तीन प्रकारके प्राणी वनाये हैं। वृक्ष ऊर्ध्वस्रोत है। उनका रस मूलसे ऊपर जाता है इसका अर्थ है कि वे विकासोन्मुख है। पशु-पक्षी प्रभृति तिर्यक स्रोत हैं। उनका शरीर भूमिके समानान्तर प्रायः रहता है। उनका आहार मुखसे तिर्यक टेढ़ा चलता है। मनुष्य अवाक् (अधः) स्रोत प्राणी है। उसका आहार ऊपरसे नीचे जाता है। इसका तात्पर्य है कि प्रकृतिके प्रवाहमें विकासकी अन्तिम सीमापर मनुष्य पहुँच गया। प्रकृतिका चक्र जहाँ तक उठा सकता था, उठा चुका। अव वह स्वतः प्रयत्नसे प्रकृति-प्रवाहसे पार न हो जाय— जन्म-मरणसे मुक्त न होजाय तो अवाक् गतिके द्वारपर पहुँच गया है। यही जीवन इस प्रकृति-प्रवाहसे मुक्त होनेका द्वार है। इसलिए यह सर्वश्रेष्ठ है।

"धर्म सहज सिद्धि है"

मनुष्यके जीवनमें सहज-सिद्ध, सहजस्वभावधर्म है। अधर्म तो मनुष्यकी विकृति है। अधर्मपर निष्ठा रख कर उसका आचरण कोई कर नहीं सकता। हिंसाकी वात छोड़िये; क्योंकि हिंसाका व्रत लेंगे तो फाँसीका तख्ता दो चार दिनमें ही दीखने लगेगा। चोरी भी कारागारमें वन्द करा देगी। लेकिन असत्यके विषयमें ही सोच देखिये। आप सत्य नहीं बोलने

और केवल झूठ बोलनेका व्रत लें तो कितने समय उसका निर्वाह कर सकेंगे। अपना नाम अपने पिताका नाम, स्थान, व्यवसाय तथा प्रत्येक जानकारी आपको मिथ्या बतलानी पड़े तो कितने दिन आप कारागारसे बाहर रह सकेंगे ? समाजमें कितने समय आपका निर्वाह सम्भव होगा ?

असत्यका निर्वाह ही सत्यके सहारे होता है ! धर्मकी आड़ लेकर ही अधर्म जी पाता है। वह स्वयं जीवित रहनेमें भी समर्थ नहीं है। उसका अवलम्बन करने वाला डूबेगा, नष्ट होगा।

धर्म मनुष्यका सहज-स्वभाव है। सत्य बोलनेके लिए, अहिंसा-अस्तेयका पालन करनेके लिए, परोपकारादि धर्मके लिए कोई योजना, कोई बुद्धि पूर्वक चिन्तन नहीं करना पड़ता, यथार्थका पालन करना होता है। धर्मका पालन शक्ति देता है, सत्तावान बनाता है। लोक-परलोकमें उन्नत करता है। जैसे स्वास्थ्यके नियमोंका पालन शरीरके लिए है, वैसे ही संयमका पालन मनके लिए है।

धर्मकी दासतासे मुक्तिकी वात आजके प्रगतिशील लोग बड़े गर्वसे करते हैं; किन्तु इसका अर्थ क्या है ? इसका अर्थ है—मन इन्द्रियोंकी दासताकी स्वीकृति। यह स्वीकृति विनाशकी ओर ले जाती है। संयमकी दासतासे मुक्ति लेकर मनमाना आहार-बिहार करने वाला रोगों तथा मृत्यु-का शिकार बनता है। इसी प्रकार धर्मकी दासतासे मुक्तिका अर्थ मन-इन्द्रियकी दासता है और उसका फल है रोग, शोक, अशान्ति। स्वतन्त्र वह है, जो मन-इन्द्रियका स्वामी है, जो धर्मको अपना मार्गदर्शक बना कर चलता है, क्योंकि जीवन एवं मनुष्यत्वका धारणकर्त्ता धर्म उसका आधार है। स्वस्थ-जावन एवं शान्त-मन उसके स्वत्व हैं।

धर्म एक ही है

मुझे हँसी आती है 'विश्व-धर्म परिषद' या 'विश्व-धर्म सम्मेलन' की बात सुनकर। जैसे मनुष्य एक प्राणी नहीं पशु या पक्षीके समान वर्ग है और उसमें बहुतसे प्राणी हैं कि उनके बहुतसे धर्म होंगे ? 'विश्व धर्म' का क्या अर्थ है ? आप मनुष्य, पशु-पक्षी तथा पदार्थादि सबके प्रतिनिधि एकत्र करके उनके धर्मोकी विवेचना करना चाहते हें ? ऐसा नही तो मनुष्य तो एक प्राणी है। एक प्राणीके दो-चार या दस बीस धर्म हो सकते हैं ?

'मानव-धर्म'—मनुष्यका धर्म और मनुष्य शाश्वत, सनातन है, अतः मनुष्यका धर्म भी शाश्वत, सनातन है। यह सनातन धर्म ही एक मात्र धर्म है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि जो धर्मके दस लक्षण मनुने गिनाए हैं, इनका अपवाद मिला है कहीं आपको ? कोई धर्माचार्य झूठ, चोरी, हत्याको धर्म कहता है ? ऐसा तो नहीं है। तव एक ही उपदेश देने वाले अनेक लोगोंको आप पृथक-पृथक धर्मोंका प्रवर्तक क्यों कहते हैं ? देखिये—मनुष्य-धर्मके अनिवार्य रूपसे ये लक्षण हैं—

१—उसमें सब मनुष्योंको उनकी वर्तमान स्थितिमें ही उनकी रुचि-शक्ति-क्षमताके अनुसार मनुष्य-जीवनके परम लक्ष्य जन्म-मरणसे मुक्त होनेका साधन देनेकी क्षमता होनी चाहिए।

२—जो जहाँ है, वह वहींसे अपने इस लोकमें उन्नति तथा परलोकमें कल्याणका साधन प्राप्त कर सके, ऐसी उसमें शक्ति हो।

सनातन धर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसमें मनुष्यकी रुचि, स्थिति तथा अधिकार-भेदको स्वीकार करके साधन-भेद, आचार-भेदकी व्यवस्था है। मनुष्य सनातन प्राणी है, अतः उसका धर्म भी सनातन सम्प्रदाय है।

सम्प्रदाय

'सम्यक् प्रदीयत इति सम्प्रदायः—गुरु परम्परासे जो सम्यक् रूपसे चला आ रहा है और गुरु जिसमें शिष्यको सम्यक् रूपसे मन्त्र आराध्य, आराधना-पद्धति तथा आचार-पद्धति प्रदान करता है, उसका नाम सम्प्रदाय है।

सम्प्रदायका अर्थ सीधे शब्दोंमें है-धर्मका पथ-विशेष। एक सम्प्रदाय साधकको—अनुयायीको एक पथ प्रदान करता है, जिसपर चल कर वह धर्मके द्वारा निर्दिष्ट लक्ष्य तक पहुँच सके। एक ग्रन्थ—एक उपासना—एक आचार्य-पद्धति जहाँ भी प्रचलित है, जहाँ भी कहा जाता है—कल्याणका यही मार्ग है, वह सम्प्रदाय है।

सम्प्रदाय शब्द न संकीर्णतायुक्त है और न हेय है। यह तो विवेक-हीन लोगोंकी एक लम्बी परम्पराने इस शब्दके प्रति लोकमें अरुचि उत्पन्न कर दी। 'इस साधन एवं मार्गके अतिरिक्त मनुष्यका कल्याण सम्भव नहीं। दूसरे सब मार्ग भ्रान्त, हेय तथा त्याज्य हैं'—अहंकार एवं अविवेकके कारण यह मिथ्या भ्रम, पुष्ट हुआ और उसने इस शब्दके प्रति उपेक्षा उत्पन्न

कर दी। साम्प्रदायिकका अर्थ ही संकीर्ण मनोवृतिका व्यक्ति माना जाने लगा।

हमारा मार्ग सर्वथा ठीक है। हमारा मन्त्र, ग्रन्थ, गुरु, उपासना, आचार त्रुटि रहित है। हमारे लिए यही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। यह निष्ठा आवश्यक है; किन्तु इस निष्ठाके साथ दूसरे मार्गों, मंत्रों, ग्रन्थों, गुरुओं, उपासना एवं आचार-पद्धतियोंसे द्वेष अथवा घृणा नहीं होनी चाहिए। उनके अनुयायी भ्रान्त ही हैं, यह धारणा अज्ञान-मूलक हैं। वे मार्ग उनके लिए ठीक ही होंगे, यह उदारता धार्मिक पुरुषमें अनिवार्य रूपसे अपेक्षित है।

साम्प्रदायिकका ठीक अर्थ है, साधन पथारूढ़। जो धर्मके लक्ष्यको प्राप्त करना चाहता है, उसे कोई न कोई पथ तो अपनाना ही होगा। लक्ष्य तक जाना है तो रास्ता पकड़ कर चलना होगा। यह दूसरी बात है कि आपका रास्ता वहाँसे प्रारम्भ होगा, जहाँ आप खड़े हैं। आपके अधिकारके अनुसार आपका साधन-सम्प्रदाय होना चाहिए, लेकिन सम्प्रदायके बिना तो साधन नहीं है। मार्गके बिना तो लक्ष्य तक गति नहीं है।

धर्म तो सार्वभौम वस्तु है, वह तो भूमि है, जिसपर नाना पथ हैं। सब पथ भूमिपर हैं अतः धर्मका मूल रूप सब सम्प्रदायोंमें स्वीकृत है। लेकिन पथोंकी अपनी विशेषताएँ हैं। चलने वालेके अधिकारके अनुसार हैं ये पथ।

शैव, शाक्त, गणपत्य, सौर, वैष्णव, बौद्ध, जैन, सिक्ख आदि सम्प्रदाय ही हैं; आज जिन्हें भ्रम-वश धर्मका नाम दिया जाता है, वे यहूदी, ईसाई, इस्लाम, पारसी आदि भी सम्प्रदाय ही हैं, क्योंकि ये भी लक्ष्य तक पहुँचाने वाले पथ ही हैं। इनमें एक साधन, एक आचार-पद्धति प्रदान की जाती हैं। इनको सम्प्रदाय स्वीकार करके आप विश्व-सम्प्रदाय-सम्मेलन बुलायें या विश्व-सम्प्रदाय-परिषद गठन करें– इसमें किसीको भला क्या आपत्ति हो सकती ?

सम्प्रदाय पथ है—भूमि नहीं। अतः उनका इतिहास है। वे बनते, बदलते और मिटते रहते हैं। महापुरुष नूतन पथका निर्माण सदासे करते रहे हैं और करते रहेंगे। लेकिन धर्म—धर्म तो भूमि है—उसके बदलने या नष्ट होनेका अर्थ है प्रलय। धारण करनेवाले तत्त्वका नाम धर्म है; यह नहीं रहेगा तो मनुष्य तो मर जावेगा। यह तो नित्य है, सत्य है। इसीलिए धर्म सनातन है।

———

यज्ञ—एक वैज्ञानिक विश्लेषण

जब भी कोई कार्य किया जाता है, वह एक कम्पन उत्पन्न करता है। आप जिसे गति कहते हैं, वह कम्पनका ही एक रूप है और गतिके कार्य आप जानते देखते हैं।

साइकिलको ले लीजिये। क्या जितने वेगसे साइकिल जारही है पैर उतने वेगसे चलता है? यदि ऐसा होता तो साइकिलकी गति पैदल चलने वालेके बराबर होती। पर पैर जिस छोटे पहिएको घुमाते हैं उसका सम्बन्ध बड़े पहियोंसे होता है। छोटे पहिएके एक बार घूमनेपर बड़ेको भी एक बार घूमना होगा। छोटेका घेरा तो कम है, उसे घुमानेमें कम वेग और शक्ति लगती है, पर बड़ा उससे सम्बन्धित होनेके कारण उतनी देरमें एक चक्कर कर लेता है और अपनी परिधिकी दूरी पार कर लेता है। यदि बड़े पहिएसे और किसी छोटे पहिएका सम्बन्ध किया जावे तो वह छोटा पहिया बड़े वेगसे घूमेगा। बड़ा पहिया जितनी परिधि एक चक्करमें पार करता है, उतनी ही देरमें उसे भी उतनी परिधि पार करनी पड़ेगी। पर उसकी परिधि कम है, अतः वह एकाधिक चक्कर लगावेगा। किसी कारखानेमें जाकर देखा जा सकता है—

यह प्रमाण इसलिए दिए गये कि इतनी बात पहले समझमें आजाय कि यह आवश्यकता नहीं कि किसी कार्यको करनेवाला मूल कम्पन बहुत प्रबल हो वह सूक्ष्म होते हुए भी दूसरे संयोगोंके अनुकूल मिलनेपर बहुत प्रबल परिणाम प्रकट कर सकता है।

किसी कम्पनसे जब कोई कार्य लेना होता है तो केवल कम्पन उत्पन्न कर देना पर्याप्त नहीं। उस कम्पनको उस दिशामें गतिशील करनेका प्रबन्ध करना पड़ता है, जिधर वह कार्य कर सके। दूसरी दिशामें गति होने-से वह मन्द न हो जावे इसके लिए उसे दूसरी ओरसे रोकना पड़ता है। कार्य करनेके लिए उसकी गतिको जितना बढ़ाना है, उसका भी प्रबन्ध करना पड़ता है। कम्पनके मूलमें जो ऐसी गति है कि कार्यको नष्ट या विश्रृङ्खल भी कर सकती है, उसे रोकना पड़ता है।

बारूद खुले स्थानपर जला दी जावे तो केवल कुछ चिनगारियाँ मात्र उड़ेंगी। बन्दूकमें ठीक प्रकारसे उसके कम्पनका नियंत्रण होनेसे वह मीलों तक गोली फेंकती है। विद्युतकी एक प्रकारकी करेण्ट जिसकी गति सर्पाकार होती है तो पंखेमें ऐसी व्यवस्था करनी पड़ती है जिससे करेन्टका धक्का यन्त्रको जला न दे।

यज्ञ एक प्रकार का कार्य है। मन्त्रोंका उच्चारण सामग्रियोंका संकलन अंगोंका संचालन। द्रव्योंका हवन और सभी प्रकारकी क्रियाएं उसमें अपना अपना कम्पन प्रकृतिको प्रभावित करके यजमानके अभीष्ट फलको प्रकट करते हैं।

महर्षि इस बातका विपुल ज्ञान रखते थे कि किस वस्तु के अणु किस प्रकारका कम्पन उत्पन्न करते हैं और उनका क्या प्रभाव पड़ता है। शब्दों के उच्चारण तथा अंगोंके संचालनसे जो कम्पन होता है उसका भी उन्हें पूर्ण ज्ञान था। मन्त्र जप, मीमांसा पद्धतिसे मूर्ति पूजा और यज्ञ कर्म—इन तीनोंका मूल यही कम्पन विज्ञान है। कम्पनसे कार्य लेनेकी तीन पद्धतियाँ हैं प्रायः तीनों सम्मिलित रहती हैं। मन्त्रमें जप और यज्ञ तथा यज्ञमें पूजा और हवन, मूर्तिपूजामें जप और यज्ञ तथा यज्ञमें पूजा और जप सब मिले रहते हैं,प्रयोजनके अनुसार कहीं एक प्रधान होता है, कहीं दूसरा।

यज्ञमें अमुक वस्तुको अमुक स्थानपर अमुक प्रकारसे रखो, अमुक व्यक्ति अमुक स्थानपर अमुक दिशामें मुख करके बैठे। इस प्रकार वस्तुके रूप, गुण परिणाम, आकृति, संख्या उसके रखनेका स्थान और रखनेका ढंग तथा उसे उठानेका ढंग भी निर्दिष्ट होता है। यज्ञ कर्ताओंके लिए भी निर्देश होता है कि विशेष आकृति तथा गुणके लोग यज्ञ नहीं करा सकते। आहुति देने, मन्त्रोच्चारण तथा किसी वस्तुके उठनेमें अंगोंका कैसे संचालन हो और कितना समय लगे यह भी निर्दिष्ट होता है। मन्त्रके किसी भागको धीरे और किसीको जोरसे बोलना पड़ता है। यज्ञमें चाहे जैसे और जितने पात्र, पुष्प, फल, जल, घृत, अन्न, नहीं आसकते। सब गिना या नपा आवेगा और किस प्रकार पुष्पादि हों यह बताया होगा। चाहे जो व्यक्ति न तो यज्ञमें आ सकता और न उसे देख सकता है। निश्चित स्थानके भीतर ही निश्चित क्रिया होंगी।

विचार पूर्वक देखें तो यज्ञ एक कारखाना है। मशीनके सब यन्त्र ठीक स्थान पर रहें और ठीक कार्य करें तभी वह उपयुक्त कार्य करेगी।

एक भी छोटा सा मन्त्र भी कार्य न करे, वह दूसरे प्रकार लग जावे तो या तो मशीन रुक जावेगी या उसकी गति .कोई हानिकारक परिणाम प्रकट करेगी। प्रत्येक वस्तु और क्रियासे कम्पन होता है। यज्ञमें वस्तुओंके निर्वाचन, स्थान एवं क्रियाओंका निर्देश इसी कम्पनको दृष्टिमें रख कर होता है। किसी क्रिया या वस्तुका कम्पन मूल मन्त्रके कम्पनको प्रबल करता है, कोई उसे दूसरी दिशाओंमें बिखरनेसे बचाता कोई उसे अभीष्ट दिशाकी ओर प्रवृत्त करता है और कोई उसके उस भागको जो अभीष्ट नहीं, शान्त करता है। इस प्रकार सहस्रों क्रियाएँ उन कम्पनोंसे होती हैं। जैसे यन्त्रके प्रत्येक पुर्जे अनेक प्रकारके कार्य करके यन्त्रको कार्यक्षम बनाते हैं।

जैसे यन्त्रके पुर्जेमें भी व्यक्तिक्रम होनेसे यन्त्र कार्य नहीं कर पाता और भयंकर दुर्घटना हो सकती है, वैसे ही यज्ञ या मन्त्रमें किसी विधिमें कोई भी व्यक्तिक्रम होनेसे अभीष्ट फल नहीं प्राप्त होता। अनर्थकी सम्भावना बनी रहती है महर्षियोंने स्पष्ट कहा है—

"मंत्रहीनो स्वरतोवर्णतो वा मिथ्या प्रत्युक्तो न तमर्थमाहुः।
स वागवज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रो; स्वरतोऽपराधत् ॥

स्वर (उच्चारण) से, अक्षरसे या भूलसे मन्त्रमें कोई दोष होनेपर वह अभीष्टदाता नहीं होता, वह वाणी रूपी वज्र यज्ञकर्त्ताका उसी प्रकार नाश करता है जैसे वृत्र स्वर दोष होनेके कारण मारा गया।

यह विधान स्पष्ट बतलाता है कि यज्ञ तथा मन्त्रमें विधिकी कितनी प्रधानता है। विधिकी प्रधानताका मूल कारण यही है कि वह एक वैज्ञानिक कार्य है। भौतिक नियमोंके अनुसार उसकी व्यवस्था हुई है। जब यज्ञ भाव प्रधान होजाता है तो वहाँ विधि प्रधान नहीं रह जाती।

यज्ञ या मन्त्र-जप या मूर्ति-पूजा जब मीमांसाकी पद्धतिसे होती है तो उसका उद्देश्य होता है प्रकृतिमें एक विशेष प्रकारका कम्पन उत्पन्न करके प्रकृतिमें किसी विशेष केन्द्रको प्रभावित करना एक कम्पन दूसरे कम्पनसे ठीक मिल जाय तो पहला कम्पन दूसरेके उद्गमको दूरस्थ होनेपर भी प्रभावित कर सकता है। रेडियोका यन्त्र इसी नियमके आधारपर बना है। एक सतहपर दो ढोलक रखी जावें और उनके बीचमें कोई वस्तु न हो तो पहली ढोलकपर थाप मारनेसे दूसरीमें भी कम्पन होगा।

दूसरीके चर्मपर कोई राई रख दी जावे तो पहली ढोलकके बजानेपर वह उछलती रहेगी। थाप जितनी तीव्र होगी, राईकी गति भी उतनी तीव्र हो जायगी।

यज्ञ या पूजाका कम्पन जब प्रकृतिके अभीष्ट कम्पनसे सम्बद्ध होजाता है तो वह उस तत्वका अपनी ओर आकर्षण करता है। जैसे शरीरमें पित्त, कफ, वात प्रभृतिके व्यापक रहनेपर भी उनका एक एक केन्द्र माना जाता है। केन्द्रको प्रभावित करनेसे वह तत्व शरीरमें बढ़ जाता है, ऐसे ही प्रकृतिमें भी एक एक तत्वके पृथक पृथक केन्द्र हैं। जिस केन्द्रको हम अपने कम्पनके द्वारा प्रभावित करेंगे वह हममें प्रकट होगा।

प्रत्येक कम्पन एक सूक्ष्म आकृति बनाता है। चाहे हम वह आकृति भले न देख सकें, किन्तु आकृति बनती अवश्य है। एक फ्रांसीसी महिलाने एक ऐसा यन्त्र बनाया है जिसके सामने गानेसे संगीतके कम्पन द्वारा उत्पन्न आकृति यन्त्रके पर्देपर बन जाती है। यों भी कहा जा सकता है कि हमारा शरीर या विश्वकी प्रत्येक आकृति कंपनसे बनी है। शरीरके परमाणु सदा वैसे ही निकलते रहते हैं जैसे दीपककी ज्योति या सरिताका जल। उन परमाणुओंके स्थानपर दूसरे आते रहते हैं। इस प्रकार एक निश्चित परमाणु धारा आकृति निर्माणका कारण है।

प्रकृतिमें जिनके तत्व हैं जितने गुण हैं, जितनी क्रियाएँ एवं परिवर्तन हैं, सबमें कम्पन है। सब कम्पनसे उत्पन्न होते हैं। उनके कम्पन एक सूक्ष्म आकृति बनाते हैं। यही आकृति उस क्रियाके अधिदेवताकी होती है। महर्षियोंने अधिदेवताओंके रूपका इतना सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त किया था कि अपने शास्त्रोंमें दिन, वर्ष, ऋतु, राग, तत्व एवं भावोंके सब अधिदेवताओंका वर्णन मिलता है। बसन्तका देवता काम, जलका वरुण, सोमवारका चन्द्र इस प्रकार सबका वर्णन है। उनकी आकृति प्रकृति प्रभृतिका वर्णन भी है।

यज्ञ या मन्त्रमें मूर्ति अथवा यन्त्रकी पूजा होती है, उसका ध्यान होता है, इसका मूल उद्देश्य यह है कि हमारा कम्पन अभीष्ट तत्वके कंपनसे संबन्धित हो जावे। एक कंपन जो प्रकृतिमें होरहा है, उससे तभी सम्बन्ध होगा जब हमारा कम्पन भी वैसा ही हो। पर, मंत्रोंका उच्चारण जिस स्थानसे और जैसा होना चाहिए वैसा व्यवहारमें सरल नहीं होता। एक व्यक्तिका उच्चारण एक प्रकारका और दूसरेका उससे भिन्न होता है।

अभीष्ट कंपनमें यह बड़ी बाधा है । आधार लेते हैं मूर्ति या मंत्रका । प्रकृति-के कंपनने जैसी सूक्ष्म आकृति बनायी है, वैसी ही आकृतिकी मूर्ति या रेखाचित्र (यन्त्र) लेनेका विधान होता है । उस मूर्तिका ध्यान करनेसे प्रकृतिके मूल कंपन जैसा कंपन होता है । अपना मन्त्रोच्चारण ध्यानसे समन्वित होकर शुद्ध हो जाता है । वह ठीक कम्पन उत्पन्न करने लगता है ।

मूर्तिकी आवश्यकता जहाँ कंपन परिशोधनके लिए है, वहीं मूल शक्तिके आकर्षणके लिए भी किसी व्यापक या दूरस्थ शक्तिके आकर्षणका एक वैज्ञानिक सिद्धान्त है । उस शक्तिका उद्गम जिस आकृतिसे जितनी लहरें उत्पन्न कर रहा हो वैसा ही केन्द्र बनाकर उसी प्रकारके कम्पनसे मिलानेपर वह शक्ति आकर्षित होती है । रेडियोके यन्त्रको ले लीजिए । आपको यदि दिल्लीकी ध्वनि सुननी है तो यन्त्रकी स्थिति उस प्रकार करनी होगी जिस प्रकार दिल्लीका बोलने वाला यन्त्र है । यंत्रकी उतनी सतहोंको विद्युतसे गति देनी होगी । प्रकृतिकी सूक्ष्म शक्तियोंको आकर्षित करनेके लिए मूर्ति भी इसी प्रकार यंत्र है । पूजा प्रभृतिसे मूर्तिकी आकृतिसे उत्पन्न कंपनको अभीष्ट कंपनके रूपमें नियन्त्रित रखते हैं ।

स्मरण रहे कि मीमांसा शास्त्रके अनुसार प्रत्येक यज्ञ या पूजाकी मूर्ति अथवा यन्त्र भिन्न प्रकारका होता है । उसका रङ्ग, आकृति, ऊँचाई, अंगोंकी बनावट तथा पूजा पद्धति, यहाँ तक कि पुष्पोंको जाति, अक्षतकी संख्या, पूजन-विधिके साथ किसी वस्तुको कितनी बार और कितनी देरमें कैसे चढ़ाया जावे यह भी विधिमें वर्णित होता है । छोटीसे छोटी बात नियन्त्रित रहती है ।

· मूर्ति या यज्ञमें बने यन्त्र रेडियोके यन्त्रकी भाँति प्रकृतिकी विभिन्न शक्तियोंके अवतरणके केन्द्र होते हैं । शास्त्रोंने मूर्ति तथा यन्त्रोंको पीठ कहा है । पीठका अर्थ होता है आसन । बिना उपयुक्त आसन हुए कोई शक्ति प्रकट नहीं होती । सूर्यकी किरणोंमें निहित अग्निको प्रकट करनेके लिए आतशी शीशा चाहिए । यज्ञकी सारी क्रियाओंका कम्पन एक मूल शक्तिको आकर्षित कर तो लेता है पर वह प्रकट हो कहाँ । वह यज्ञका कंपन एक वस्तुका तो होता नहीं, जिसके आधारपर आकर्षित कम्पन प्रभाव प्रकट कर सके । अतः उस आकर्षित शक्तिके प्रभावको व्यक्त करने योग्य एक

उपयुक्त पात्र चाहिए। पीठ ठीक ऐसा ही होता है जो इस क्रियाका संपादन कर सके।

वह भी एक युग था जब यज्ञमें देवता प्रत्यक्ष होकर अपना भाग ग्रहण करते थे और यज्ञेश भगवान विष्णु यजमानको दर्शन देकर परितुष्ट करते थे। यज्ञमें वह शक्ति अब भी है। मंत्र एवं विधिका पालन हो तो वह शक्ति आज भी प्रकट हो सकती है। पर जिन्हें यज्ञकी महत्ताका बोध नहीं जिन्हें शास्त्रोंके रहस्यका पता नहीं, अक्षर ज्ञान प्राप्त करके जो उच्छृङ्खल तर्कके प्रवाहमें बह चुके हैं, वे क्या यज्ञ कर सकेंगे ? नियमोंका इतना कठोर पालन उनका काम है ? यह दूसरी बात है कि वेदोंके नामपर वे यज्ञकी विडंबना करें। ऐसा करके वे वायु शुद्धिके अतिरिक्त और बता भी क्या सकते हैं, वे इतनेसे अधिकके अधिकारी नहीं तो पावें कहाँसे ?

आज ठीक यज्ञकी विधि जानने वाला कोई ऋषि नहीं। यजमानके पास न तो पर्याप्त द्रव्य है और न समय। ढूँढ़नेपर भी शुद्ध गो-घृत शुद्ध शहद आदिका मिलना असम्भव प्राय हो रहा है। जब एक भी उपकरण नहीं तो यज्ञ कहाँसे हो, करे कौन ? जो होता भी है वह अधूरा, विधि हीन और उससे ठीक परिणामकी आशा नहीं की जा सकती।

यज्ञका कम्पन जब ठीक होता था, पीठ जब उपयुक्त और पवित्र होता था, विधियोंका ठीक पालन होता था तो कम्पनके द्वारा प्रकृतिका मूल तत्व आकर्षित होता था। पीठ उपयुक्त पाकर वह स्थित होता और उसका अधिदेवता साकार व्यक्त होजाता था। देवताके व्यक्त होनेका यह अर्थ नहीं है कि वह यहाँ व्यक्त हुआ तो उसका लोक सूना होगया या विश्वमें उस समय उसका कार्य कौन करेगा। केवल बुद्धिशून्य व्यक्ति ऐसी शंका देवता या अवतारके विषयमें करते हैं। शास्त्रोंने स्पष्ट कहा है कि देवता एक साथ चाहे जितने रूपोंमें, चाहे जितने स्थानोंपर प्रकट होकर कार्य कर सकते हैं।

व्यापक तत्वकी एक स्थानपर अभिव्यक्ति उसकी व्यापकताकी विरोधी नहीं होती। अग्नि व्यापक है, पर जहाँ चाहे वहाँ प्रकट करली जाती है। एक साथ करोड़ों स्थानोंपर अग्नि प्रकट है और की जा सकती है। सभी स्थानों पर वह प्रकाश एवं दाहमें समर्थ है, किन्तु व्यापक भी

उसी समय सब वस्तुओंमें है। रेडियोसे किया हुआ ब्राडकास्ट एक ही समय विश्वके उन समस्त यन्त्रोंमें सुना जा सकता है जो उसे सुननेकी स्थितिमें हों। देवताओंका प्राकट्य भी इसी प्रकार एक साथ असंख्य स्थानों-पर हो सकता है और उसी समय वे अपने लोकके अधिष्ठाता एवं व्यापक भी रह सकते हैं।

सीधी सी बात है कि एक व्यापक शक्तिको साकार या गुणशाली करनेके उपकरण जहाँ जहाँ होंगे वह व्यक्त हो जाया करेगी। यज्ञका कंपन जहाँ जिस मूल तत्वके कम्पनको आकर्षित करता है, वहीं उपयुक्त पीठमें उस मूलतत्वका अधिष्ठाता व्यक्त हो जाता है। अधिष्ठाताका लोक है अवश्य, पर शरीरमें वातका स्थान नाभि कहनेका अर्थ यदि यह होता हो कि बात नाभिसे अतिरिक्त कहीं नहीं होता तो अधिष्ठाताके विषयमें भी यह कहा जा सकेगा। ऋषियोंका ज्ञान कोरा तर्क नहीं, अनुभव था। तर्कके द्वारा उसे निर्मूल बताना अपना उपहास करना है।

तन्त्रके साधनोंका विज्ञान

मनुष्य जैसे सात्विक, राजस और तामस स्वभावके हैं—वैसे ही तन्त्र भी सात्विक, राजस और तामस हैं। अपने स्वभावके अनुरूप साधन अप-नाने पर मनुष्यको सफलता शीघ्र मिलती है। साधन चाहे जैसा हो, उसका लक्ष्य बहिर्मुख प्रवृत्तिको अन्तर्मुख करके देहाभिमानको नष्ट करना ही है। जहाँ ऐसी बात नहीं है, वह साधन ही नहीं है।

तन्त्रके दो मुख्य भाग हैं—१–सात्विक भाग जो वैष्णव उपासना पद्धतिमें और अन्य भी वैदिक-स्मार्त परम्पराओंमें स्वीकृत है। यन्त्र और न्यास इसकी विशेषता है। प्रायः सभी पौराणिक उपासनाओंमें निगमके साथ आगमका भी कुछ सहयोग लिया जाता है।

तंत्रका दूसरा भाग है—राजस-तामस उपासना। जब कोई तंत्र शब्दसे चौंकता है तो उसका ध्यान इस दूसरे भागकी ओर ही अधिक होता है। इसमें अघोर, वीर और वाम ये तीन पद्धतियाँ प्रधान हैं।

परमात्मा सृष्टिका मूल तत्त्व है अर्थात् केन्द्र बिन्दु है। सृष्टि एक वृत्त है—परिधि है और जीव उसमें बाहरी परिधिपर हैं। वृत्तके किसी बिन्दुसे सीधी रेखा खींची जाय तो वह केन्द्र बिन्दुपर पहुँचेगी, यह रेखा-गणितका सीधा नियम है। मनुष्यके जीवनमें यह नियम इस प्रकार काम करता है कि आप मनके किसी भी एक भावको लेकर दृढ़तासे उसपर स्थिर हो जायँ तो वह आपको परमात्मा तक पहुँचा देगा।

यहीं एक कठिनाई आती है। आप जीवन भर सत्य बोलनेका व्रत ले सकते हैं। कुछ थोड़े स्वार्थोंपर चोट पड़ सकती है; किन्तु इससे जीवन सरल सुगम एव सम्मानित बनेगा। असत्य ही बोलनेका व्रत आप ले लें तो अन्तिम लक्ष्य तक वह भी पहुँचा देगा; किन्तु ऐसा व्रत लेना कठिन कितना है, सोच देखिये। यदि आप कोई भी बात सच न कहनेका व्रत लेंगे तो कहा नहीं जा सकता कि व्रत लेनेके कितने क्षण पीछे आपपर मार पड़नी प्रारम्भ होगी और कितने समय आप कारागारसे बाहर रह सकेंगे।

अहिंसाका पालन सरल है; किन्तु आप हिंसाका व्रत ले लें तो ? प्रत्येक सामने आने वालेको गाली देने या एक चपत मारनेका व्रत कोई चला पावेगा ? ये तथ्य कहते हैं कि सात्विक साधन सरल होते हैं। राजस-तामस साधन अपवाद रूपसे अधिक—अतिमानव क्षमता रखनेवालोंके लिए ही होते हैं।

अघोर मार्ग घृणा-विजयके माध्यमसे, वीर मार्ग हिंसाके माध्यमसे अर्थात् क्रोधके माध्यमसे और वाममार्ग कामके माध्यमसे परमतत्त्वकी प्राप्तिके साधनोंका वर्णन है। विस्तारसे इनके सम्बन्धमें कुछ कहना बतलाना मेरे लिए सम्भव नहीं है। संक्षिप्त ही यहाँ कहना पर्याप्त है।

मेरी जन्म-भूमिसे कुछ मील दूर ही अघोर मतके एक मुख्य संस्थापक बाबा किनारामकी जन्मभूमि है। इस सम्प्रदायमें जप तो 'राम' इस नामका किया जाता है; किन्तु यह मत घृणा-विजयको साधन मानता है। अपना या दूसरेका मल-मूत्र सब भक्ष्य माना गया है इसमें। सड़े मुर्देका कच्चा माँस मुखसे काट कर न खा सके वह अघोरी नहीं। कहीं कुछ भी घृणाके योग्य नहीं है। घृणा आयी और औघड़का पतन हुआ। सामान्य मनुष्यके वशकी बात है यह ?

बिहारमें दामोदर बाँधके पास छिन्नमस्ता पीठपर मैं एक बार दर्शनार्थ चला गया था। वहाँ किसीने बतलाया—'देवीकी उपासना वहाँका

राजा चक्रवर्ती होनेके लिए कर रहा था। वीरमार्गी क्रोधका साधक था वह। नरबलि देता था। एक दिन जब वह उपासनाके आसनपर था, रानी सामने आगयी। राजाने चौंक कर पूछा--'तुम यहाँ कैसे ?'

वस होगया। राजाका सिर कट कर गिर पड़ा। क्रोधका साधक न किसीपर कृपा कर सकता, न किसीको छोड़ सकता जो उपासनाके समय सामने आजाय। जो उस समय आवे वलि देदो। जीवनमें भी तुम हँस नहीं सकते। क्रोधका अट्टहास भले करलो, प्रसन्नताका स्मित आवेगा तो तुम गये। आज तो वीरोपासना सम्भव ही नहीं है।

आपने वाममार्गका नाम सुना है। कुछ लोग नाक-भौं सिकोड़ेंगे और कुछके मनमें कुतूहल होगा। यह भी साधन मार्ग है और अघोर मार्ग एवं वीरमार्गके समान हाथ ही जोड़ लेने योग्य मार्ग है; क्योंकि इसमें स्त्री-मात्र भोग्या है। माता-वहिन-वेटीकी वात एक ओर--वृद्धा, रुग्णा, कुष्ठ गलिता—जो भी साधनामें आजाय। साथ ही मनमें वासना आयी तो पतन और अरुचि हुई तो पतन। यह क्या सामान्य मानवके वशकी बात है ?

तन्त्र-साधनकी चर्चाका अर्थ तन्त्रके सात्विक साधनकी चर्चा ही है और साधकके लिए यही कामकी वात है। तन्त्रोक्त उपासनामें मन्त्र, यन्त्र, न्यास, सहस्रनाम, मुद्रा-ये मुख्य भाग हैं। देव-पूजन, हवनादि तो वैदिक एवं तान्त्रिक पूजनमें प्रायः समान ही हैं। केवल मन्त्रों तथा क्रियाओंमें सामान्य अन्तर आता है।

मन्त्र और यंत्रके सम्वन्धमें पृथक लेखमें विस्तारसे लिखा जा चुका है। सहस्रनामका अर्थ है आराध्यको परमात्म रूप देखना और सर्व देवमय मानना। प्रत्येक सहस्रनाममें प्रायः भगवानके सभी नाम आजाते हैं। इस प्रकार सहस्रनाम अराध्यरूपोंमें भेद-भावको समाप्त करते हैं। अपना आराध्य और दूसरेका आराध्य दो हैं, उनमें कोई तारतम्य है, यह भ्रम रह नहीं सकता, यदि आप किसी भी सहस्रनामके नामोंपर ध्यान देकर उसका पाठ करते हैं। केवल तोता रटन्तका नाम तो पाठ है नहीं।

आजकल न्यास करने और मुद्रा दर्शित करनेकी परम्परा लुप्त होती जा रही है। इसके जानकार भी घटते जारहे हैं। अङ्गन्यास और करन्यास भी लोग केवल पढ़ देते हैं, करते नहीं। ऋष्यादिन्यास पढ़कर जल छोड़ देना पर्याप्त मान लिया जाता है। मातृकान्यास, मन्त्राक्षरन्यास, पञ्जर-न्यासादिकी तो चर्चा ही कम लोगोंने सुनी है।

न्यास अपने ही शरीरमें नहीं किया जाता; आराध्य मूर्तिमें भी न्यास किया जाता है, यदि उसकी प्राण-प्रतिष्ठा नहीं हुई है। न्यासका अर्थ है रखना। अपने शरीरके विभिन्न स्थानोंमें विभिन्न ऋषि, देवतादिकी भावना करना, विभिन्न तत्त्वोंके बीजाक्षरोंकी भावना करना--यह न्यास कहलाता है। न्यास करनेसे—यदि ठीक भाव-सहित न्यास किया जाय तो साधक देवमय, सवतत्त्वमय, मंत्र मूर्ति होजाता है। स्थूल मलिन पाँच भौतिक काय न रहकर उसका भावमय दिव्य काय होजाता है और यही दिव्य मंत्र-काय देवतासे सम्पर्क करके उसका पूजन आराधना करने योग्य होता है। देवता दिव्य देह है, अतः उसका सम्पर्क दिव्यदेहसे ही ठीक-ठीक होसकता है। साधक-न्यासोंके द्वारा भावमय मंत्रकाय होता है, तब देवता उसकी आराधनाको प्रसन्नतासे स्वीकार करते हैं।

'देवो भूत्वा देवं यजेत्'

देवताहोकर देवताका पूजन करना चाहिए। इस आदेशका तात्पर्य यही है कि भावना तथा न्यासके द्वारा साधक 'मन्त्रमूर्ति' अपनेको बनाकर तब देवताका पूजन करे।

मुद्राके सम्बन्धमें आजकल बहुत कम ज्ञान लोगोंको है। मुद्राका अर्थ है हाथ या शरीरकी विशेष भंगिमा। उपासनाके समय क्रिया विशेषके समय विशेष मुद्रा बनानेकी तथा पूजन-द्रव्योंको मुद्रा-विशेषसे अभिमन्त्रित करनेकी विधि होती है। शरीरकी भंगिमा-विशेष भाव-विशेष केवल बाहर ही नहीं दिखलाती, मनमें भी उस प्रकारके भावका उत्थान करती है। अतः उपासनाके समय-विशेषपर कैसी मुद्रा बनायी जाय, इसका प्रभावकारी परिणाम होता है।

हमारे हाथ-पैरकी अँगुलियोंके सिरोंसे एक शक्ति-विशेष निकलती रहती है, यह बात आजके मनोवैज्ञानिक मानने लगे हैं। प्रत्येक अँगुली और हाथके भाग विशेषसे भिन्न-भिन्न प्रकारका प्रभाव निकलता है। अत. उसमेंसे किसे कितना निरुद्ध करना है और किसे कितना अधिक निकलनेका अवसर देना है, इस सूक्ष्मतम विज्ञानको ध्यानमें रखकर उपासना-शास्त्रके आचार्योंने यह नियम बनाया है कि पूजनादिके समय कौनसा द्रव्य किस मुद्रासे अभिषक्त किया जाय तथा किस समय क्या मुद्रा प्रदर्शित की जाय।

उपासनाका एक और आवश्यक भाग है बलि । चौंकिये मत ! बलि शब्दका अर्थ है उपहार या भेंट । आपके यहाँ कोई सामान्य पुरुष आते हैं तो उनको खिलाने-पिलानेका काम तो आप करेंगे ही । भारतीय परम्परा कहती है कि उन्हें विदा करते समय खाली हाथ नहीं विदा किया जाना चाहिए । उन्हें कुछ उपहार देकर विदा करना चाहिए । इस उपहारका ही नाम बलि है ।

पूजनके लिए आपने देवताका आवाहन किया अर्थात् उसे बुलाया । अब अर्घ्य, पाद्य, आचमन दिया । इसका अर्थ है कि उसे हाथ धोनेका जल दिया—यह अर्घ्य हुआ । चरण धुलाये, यह पाद्य हुआ । कुल्ला कराया, यह आचमन हुआ । स्नान कराया । धोती पहिननेको दी और दुपट्टा दिया—यह वस्त्र और उपवस्त्र होगया । पुरुष द्विज-देवता हुआ तो जनेऊ दिया, चन्दन-कुंकुम लगाया और माला पहनायी, समीपमें धूप जला दी, दीपक जला दिया' नैवेद्य दिया अर्थात् भोजन कराया, आरती की, स्तुति की और प्रणाम किया—यह पूजन होगया । अब देवताको विदा करनेसे पूर्व बलि अर्थात् उपहार दिया जाना चाहिए ।

सात्विक पूजनमें प्राणि-बलि नहीं दी जाती । राजस-तामस पूजनोंमें उग्र देवता, भूत-प्रेतादिको प्राणि-बलि देनेकी विधि है । सामान्यतः नारियल बलिके रूपमें चढ़ाया जाता है । भगवानको कोई भी फल अन्तमें चढ़ाया जाता है; किन्तु यह फल पूरा दिया जाता है । इसे छील कर या टुकड़े करके नहीं देते हैं । हनुमानजीको, भैरवको नारियल बलि देते हैं तो नारियलको फोड़ देते हैं । भगवानको या लक्ष्मीजीको पूरा नारियल ही चढ़ा देते हैं ।

प्राणि-बलि क्यों ? यही प्रश्न उठता है । भले राजस-तामस देवताओंका ही पूजन हो; किन्तु काली, दुर्गा, भैरवादिके लिए भी निरीह प्राणीको क्यों मारा जाय ?

पहली बात यह कि प्राणि-बलि अनिवार्य नहीं है और श्रेष्ठ भी नहीं है । वह न भी की जाय तो कोई दोष नहीं है । लेकिन शास्त्रमें उसका विधान है । यह प्रयोजन विशेषसे है । इसका प्रथम-प्रयोजन है—जो लोग मांसाहार किये बिना रह ही नहीं सकते, वे चाहें जब पशु न मारें—चाहे जहाँसे लेकर मांस न खाएँ—वे विधि-विधानसे देव-पूजन करके पशु-बलि

देकर ही मांसाहार करें; इसका फल होगा निर्बन्ध मांसाहारपर प्रतिबन्ध। रोज-रोज पूजनका उतना विस्तार सम्भव तो राजाके लिए भी नहीं था। अतः बलि देकर ही मांसाहारका नियम पशु-हत्याको नियन्त्रित ही करने वाला है। समाजमें सदा ही ऐसे लोग रहे हैं, रहेंगे जिनके लिए मांसाहारका सर्वथा त्याग सरल नहीं होता। शास्त्र उन्हें उपेक्षणीय नहीं मानता, अतः उनके संयमका भी साधन निर्देश करता है।

'तथा पशोरालभनं न हिंसा।'

दूसरा पशु-बलिका विधान ही अद्भुत है। पशुको मारो मत। उसे केवल चिह्नित करके छोड़ दो। चिह्नित इसलिए कि लोग पहचान सकें कि यह देवताके लिए उत्सर्ग किया गया है उसे अपने यहाँ बाँध न लें।

समाजमें गाय, भैंस, भेड़, बकरी जब सब हैं तो इन सबके लिए सांड सुलभ होने चाहिए और वे ऐसे नहीं होने चाहिए कि श्रम-जर्जर हों। देवताके लिए नर पशु ही उत्सर्ग किया जाता है, यह बात सर्व विदित है। राजस्थानकी ओर अब भी बकरे इस प्रकार उत्सर्ग करके छोड़े जाते हैं।

तन्त्र शब्दका अर्थ है प्रणाली। पूजा-उपासना-साधन विशेषके करनेकी प्रणालीका नाम तन्त्र है। जैसे राजतन्त्र-प्रजातन्त्र, अधिनायक-तन्त्र आदि शासनकी विशेष विशेष प्रणालियाँ हैं। इसी प्रकार देव-पूजन तथा योगकी विशेष प्रणालियोंका नाम तन्त्र है।

जैसे निगम (वैदिक) मार्गमें हठयोगका बहुत अधिक महत्व है, ऐसे ही तन्त्रमें कुंडलिनी योगका महत्त्व है। तन्त्रोक्त योगका अर्थ ही बहुधा कुंडलिनी योग किया जाता है।

शरीरमें ६ चक्र अर्थात् मेरुदण्डमें ६ केन्द्र स्थान इस योगमें माने गये हैं। इनमें क्रमशः १-मूलाधार (गुदाद्वारके पास), २- स्वाधिष्ठान (गुदाद्वार एवं मूत्रद्वारके मध्यमें), ३-मणिपूरक (नाभि स्थानमें), ४-हृदय, ५- कण्ठ, ६- आज्ञाचक्र (भ्रूमध्यमें) माना जाता है। सुषुम्ना नाड़ी (मध्य नाड़ी) के मार्गसे मूलाधारमें प्रसुप्त कुण्डलिनी (प्राण शक्ति विशेष) जब इन चक्रोंका वेध करके सहस्रार (मस्तक) में पहुँचती है, तब वह जीव रूपिणी शक्ति शिवको प्राप्त करके मुक्त हो जाती है।

इन प्रत्येक चक्रोंमें अलग-अलग दलोंके, अलग-अलग रङ्गोंके कमलकी भावनाकी जाती है। उनके दलोंमें जिन अक्षरोंका न्यास करना है, वे भी निश्चित हैं। प्रत्येक चक्रका एक तत्त्व है और उस चक्रके कमलकी कर्णिका-पर उस तत्त्वके मन्त्रके मध्य उस तत्त्वके बीजाक्षरका न्यास किया जाता है। प्रत्येक चक्रके शिव एवं शक्तिका रूप भिन्न-भिन्न है।

यह सब क्या है ? शरीरके भीतर स्थान-विशेषको प्रभावित करनेकी ये विशेष-विशेष विधियाँ हैं। इनके द्वारा उस केन्द्रमें निहित विशेष मनःस्थितिका जागरण होता है और साथ ही प्राण-शक्ति ऊर्ध्वगामिनी होती है।

इस प्रकार तन्त्र मानसिक क्षेत्रमें तथा बाह्य जीवनमें भी उपासना एवं ध्यानकी विशेष विधियोंका निर्देश करते हैं। ये विधियाँ अपेक्षाकृत वैदिक विधियोंसे सुगम हैं और शीघ्र फलदायिनी हैं। इनमें प्रायः सबका ही अधिकार माना गया है, इसलिए भी ये सर्वजन-सुलभ हैं।

——

लय योगके साधन

लयका अर्थ है चित्तकी चिन्तन-हीन अवस्था। निद्रा तो है ही नहीं और न स्वप्न देखा जारहा है; किन्तु चित्त कुछ सोच भी नहीं रहा है। एक ही स्थितिमें चित्त स्थिर-लीन होगया है।

चित्तके इस लयकी शक्ति तथा शान्तिका सुख असीम है। इस एका-ग्रतासे उठा संकल्प मूर्त हो जाता है। कहना तो चाहिए कि इस अवस्थाकी ओर बढ़नेमें ही अनेक चमत्कार दिखलायी पड़ने लगते हैं।

'बाह्य प्रत्ययर्शिव चित्तावरोधिनी विशोका वा ज्योतिष्मती।'

—योगदर्शन

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय बाह्य प्रत्यय हैं। मनुष्य इन पाँचोमें-से किसी एक या कईकी प्राप्तिके लिए ही समस्त दौड़ धूप कर रहा है। इनमें मन-इन्द्रियोंकी सहज प्रवृत्ति है। यदि बिना किसी बाहरी विषयका सहारा लिये इनका अनुभव-आस्वादन होने लगे तो चित्त स्वभावतः उसमें लग जाता है। वहाँ एकाग्र होजाता है।

आपको मधुर शब्द-संगीत या काव्य सुनना है तो घरमें रेडियो रखिये या किसी मन पसन्द गायकके संगीत-रिकार्ड बजाइये। संगीत सम्मेलनोंके टिकट खरीदिये। स्पर्श-सुखके लिए आप क्या क्या करते हैं—स्वयं सोच देखें। वस्त्र, गद्दे ही नहीं, समस्त दाम्पत्य-सुख स्पर्श-सुख मात्र है। रूपका लोभ किसीको सिनेमा ले जाता है, किसीको संग्रहालय या सड़कोंपर घुमाता है। रसकी बात ही पूछने योग्य नहीं, जीभके स्वादके पीछे संसार पागल है। गन्धकी यदि आपको आवश्यकता न हो तो संसारमें सेंटके कारखाने बन्द होजायँ।

अब संगीत, स्पर्श, स्वाद, और सुगन्धका सुख तो वैसा ही मिले अथवा उससे अधिक मिले जैसा संसारके सम्पन्नतम व्यक्तिको मिल सकता है और किसी बाहरी वस्तु या व्यक्तिपर निर्भर रहना न पड़े तो साधक कितना निश्चिन्त होजाय, कितना मन लगे उसका ध्यान-चिन्तनमें यह आप समझ सकते हैं।

संसारमें या स्वर्गमें जितने विभिन्न आकर्षक शब्द, स्पर्श, रूप या गन्धके भेदोपभेद हैं, उन सबका आस्वादन कोई धनी किसी भी प्रकार कितना भी व्यय करके भी करके भी कर नहीं सकता; किन्तु साधक इच्छा करते ही इनमें किसीका आस्वादन कर सकता है। इसका प्रत्यक्ष सबसे बड़ा लाभ यह है कि ऐन्द्रियक सुखोंके लिए भी उसे व्यक्तियों तथा विषयोंकी पराधीनतासे छुटकारा मिल जाता है। वह तृप्ति अपनी साधनासे ही प्राप्त कर लेता है।

इसका एक बड़ा लाभ यह है कि प्रत्यक्ष विषयोंके समान अनुभव, विना विषयोपलब्धिके होनेसे साधककी श्रद्धा व उसका विश्वास बढ़ता जाता है। उसका मन साधनमें प्रबलतासे लगता है। वह कठिन साधन एवं अधिक एकाग्रताके लिए प्रस्तुत होता है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि किसी भी आध्यात्मिक साधनका उद्देश्य ऐन्द्रिय तृप्ति नहीं है। भले वह तृप्ति वाह्य विषयोंके माध्यमसे हो या ध्यानके द्वारा हो, अन्ततः वह त्याज्य ही है। ध्यानके द्वारा अनुभूतिका होना केवल साधनमें रुचि दृढ़ करनेके लिए है। उसे त्याग कर ही फिर आगे प्रगति हो सकती है।

हम बाहर मेघ-गर्जन तथा सभी वाद्योंका शब्द सुनते हैं। अनेक प्रकारके स्पर्श, रूप एवं ज्योतिके दर्शन जगतमें करते हैं। सूर्य जैसी प्रखर

तथा चन्द्र जैसी आह्लादक ज्योति हम प्रायः देखते हैं। नाना प्रकारके रस तथा गन्धके अनुभव हमें हैं। इन शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धमें किसीका कोई अनुभव ध्यानमें होनेसे कोई मुक्त हो जायगा—इस भ्रममें नहीं पढ़ना चाहिए। कोई शब्द, स्पर्श, रूप रस या गन्ध हमारे जन्म-मरणका कारण नहीं है। अतः इनमें-से किसीका भी अनुभव, चाहे वह कितना भी दिव्य हो, हमें जन्म-मरणसे मुक्त नहीं कर सकता। जन्म-मरणका हेतु है इन शब्दादि में आसक्ति। अर्थात् राग-द्वेषके छूटे बिना जन्म-मरण छूटा नहीं करता।

विषयोंका आधार लिये बिना जब दिव्य शब्द-स्पर्शादिका अनुभव होता है, साधनमें चित्त लगता है। साधनमें विश्वास दृढ़ होता है। फिर चित्तकी एकाग्रता बढ़नेसे इन विषयोंकी आसक्ति तथा इनका अनुभव भी छूट सकता है—छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार केवल श्रद्धा बढ़ाने, बाह्य-विषयोंकी पराधीनता छुड़ाने और एकाग्रताके लिए इन साधनोंका उपयोग है।

जहाँ तक साधनकी पूर्णता एवं प्रगतिकी बात है, यह प्रत्यक्ष सानिध्यमें रहकर सीखनेका विषय है जो ज्ञाता है, जिनमें अपनी श्रद्धा है, उनके प्रत्यक्ष निर्दँशनके बिना साधनाके मार्गमें उन्नति नहीं होती। छोटी-मोटी भूलें होनेकी संभावना बराबर बनी रहती है और उनके होनेपर कभी-कभी भयानक रोग हो जाते हैं।

यह सब न हो और साधक उन्नति करता जाय तब भी अपने साधन-से अहं बढ़ता है—घटता यह नहीं। 'अहं' तो मार्गद्रष्टाके निर्देशमें रहनेपर ही घटता-मिटता है। इसके मिटे बिना मुक्ति सम्भव नहीं है।

दूसरी बात लययोगके प्रायः सभी साधनोंमें अन्तिम स्थान गुरु स्थान है। बिना निर्देशकके साधन करने वाला वहाँ करेगा क्या? उत्सर्ग हुए बिना तो पूरा नहीं होता; और वह उत्सर्ग किसके प्रति होगा?

इसलिए लययोगके आध्यात्मिक साधनकी प्राप्ति तो किसी योग्य निर्दँशकके समक्ष जाकर ही प्राप्त करना चाहिए। यहाँ केवल साधनके उतने रूपका निर्देश है, जिसे आप स्वयं कर सकते हैं। यदि इससे आपको कोई अनुभूति होती है तो समझना चाहिए कि आप उचित अधिकारी हैं और आपको आगे मार्ग-निर्देशन प्राप्त करनेकी आवश्यकता है।

१—एकान्त स्थान जो शान्त हो, नीरव हो तथा धूलि-धुएँसे भरा न हो—साधनके लिए आवश्यक है। आप रात्रिमें लोगोंके सो जानेपर अथवा

ब्राह्ममुहुर्तमें लोगोंके उठनेसे पूर्व भी साधन कर सकते हैं।

२—स्नान करने या कुल्ला-दातौनकी आवश्यकता नहीं है; किन्तु शौच-लघुशंका का वेग न हो, भूख-प्यास न लगी हो, गर्मी या सर्दी ध्यान भंग न करें, मक्खी या मच्छर तंग न करते हों, ऐसी व्यवस्था कर लेनी चाहिए।

३—शरीर स्वच्छ, एवं स्वस्थ हो। श्वासादिके मार्ग स्वच्छ हों। सर्दी-जुकाम-खाँसी न हो। आसन ऊँचा-नीचा न हो। बहुत कठोर लकड़ी-पत्थर न हो और रेत-रबड़ जैसा अत्यन्त नरम भी न हो। भूमि या तख्ते-पर कम्बल बिछाकर उसपर एक वस्त्र डाल लें तो पर्याप्त है। मक्खी-मच्छर न हों और हों तो मच्छरदानी लगाइये। चाहें तो कोई हल्की धूपबत्ती जला ले सकते हैं।

४—अव स्थिर बैठियें। जिस किसी भी आसनसे बैठ सकें; किन्तु रीढ़की हड्डी सीधी रहे, इतना ध्यान रक्खें।

५—साधनका स्थान और समय बदलें नहीं; बीच-बीचमें अन्तर न डालें। यदि बहुत विवशता हो तो स्थान तथा समय भले बदल लें पर साधन प्रतिदिन करें अवश्य !

साधन–१—जिह्वाको गलेकी ओर मोड़े जितना मोड़ सकें और वहीं स्थिर रखें। किसी भी भगवन्नाम या ओंकारका जप करते हुए केवल यह ध्यान रखें कि किन स्वादोंका अनुभव होता है।

साधन–२--जिह्वा मोड़े नहीं केवल जिह्वाकी नोकपर मन लगा दें और देखें कि किन-किन रसोंका स्वाद आपको आता है।

साधन-३--जिह्वाको तालुमें सटा दें और जो भी स्वाद अनुभव हो, उसपर ध्यान रखें।

--ये तीनों रस साधन हैं। तीनोंमें किसीभी भगवन्नामका जप किया जा सकता है। एक साधकको तीनोंमें जो अच्छा लगे, किसी एकका ही साधन करना चाहिये।

साधन–४--नेत्र बन्द रखिये। दोनों भौंहोंके मध्यमें यदि एक कील सिरके आरपार ठोंक दी जाय और एक कील कानमें-से आरपार ठोंकी जाय तो सिरके मध्यमें जहाँ दोनों कीलें एक दूसरेको छूती जायँगी, उस स्थानका अनुमान कीजिये और वहीं ध्यान कीजिये। यह ध्यानका सर्वोत्तम स्थान है।

साधन-५--नेत्रोंको बन्द करके बायें हाथके अँगूठे तथा तर्जनीसे दोनों नेत्रोंके नाकके समीपके कोनोंपर थोड़ा सा हल्का दबाव डालिये। एक ज्योति दीखेगी। उसीको ध्यान पूर्वक देखते रहिये।

साधन-६—नेत्रोंको बन्द करके सामने देखनेका निरन्तर प्रयत्न कीजिये। जब कोई रंग, बिन्दु या प्रकाश दीखने लगे-उसीको ध्यानसे देखिये। इसमें कई दिनकी प्रतीक्षाके पश्चात् कुछ दीखना प्रारम्भ होगा।

--ये तीनों रूपके साधन हैं तीनोंमें किसी एकको ही करना चाहिये। साथमें भगवन्नाम जप करना उत्तम है।

साधन-७—नाककी अगली नोक (ओष्ठके ऊपरका भाग) पर दृष्टि स्थिर कीजिये। जब कोई गन्ध अनुभव होने लगे तो गन्ध पर ध्यान दीजिये।

साधन-८—एक गुलाबका पुष्प सूँघ कर पृथक रख दीजिये। नासिकाकी नोकपर दृष्टि स्थिर करके गुलाबकी गन्धका चिन्तन कीजिये।

साधन-९—श्वास धीरे-धीरे छोड़िये और धीरे-धीरे खींचते हुए श्वासकी गन्धपर मन स्थिर कीजिये।

—ये तीन गन्धके साधन हैं। इनमें भी कोई एक ही किया जाना चाहिए साथमें नाम-जप किया जाना चाहिए।

शब्दके साधनपर पृथक लेख दिया जारहा है स्पर्शका साधन नहीं दे रहा हूँ; क्योंकि स्पर्श जागृत होते ही अनेक च्युतियोंका भय रहता है। तनिक सी भूलसे भी स्पर्श-साधनामें ज्वर, भयानक जलन जैसे रोग होजाते हैं। यह साधन इस कालमें प्रचलित भी कम ही है बहुत आशंकाप्रद होनेके कारण इसकी ओर प्रलुब्ध न होना ही उत्तम है इसके उपयुक्त अधिकारी अत्यन्त कम पाये जाते हैं।

परमार्थ मार्गमें उन्नतिके लिए लययोगकी साधनाकी एक विधि दी जारही है—

आप अपने आसन या शय्यापर सीधे (शवासन) लेट जाइये। शरीरको ढीला छोड़ दीजिये; किन्तु सर्दीके दिन हों तो ओढ़ना रखिये शरीर-पर—अन्यथा सर्दी लग जायगी।

कमरसे नीचेका पैरका भाग पृथ्वी तत्व है। कमरमें नाभिसे नीचेका भाग जल तत्व है। नाभिसे ऊपर हृदय तकका भाग अग्नि तत्व है। हृदय-से कण्ठ तकका भाग वायु तत्व है। कण्ठसे भ्रूमध्य तकका भाग आकाश

तत्व है। भ्रूमध्यसे पूरा ललाट जहाँसे केश प्रारम्भ होते हैं, प्रकृतितत्व है और उससे ऊपर ब्रह्मतत्व है ऐसा एक बार चिन्तन कर जाइये।

अब चिन्तन कीजिये कि पृथ्वीतत्वका भाग जलतत्वमें लीन होरहा। वह धीरे-धीरे लीन होगया—अब वह अंग है ही नहीं। इसी प्रकार धीरे-धीरे जलतत्वको अग्निमें, अग्निको वायुमें, वायुको आकाशमें, आकाश-को प्रकृतिमें तथा प्रकृतिको ब्रह्ममें विलीन होनेका चिन्तन कीजिये। शीघ्रता इसमें सर्वथा नहीं करनी चाहिए। जब प्रकृतिका लय होगया तो चित्त स्थिर-शान्त हो जायगा। उसीमें स्थित रहना है।

जब उठना हो तब ऊपरसे क्रमशः धीरे-धीरे ध्यान कीजिये कि ब्रह्ममें से प्रकृतिका भाग प्रकट हुआ। प्रकृतिमें से आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल तथा जलसे पृथ्वीके अंग प्रकट हुए। इसके पश्चात् नेत्र खोलने या शरीरके अंग हिलानेका उपक्रम करना चाहिये।

'विशोका वा ज्योतिष्मती'

लययोगका यह अत्यन्त चमत्कार पूर्ण साधन है जीवनके लिए यह बहुत ही महत्वपूर्ण है। यह साधन सिद्ध होजाय तो मनुष्य शोकसे छूट जाता है। घरमें कोई भी प्रियका वियोग हो, कोई मरे, कोई बड़ीसे बड़ी हानि हो; किन्तु उसे शोक नहीं होता। परिस्थितिकी कोई प्रतिकूलता चाहे वह कितनी भी बड़ी हो, भयानक हो, उसे शोकाकुल नहीं कर सकती।

किसी आसनसे बैठ जाइये। दोनों स्तनोंका जो मध्य भाग है उससे ४ अंगुल नीचे जहाँ वक्षकी हड्डी समाप्त होती है, और हल्के धक्केसे भी चोटका अनुभव होता है उस स्थानपर भीतर ध्यान कीजिये कि एक अंगूठे-की अगली (ऊपरी) गाँठके बराबर ज्योति है। यह ज्योति प्रारम्भमें दीखेगी नहीं। इसकी कल्पना करनी होगी। प्रणवके दीर्घ (खींच कर) मन ही मन उच्चारणके साथ इस ज्योतिका ध्यान—कल्पना करते रहिये। ज्योतिके स्पष्ट दर्शन होने लगेंगे तो वह ज्योति आपको शोकसे मुक्त कर देगी। दर्शन ग्रन्थों-में इसीको जीव ज्योति कहा गया है।

आप इनमें से कोई भी साधन करें। यदि विश्वास पूर्वक प्रतिदिन ठीक समय पर आप करते हैं तो ४० दिनसे लेकर ६ महीनेके भीतर आपको अवश्य दिव्यानुभव होने लगेंगे। साधन प्रथम दिन ५ मिनट करना चाहिए।

प्रति सप्ताह दो मिनट बढ़ाते हुए आधे घंटे तक बढ़ा लेना चाहिए। उत्तम अधिकारीको शीघ्र अनुभव होने लगते हैं।

अपने अनुभव सर्वथा गुप्त रखने चाहिए। अनुभूतिका वर्णन करनेपर वह लुप्त हो जा सकती है और आगे प्रगति रुक जा सकती है।

——

मन्त्र एवं यन्त्र साधनका विज्ञान

सम्पूर्ण सृष्टिका जो अभिन्न निमित्तोपादान कारण है, वह तत्व निर्गुण, निर्विशेष, निर्धर्मक निराकार है। उसमें सृष्टि है नहीं, केवल प्रतीत होती है। अतः उस परमतत्त्वकी दृष्टिसे तो सृष्टिकी सत्ता ही नहीं है। वहाँ न कोई विचारक है, न विचार और न विचारणीय है। समस्त विचार उस भूमिपर होते हैं, जहाँ व्यक्तित्व है और उस व्यक्तित्वकी समस्याएँ हैं। व्यक्तिका सुख-दुःख है और उस सुख-दुःखकी प्राप्ति या निवारणके प्रयत्न हैं।

जहाँ सृष्टि है, वहीं व्यक्तित्व है और वहीं प्रयत्न एवं प्रयत्नकी सार्थकता भी है। अतः प्रयत्नके सम्बन्धमें विचार करते समय सृष्टिके नियमोंके सम्बन्धमें अवश्य विचार किया जाना चाहिए। क्योंकि सृष्टि नियमके अनुकूल प्रयत्न सफल होते हैं; प्रतिकूल प्रयत्न सफल नहीं हुआ करते।

प्रयत्न होता है किसी न किसी उद्देश्यकी प्राप्तिके लिए, अतः वह साधन है। जो प्रयत्न किसी उद्देश्यकी प्राप्तिके लिए नहीं है, वह तो चेष्टा या क्रिया मात्र है। उसमें प्रयत्नपना ही नहीं है। अतः सृष्टिके नियमोंका ठीक-ठीक ज्ञान ही साधन-विज्ञान है। यह बात भौतिक-विज्ञानके लिए जितनी ठीक है, आध्यात्मिक-विज्ञानके लिए भी उतनी ही ठीक है; क्योंकि आध्यात्मिक-साधन भी मन-बुद्धि आदिके क्षेत्रमें कुछ प्राप्ति — कुछ परिवर्तनके लिए ही किये जाते हैं।

आजकल स्थूल पदार्थों सम्बन्धी नियम-ज्ञानको ही विज्ञान कहा जाता है; किन्तु स्थूल और सूक्ष्मकी कोई सीमा रेखा आजके भौतिक विज्ञानने बनायी नहीं है। मनके दृढ़ संकल्पका प्रभाव शरीरपर पड़ता है,

यह बात चिकित्सा-विज्ञानको मान्य है। अब मनका संकल्प तो स्थूल क्षेत्रमें आता नहीं। इसी प्रकार शब्द अर्थात् मन्त्र और यन्त्र अर्थात् रेखाएँ केवल इसलिए विज्ञानके क्षेत्रसे बाहर नहीं मानी जानी चाहिए, क्योंकि अब तक भौतिक-विज्ञानने इनके सम्बन्धमें कोई शोध नहीं की है। भौतिक-विज्ञान अभी अपनी शैशवावस्थामें ही है। उसके भविष्यके सम्बन्धमें अभीसे कुछ कह पाना कठिन ही है।

भारतमें स्थूल यन्त्रोंकी शक्ति अर्थात् औषधीय एवं यान्त्रिक शक्तिकी अपेक्षा मन्त्र तथा यन्त्र (रेखा) की शक्तिको अधिक महत्त्व प्राप्त था। इसका कारण यह है कि एक तो ये दोनों शब्द और रेखाएँ सृष्टिके मूल तत्त्व हैं, अतः इनका प्रभाव सृष्टिके आन्तर-बाह्य अर्थात् पदार्थ, शरीर तथा मन-बुद्धि आदि सभी क्षेत्रों तक व्यापक है। दूसरे व्यक्तिको दानवाकार यन्त्रों, असीम उपकरणोंकी पराधीनतासे ये मुक्त करनेमें समर्थ हैं।

सृष्टिमें दो तत्व हैं—नाम और रूप। इन दोनोंको छोड़ देनेपर तो सृष्टि केवल निर्गुण, चित् स्वरूप, अविकारी तत्त्व है। जितने प्रिय-अप्रिय परिवर्तन होते हैं या करने अभीष्ट हैं, सब नाम-रूपात्मक सृष्टिके क्षेत्रमें ही होते हैं या करते हैं। अतः जहाँ जिस क्षेत्रमें साधनकी गति एवं उपयोगिता है, उस क्षेत्रके मूलाधार नाम और रूप ही हैं।

नाम अर्थात् शब्द और रूप अर्थात् रेखाएँ। समस्त नाम शब्दात्मक हैं और सब रूप—सम्पूर्ण आकृतियाँ रेखात्मक ही होती हैं। इन दोनोंके भी मूलमें है कम्पन। आपने यदि भौतिक विज्ञान पढ़ा है तो जानते होंगे वर्तमान युगके महावैज्ञानिक आइंष्टीनने सृष्टिको गतिसापेक्ष माना है। गति ही सृष्टिका मूल कारण भौतिक विज्ञानकी दृष्टिमें है। गति अर्थात् कम्पन।

समस्त वस्तुएँ ही नहीं, देश और काल भी गति सापेक्ष है। वस्तुका एक रूप इसलिए है कि उसके घटक अणुओंमें एक निश्चित गति है। यदि वह गति बदल दी जाय तो वस्तुका रूप कुछ दूसरा ही हो जायगा। मनका संकल्प भी गत्यात्मक ही है।

मन्त्र-विज्ञान

प्रत्येक शब्द एक कम्पन उत्पन्न करता है। आप जब कुछ बोलते हैं तो उससे वायुमंडलमें एक कम्पन होता है और यह कम्पन विश्वव्यापी होता है, यह बात आज रेडियोने सिद्ध कर दी है।

शब्द आकाश तन्मान्त्रिक है। इसका अर्थ है कि शब्दका कम्पन सम्पूर्ण आकाशमें व्याप्त होता है। नियम यह है कि जो जितना सूक्ष्म है, उसका प्रभाव एवं शक्ति उतनी ही अधिक होती है। परमाणु-विखण्डनसे जो शक्ति उत्पन्न होती है, उतनी शक्ति किसी भी स्थूल-पदार्थके विस्फोटसे नहीं उत्पन्न होती; क्योंकि परमाणु बहुत सूक्ष्म है। शब्द परमाणुसे ही सूक्ष्म है; क्योंकि वह परमाणु पृथ्वीतत्त्वका होता है, जिसे विखण्डित किया जाता है और शब्द तो आकाशकी भी तन्मात्रा है। अतः शब्दकी शक्ति अकल्पनीय है। यह दूसरी बात है कि उस शक्तिको प्रकट करना और उपयोगमें लेना हमें न आता हो। हम आप जिन पदार्थोंको उपयोगमें लेते हैं, उन सबमें अरबों-खरबों परमाणु हैं; किन्तु क्या हमको उन परमाणुओंकी शक्तिका ज्ञान है? क्या हम उन्हें काममें लेना जानते हैं? यह काम तो थोड़ेसे वैज्ञानिक ही कर पाते हैं और वे भी तब कर पाते हैं, जब उनको उपयुक्त उपकरण उपलब्ध हों।

हम आप शब्द बोलते हैं—शब्द सोचते हैं। इसका अर्थ है कि वाणीसे और मनसे हम रात-दिन असंख्य शब्दोंसे वैसे ही व्यवहार करते हैं, जैसे हम पदार्थोंके रूपमें असंख्य परमाणुओंसे व्यवहार करते हैं। इस व्यवहारका जैसे परमाणु शक्तिसे सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही शब्द-शक्ति अर्थात् मन्त्र-शक्तिसे भी सम्बन्ध नहीं है। मन्त्र-शक्तिको प्रकट करने और उसको उपयोगमें लेनेका भी एक विज्ञान है; किन्तु वह शास्त्रैक-गम्य है, क्योंकि शब्द स्थूल तत्त्व न होनेसे उसका यन्त्रों द्वारा विश्लेषण अभी तो सम्भव नहीं है।

जैसे प्रत्येक परमाणु अपने आपमें एक पूर्ण इकाई है, वैसे ही प्रत्येक अक्षर अपने आपमें एक सम्पूर्ण इकाई है। इन अक्षरोंको मात्रिका कहते हैं। यह इनका शास्त्रीय नाम है। प्रत्येक अक्षर सानुनासिकोच्चारण रूपमें बीज मन्त्र होता है। जैसे पदार्थ एवं अणुकी अपेक्षा परमाणुमें अत्यधिक शक्ति निहित है, वैसे ही शब्दोंकी अपेक्षा इन बीजाक्षरोंमें अत्यधिक शक्ति है।

परमाणुओंके संयोगसे जैसे अणु और अणुओंसे पदार्थ बनते हैं—कैसे अणुओंके संयोगसे कौन-सा पदार्थ बनेगा यह विज्ञान जानता है; वैसे ही अक्षरोंके संयोगसे शब्द और शब्दोंसे मन्त्र या वाक्य बनते हैं। अक्षरोंके कैसे संयोगसे कौन-सा मन्त्र बनेगा, यह तथ्य ऋषियोंने जाना है और अब हम उनके ग्रन्थोंसे जान सकते हैं।

यह परमाणु शक्ति और शब्द-शक्ति दो हैं—यह भ्रम मनसे निकाल दीजिये। सृष्टिका मूलतत्त्व शक्ति है। वह कम्पन रूपमें व्यक्त होती है। कम्पनसे ध्वनि होती है और ध्वनिका घनीभाव ही परमाणु है। इसीलिए सांख्य दर्शन आकाशसे अर्थात् शब्दसे वायु (गति), वायुसे अग्नि (उष्णता), अग्निसे जल (द्रवत्व) तथा जलसे पृथ्वी (ठोस तत्त्व) की उत्पत्ति मानता है।

प्रत्येक परमाणुमें जो गति है, उसके मूलमें शब्द है। गति होती है तो शब्द होगा ही। शब्द होगा तो गति होगी। अतः अक्षरों या मन्त्रोंका ठीक-ठीक विनियोजन, उनका ठीक प्रयोग परमाणुके तत्त्वोंको ही प्रभावित करता है। इस प्रकार मन्त्र-शक्ति सृष्टिके मूल तत्त्वोंको प्रभावित करनेमें सक्षम है।

शब्द भी जितना सूक्ष्म होगा, उतना शक्तिशाली होगा। इसलिए शास्त्रोंमें वाचनिक (वाचिक) अर्थात् वाणी द्वारा जपकी अपेक्षा उपांशु (विना बोले केवल ओष्ठ और जिह्वा हिलाकर) जपको श्रेष्ठ माना है और उपांशुकी अपेक्षा भी मानसिक जप श्रेष्ठ कहा गया है। यहाँ यह चेतावनी दे देना मुझे आवश्यक लगता है कि मानसिक जप श्रेष्ठ है, इसीलिए मानसिक जपमें मत लग जाइये। जिसका मन स्थिर नहीं है, उसके द्वारा मानसिक जप हो नहीं सकता। मन एक साथ कई काम नहीं कर सकता। जप भी होता रहे और मन संसारकी दूसरी बातोंकी उधेड़बुनमें भी लगा रहे, यह सम्भव नहीं है। होता यह है कि ऐसे लोगोंकी श्वासकी एक निश्चित गति बन जाती है। मन श्वासको वह गति देकर अपनी उधेड़बुनमें लग जाता है। जप होता नहीं; किन्तु भ्रम बना रहता है कि मानसिक जप हो रहा है। इस भ्रममें बने रहनेसे, जप न होनेसे उपांशु जप वहुत बहुत श्रेष्ठ है। अतः मन यदि सर्वथा ही स्थिर न हो तो उपांशु जप करना उचित है।

प्रत्येक अक्षर किसी न किसी तत्त्वका और किसी न किसी देवताका बीज है। जैसे गेहूँके वीजसे गेहूँ उत्पन्न होता है, वैसे उस बीजाक्षरके जपसे अव्यक्त जगतमें जपका कम्पन एक आकृति बनाता है, जो उस बीजके देवताकी आकृति है। वह देवता जिस तत्त्वका अधिदेवता है, वह आकृति उस तत्वको प्रभावित करने लगती है।

सृष्टिमें बहुतसे तत्त्व, कार्य संयुक्त है। अतः अक्षरोंको मिलाकर ऋषियोंने मन्त्र वनाये हैं। कौनसा मन्त्र किस देवताका मन्त्र है, यह निश्चित

कर दिया है। एक देवताके भी अनेक मन्त्र हैं। किस प्रयोजन विशेषसे कौनसा मन्त्र किस विधिसे काममें लिया जाय, यह सब मन्त्र-शास्त्रका विषय है और इस शास्त्रके जानकारसे ही इसे जानकर उपयोगमें लेना चाहिए। जैसे रसायन शास्त्रका ज्ञान ठीक न हो तो धातुओंसे खिलवाड़ करना भयप्रद है, वैसे ही मन्त्र शास्त्रकी ठीक विधिके ज्ञानके बिना मन्त्रोंको मनमाने ढङ्गसे जपनेमें भी हानिका भय है।

यहीं यह स्पष्ट कर दिया जाना चाहिए कि मंत्र-जप एवं नाम-जपमें बहुत अन्तर है। मंत्र सबीज ही होते हैं। उनमें प्रणव अथवा बीजाक्षर या दोनों रहते हैं। उनके जपमें विधि, अधिकारी आदिका ठीक-ठीक विचार होना अत्यन्त आवश्यक है। हमारी श्रद्धा है, अतः हम जपते हैं, यह बात मन्त्र-जपमें नहीं चल सकती। गंधक, पोटास मिलाना हो तो श्रद्धा काम नहीं देती। विधि ज्ञान न हो तो मिलानेवाला जल जा सकता है। इसी प्रकार अनेकोंको गायत्री जप तथा अन्य मंत्र जपसे हानि उठाते मैंने देखा है। मन्त्र-जप अधिकारीको विधिपूर्वक ही करना चाहिये। भगवन्नाम जपके सब अधिकारी हैं। नाम-जपमें विधिका बन्धन नहीं है। नाम-जप श्रद्धाके अनुसार लाभ करता है। नाम-जपमें हानिकी कोई किसी प्रकार सम्भावना नहीं है।

यन्त्र-विज्ञान

आपने लोगोंको बीसा, सोलहका या और कोई यन्त्र बनाये अथवा पूजते देखा होगा। श्री यन्त्र तो बहुत ही प्रसिद्ध यन्त्र है। ऐसे ही सभी देवताओंके यन्त्र हैं। आजकल यन्त्र-ज्ञान तथा यन्त्र-पूजन घट गया है; किन्तु यह उपासनाका मुख्य अंग था और मन्त्रके साथ यन्त्र-पूजन अनिवार्य माना जाता था किसी समय। जैसे मंत्रका जप किया जाता है अर्थात् उसे बार-बार दुहराया जाता है तब मंत्र सिद्ध होता है, वैसे ही यन्त्रका पूजन होता है और यंत्र बार-बार वस्तु विशेष (भूर्जपत्रादि) पर विशेष लेखनी एवं गन्ध (चन्दनादि) विशेषसे बार-बार लिखा जाता है। संख्या विशेषमें लिखनेपर यंत्र सिद्ध होता है।

सिद्ध यंत्रका पूजन होता है अथवा उसे भुजाकण्ठादिमें धारण किया जाता है। जिस मन्त्रका जप करते हैं, उस मंत्र-देवताके यंत्रका पूजन भी किया जाय तो मंत्र-सिद्धि शीघ्र होती है।

देवताकी मूर्तिकी अपेक्षा देवताके यंत्रको शास्त्रने अधिक महत्त्वका माना है। मूर्तिके पूजनकी अपेक्षा यन्त्र-पूजन देवताके अधिक निकट है, ऐसी मान्यता मंत्र शास्त्रोंकी जान पड़ती है। स्पष्ट ही मैं यहाँ उपासना अर्थात् भक्ति-शास्त्रकी बात नहीं कह रहा हूँ; क्योंकि भक्तिमें तो भावोद्दीपनका उत्कर्ष माध्यम मूर्ति ही है। यन्त्रको मंत्र-शास्त्र देवताका श्रीविग्रह ही मानते हैं। अनेक सिद्धपीठोंमें देवमूर्तिके स्थानपर यन्त्र ही पूजित होता है।

शब्द-मन्त्रके उच्चारणसे अव्यक्त जगतमें जो रेखाएँ बनती हैं, वे मानवाकार देवमूर्ति प्रायः नहीं बनातीं। उनके द्वारा रेखा-मूर्ति अर्थात् यन्त्र मूर्ति बनती है। अतः मन्त्रके साथ यन्त्रका सम्बन्ध घनिष्ठ है।

जब हम एक रेखा खींचते हैं, तब परमाणुओंको एक निश्चित गति दे देते हैं। यदि रेखा धातु आदिपर है तो एक निश्चित आकार परमाणु धारासे बना रही है फलतः उस निश्चित आकारका यदि कोई सृष्टिके किसी तत्त्वका अधिदेवता है तो वह उससे प्रभावित होता है। यन्त्रके बार-बार लेखनसे भी यही होता है। वह रेखा एक शब्द-मन्त्रका रूप व्यक्त कर रही है। अतः यन्त्र-निर्माण एवं यन्त्र पूजनमें भी विधि एवं अधिकार सम्बन्धी वे सब सावधानियाँ आवश्यक हैं, जो मन्त्र जपके लिए आवश्यक।

श्रीजगन्नाथपुरी पीठके वर्तमान जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजी महाराजसे मैंने प्रश्न किया था—'यन्त्रमें जो मन्त्राक्षरोंका न्यास होता है, वह हिन्दीका जानने वाला अपनी लिपिमें, बंगलाका जानकार अपनी लिपिमें तथा अन्य भाषाओंके जानकार अपनी-अपनी लिपियोंमें लिखेंगे। इन लिपियोंके आकारोंमें बहुत अन्तर है। यदि यन्त्रकी रेखाएँ ही प्रभाव उत्पन्न करती हैं तो विभिन्न लिपियोंके अक्षरोंकी रेखाओंमें जो अन्तर है, उससे यंत्रके प्रभावमें क्या अन्तर नहीं आ जाता ?'

श्रीशंकराचार्यजी महाराजने जो उत्तर दिया, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने कहा—'यन्त्रका स्वरूप केवल रेखा मात्र है। उसमें जो त्रिकोण, पञ्चकोणादि बनते हैं, वही मुख्य हैं। उनमें जो अक्षर लिखे जाते हैं, उनका लिखना आवश्यक नहीं है। वे तो यह सूचित करनेको लिखे जाते हैं कि यन्त्रके अमुक स्थानपर पूजनके समय अमुक अक्षरका न्यास करना है।

लेकिन जो संख्यात्मक यन्त्र हैं, उनमें संख्याएँ देवनागरी संख्याओंकी आकृतिमें लिखी जानी चाहिए—यह बात ध्यानमें रखने योग्य है। ग्रन्थोंमें अक्षरों एवं संख्याओंकी आकृतिके कोण निर्दिष्ट हैं। वे कोण न बदलें–यह बात तो आवश्यक ही है।

यन्त्र सूक्ष्म दिव्य शक्तियोंको आकर्षित एवं प्रभावित करनेवाली आकृतियाँ है। अतः मन्त्र-साधनाके साधकको अपनी साधनाके उपयुक्त यन्त्र रखने तथा उसकी पूजा करनेसे अधिक शीघ्र लाभकी सम्भावना हो जाती है। यन्त्रोंके विषयमें जानकारी रखनेवाले लोग देशमें कम अवश्य होगये हैं; किन्तु सर्वथा नहीं हैं, ऐसा नहीं है। जिज्ञासु खोज करनेपर उपयुक्त निर्देशक प्राप्त कर ही लेते हैं।

आध्यात्मिक साधन और औषधियाँ

इतिहास पुनरावृत्ति करता है, यह बात बहुत अधिक क्षेत्रोंमें सत्य होते देखी गयी है। आज अमेरिकाके हिप्पी गलेमें रंग-बिरंगे काँचकी मणियोंकी माला पहने, बाल बिखेरे घूमते हुए भारतके किसी बड़े नगरमें देखे जा सकते हैं। अमेरिकामें 'एल० एस० डी०' का नशा व्यापक होता जा रहा है और वहाँके हिप्पियोंमें गाँजे या चरसकी दम लगानेकी धुन भी फैलने लगी है।

भारतमें अब भी दम लगानेवाले बाबाजी लोगोंकी संख्या पर्याप्त है। वैसे अब यह प्रवृत्ति साधुओंमें घटती जारही है। कुछ ही दशक पूर्व यह प्रवृत्ति साधुओंमें बहुत बड़ी थी। केवल गाँजा या चरसकी चिलम तो, ऐसी बात नहीं है। बूटी-छाननेकी प्रथा भी व्यापक थी और अब भी निर्मूल नहीं हुई है।

इस लेखका यह अर्थ नहीं है कि मैं मन्त्र-यन्त्रका ज्ञाता हूँ। मै केवल इनके सिद्धान्त पक्षका व्याख्याता हूँ। अतः मन्त्र या यन्त्रके अनुष्ठानोंका निर्देश मैं नहीं कर सकता।

गाँजा या चरसका एक गुण या दुर्गुण है कि उससे काम प्रवृत्ति कम हो जाती है। क्रोध अवश्य ही बढ़ जाता है। भाँगके नशेमें व्यक्ति जिधर लगता है, उधर ही उसकी प्रवृत्ति लगी रहती है। पढ़ा और सुना है कि 'एल० एस० डी०' का नशा आसपासके दृश्योंसे तादात्म्यका अनुभव करा देता है।

'मनकी अमुक स्थिति आध्यात्मिक उन्नति है और वह प्राप्त हो जाय तो मनुष्य मुक्त हो जाता है अथवा मोक्षकी ओर प्रगति कर लेता है, यह भ्रम कुछ आज ही लोगोंमें नहीं फैला है। यह भ्रम बहुत पुराना है और इसी भ्रमके कारण बहुतसे कच्चे साधक भी नशेका सेवन करने लगते हैं। जो नशेकी मादकताके लिए नशेका सेवन करते हैं, उनकी बात ही छोड़ देनी चाहिये, वे तो साधक नहीं हैं। उनका वेश कुछ भी हो, वे नशेके गुलाम लोग हैं।

हम आप प्रतिदिन कुछ घंटे निद्रा लेते हैं। उस समय मन न कुछ सोचता न करता; किन्तु यह अवस्था समाधि तो नहीं है। इसी प्रकार क्लोरोफार्म सुँघाकर किसीको संज्ञाशून्य किया जा सकता है। संसार और शरीरकी सुधि भूल जानेका नाम समाधि हो तो डाक्टर किसीको मूर्च्छित कर दे सकता है।

'भंग पीकर बैठनेपर ध्यान अच्छा लगता है' कई साधकोंसे मैंने यह सुना है। हो सकता है कि गाँजा या चरस भी ऐसा ही कुछ प्रभाव उत्पन्न करता हो।

'एल० एस० डी०' का प्रचलन करनेवाले महोदय भी अपनेको आध्यात्मिक होनेका दावा करते हैं। अमेरिकाके हिप्पियोंको आप यदि आवारा समझते हैं तो भूल करते हैं। अपने यहाँ जैसे गाँजा या भाँग कुछ साधू सम्प्रदायोंमें पहले साधनका अंग माना जाता था, वैसे ही अमेरिकामें अब यह नवीन नशा साधनका अङ्ग माना जाता है और ये हिप्पी किशोर-किशोरियाँ आध्यात्मिक पिपासाके कारण भटकनेवाले लोग हैं, जो भ्रमवश कुछ नशेकी मादकतावश इस नवीन नशेके प्रचारकोंके चंगुलमें फँस गये हैं।

एक मनुष्यको निद्रामें उठकर चल देनेका रोग है। वह निद्रामें उठकर चल देता है और मन्दिर जाता है, जप करता है, ध्यान करता है और फिर सो जाता है। इस निद्रामें किये गये कामोंसे उसे कोई पुण्य होता है ? उसे कोई आध्यात्मिक लाभ होता है ?

बात समझमें न आयी हो तो दूसरा दृष्टान्त लीजिये । एक ग्रामोफोन रिकार्ड भगवन्नाम कीर्तनका भरा है । ऐसी व्यवस्था है कि रिकार्ड रात-दिन बजता रहे, कितने वर्ष रिकार्ड बजे तो आप उस मशीनको भक्त मानेंगे ? कितने वर्ष रिकार्ड बजनेपर भगवान उस मशीनको दर्शन देने पधारेंगे ?

यह शरीर मशीनके समान ही जड़ है । अनजानमें, नींदमें जो कर्म होते हैं, उनसे पाप-पुण्य नहीं होता, यह आप जानते हैं । जैसे वृक्षकी डाल टूट कर गिरे और किसीको चोट लग जाय तो वृक्षको पाप नहीं लगता, वैसे ही नींदमें हाथ मच्छर मार दे या किसी कारण किसी पूज्यको ही चोट लग जाय यो पाप नहीं होता । पाप-पुण्य, जन्म-मरण होते हैं संस्कारके अनुसार और संस्कार चित्तपर तब बनता है, जब आप जानबूझ कर सावधानीसे काम करते हैं ।

आप जब नशा सेवन कर लेते हैं तब ध्यान भले लग जाय ; किन्तु वह ध्यान न तो चित्तके दोष दूर करता, न चित्तकी चंचलता मिटाता है । वह ध्यानतो नशेके आवेशने किया, जैसे कोई डाकू बलपूर्वक आपसे कुछ करा ले । गाँजेके नशेने कामवृत्तिको दबा दिया, यह काम-जय नहीं हुआ । इससे कोई आध्यात्मिक लाभ नहीं हुआ ।

जब आप मनके किसी दोषसे संघर्ष करते हैं तो वह दोष घटता है । चित्तके मल धर्मा-चरणसे दूर होते हैं । ध्यानादिसे चित्तका विक्षेप मिटता है । लेकिन जब आप इसी कामको किसी नशेके द्वारा करते हैं तो नशेके दास बन जाते हैं । केवल नशेके समय तक दोषकी शान्ति या एकाग्रता रहती है । यह दोष-शान्ति एवं एकाग्रता साधनके क्षेत्रमें वस्तुतः कोई मूल्य नहीं रखती ।

एक अत्यन्त कामुक व्यक्ति जब कामके आवेशमें हो, उसके पास एक सर्प या बिच्छू छोड़ दें या अपमान करदें, तो उसका कामावेश भय अथवा क्रोधमें बदल जायगा ; किन्तु इससे लाभ ? उसके मनपर इसका कोई स्थायी प्रभाव पड़ा ? इसी प्रकार नशेका आवेश जो मनको किसी ओर लगा देता है या कोई वेग दुर्बल कर देता है, उससे कोई लाभ नहीं है ।

'एल० एस० डी०' आसपासके दृश्योंसे कब तक तादात्म्यका अनुभव करायेगा ? जब तक नशा रहेगा । यह कोई आध्यात्मिक स्थिति नहीं है । नशा दूर होनेपर भेदभाव पूर्ववत् बना रहेगा । समस्त भूतोंसे तादात्म्यानुभव जब ज्ञानके द्वारा होता है, तब भेदका भ्रम सर्वथा मिट जाता है ।

इसलिए साधकको यह बात समझ लेनी चाहिए कि महत्त्व उस स्थितिका नहीं है जो नशे आदिके द्वारा प्राप्त होती है। ऐसी स्थिति तो नगण्य ही नहीं है, हानिकर है, पतनका हेतु है ; क्योंकि नशा तमोगुण बढ़ाता है और अमुक स्थिति प्राप्त हो जानेका अहंकार तथा भ्रम और बढ़ जाता है। महत्त्व उस प्रयत्नका—साधनका है जो मनके दोषोंको दूर करने और चित्तको एकाग्र करनेके लिए किया जाता है ; क्योंकि यह साधन ही चित्तको निर्मल एवं स्थिर बनाता है।

'यदि थोड़ी भी बूटी सेवनसे चित्त ध्यानमें लग जाता है तो उसके सेवनमें क्या दोष है ? एक बार एक साधकने पूछा था।

'कुत्तेकी पूँछको सीधी लकड़ीमें बाँध दिया तो वह सीधी हो गयी ?' मैंने पूछा।

वे बोले--'ऐसे तो वह कभी सीधी नहीं होगी। लकड़ी खोलते ही ज्यों की त्यों हो जायगी।'

मैंने कहा—'यदि आपरेशन कराके अथवा बिजलीके झटके देकर उसे सीधी करदें ?

वे - 'इस रीतिसे वह सदाको सीधी हो सकती है।'

मैंने समझाया—'मन कुत्तेकी पूँछ है। यह स्वभावसे संसारमें लगता है। अब आपने भंग छानकर ध्यान करना प्रारम्भ किया तो ध्यान अवश्य लग गया ; किन्तु इससे लाभ ? नशा उतरा और मन जैसे का तैसा। उल्टे नशेसे होनेवाली शारीरिक और मानसिक हानियाँ और होने लगीं। आप इस भ्रममें भी पड़ गये कि ध्यान गम्भीर हुआ। नशेकी लकड़ी बाँधकर दो क्षणमें कुत्तेकी पूँछ आपने सीधी देख तो ली ; किन्तु प्रयत्न परिणामहीन है।'

वे बोले—'आपका तात्पर्य है कि साधन-भजन संयम आपरेशन करनेके समान हैं ?'

मैंने कहा—'आप स्वयं सोच देखें कि जब हम मनके दोषोंसे संघर्ष करते हैं या मनको भगवानके ध्यानमें लगाते हैं तो परिवर्तन चाहे जितना कम हो, चाहे जितनी देरसे हो ; किन्तु मनकी मूल बनावटमें होता है या नहीं। यही परिवर्तन आध्यात्मिक साधन कहलाता है।'

नशा केवल नशा-सेवनका संस्कार डालता है। वह दूसरा संस्कार न डालता है, न बदलता है। अतः नशेको साधनके क्षेत्रमें स्थान नहीं है। जब

भी नशेको साधनमें सहायक माना जाता है—वह आज माना जाय या शताब्दियों पूर्व माना गया हो, भारतमें माना जाय या अमेरिकामें, सदा और सब कहीं इससे हानि हुई है—हानि होती है। नशेके सेवनसे साधक या सिद्ध नहीं बनते। नशा तो अनुत्तरदायी, क्षीण पौरुष, उच्छृङ्खल लोगोंकी भीड़ ही बढ़ाता है।

साधन विशेषमें औषधि विशेषकी उपयोगिता नहीं है, यह बात नहीं कह रहा हूँ ; किन्तु वे औषधियाँ होती हैं और औषधियोंके समान ही उनका उपयोग होता है। सबके लिए एक औषधि नहीं हुआ करती। रोगीके अनुसार औषधि होती है। जैसे—

१—खेचरी-मुद्राका साधन जिनको करना है, उनको जिह्वाका दोहन करते समय कुछ औषधियाँ जिह्वापर मलनी पड़ती हैं। जायफल, नमक, कालीमिर्च या पीपल, अंकोलका चूर्ण जिह्वापर मलना प्राय: प्रचलित है। जिह्वामूलकी नसके छेदनके उपरान्त उसपर हर्रका चूर्ण मला जाता है।

२—शब्द-साधन करनेवाले कानमें तुलसी या पद्मकाष्ठकी गुटिका लगाते हैं। जायफल, जावित्री, कस्तूरी, कपूरके चूर्णसे भी गुटिका बनायी जाती है।

३—कुण्डलिनी साधनामें नाभि-चक्रका भेदन होनेपर जब पूरे शरीरमें तीव्र दाहका अनुभव होने लगता है तो पूरे शरीरमें चन्दन लगाया जाता है। कुछ पित्तशामक शीतल औषधियाँ भी सेवन करायी जाती हैं।

४—आजकल रसेश्वर सम्प्रदायके सिद्ध-साधक मिलते नहीं हैं। इस सम्प्रदायमें सिद्ध पारदका निर्माण करके उससे देहसिद्धि प्राप्त करनेकी प्रथा थी। अब यह ज्ञान लुप्त हो गया है।

इस प्रकार अनेक औषधियोंका साधन विशेषमें अवसर विशेषपर सेवन किया-कराया जाता है। आचार्य एवं सम्प्रदाय भेदसे एक ही अवसर पर एक ही प्रयोजनके लिए प्रयुक्त होनेवाली औषधियोंमें भी भेद पाया जाता है।

सामान्य साधनके लिए औषधियोंका यह ज्ञान अनावश्यक है। उसे साधनका निर्देश जो करेगा, वही उपयुक्त समयपर सेवनीय द्रव्यका भी निर्देश करेगा। औषधियोंका उपयोग केवल खाने या लगानेके रूपमें ही नहीं होता। सूँघने, समीप रखने तथा हवन द्रव्यके रूपमें भी होता है। अनेक

बार द्रव्य विशेषसे नस्य लेने या बस्ति लेनेकी विधि भी होती है। जैसे न्योलीमें गौघृतका नस्य लिया जाता है यदि नासाछिद्रमें वर्तिका घर्षणसे रक्त आगया हो।

सामान्य साधकके लिए भी कुछ औषधियाँ उपयोगी हैं। उनका थोड़ा सा संकेत नीचे किया जा रहा है—

१—यदि आप साधनके लिए देर तक बैठते हैं तो ध्यान रखिये कि रेतमें या पत्थरपर न बैठें। रबड़ या रुईके गद्दे पर भी नहीं ; अन्यथा कालान्तरमें बवासीर होनेका भय है। यदि मल सूखा आने लगा है तो आसनमें व्याघ्र या मृगका चर्म बिछाना उत्तम है।

२—ध्यानका प्रयत्न देर तक करनेसे सिर भारी हो जाता है, निद्रा घट गयी है। कब्ज हो भी सकता है, नहीं भी। ऐसी अवस्थामें आहारमें गायका घी बढ़ाइये। ब्राह्मीका चूर्ण ३ माशे और गर्मियोंमें इसमें सहदेवी बूटीका चूर्ण भी ३ माशे मिलाकर दूधके साथ या चीनीके साथ प्रातःकाल लीजिये।

२—अनेक बार अकारण साधकको कोष्ठबद्धता हो जाती है। रात्रिमें ३ माशे छोटी हरड़का चूर्ण लेकर दूध या शीतल जल सोते समय पीजिये।

४—मल-मूत्रमें वीर्य जाने लगा है या विना स्वप्नके स्वप्नदोष हो जाता है। दूर्वा घासका रस (विना पानी डाले) १ तोला निकाल कर सवेरे पीजिये ।

५—शरीरमें उष्णता वढ़ गयी है या पाचन ठीक नहीं होता, सात पूरे विल्वपत्र शामको चबा लिया कीजिये।

६—वार बार सर्दी-जुकाम हो जाता है तो जलन्योली कीजिये अर्थात् प्रतिदिन नाकसे पानी पीजिये।

७—नाकसे रक्त गिरने लगा है—दूर्वारस, केशर और गायके घीका नस्य लीजिये।

यहाँ ध्यान यह रखना चाहिए कि मैंने रोगोंकी ये औषधियाँ नहीं लिखी हैं। ये औषधियाँ साधकको, साधन कालमें, साधनके किसी दोषसे हो जानेवाले कष्टोंकी औषधियाँ हैं। वैसे सामान्य रोगोंमें भी इनसे कुछ न कुछ लाभ अवश्य होता है।

साधकके शरीरमें साधनके समय अनेक परिवर्तन होते हैं। खान-पानके सम्बन्धमें थोड़ा-बहुत असंयम होनेसे, जलवायु दोषसे, विश्राम-निद्रामें व्यतिक्रम होनेसे कोई कष्ट उसे हो जाय तो उसके उपचारके लिए आसन, मुद्रादि सबसे उपयुक्त हैं। औषधि-प्रयोग कम ही करना साधकके लिए श्रेष्ठ होता है। तीक्ष्ण औषधियों तथा रसभस्मादिका प्रयोग प्रायः नहीं किया जाता है।

साधनके विघ्न और उनके निवारणके उपाय

साधनमें विघ्न भी रोगोंके समान तीन प्रकारके होते हैं— १. आधिभौतिक, २. आधिदैविक, ३. आध्यात्मिक।

आधिभौतिक विघ्न

जो विघ्न किन्हीं प्राणियों-पदार्थोंकी अनुकूलता प्रतिकूलतासे आते है अथवा अपने शरीरके कारण आते हैं, उन्हें आधिभौतिक विघ्न कहा जाता है। इनमें रोग, आवश्यक स्थान एवं साधनोंका अभाव, मनुष्यों अथवा अन्य प्राणियोंके द्वारा विक्षेप डाला जाना, मौसमकी प्रतिकूलता आदि हैं।

रोग—आपका शरीर किसी जटिल एवं दीर्घकालीन रोगसे ग्रस्त है तो अपने स्वास्थ्यको देखते हुए साधन कीजिये। दमा, यक्ष्मा आदि जैसे रोगोंसे ग्रस्त व्यक्ति हठयोगका साधना चाहेगा तो उसको सफलता कैसे मिल सकती है ?

साधन करते हुए रोग होगया तो पहले देखिये कि किसी अपथ्य अथवा बाहरी कारणसे रोग हुआ या साधनमें किसी दोषसे हुआ। रोगके कारणको पहले दूर किया जाना चाहिए। योगके साधकोंको तो आसन प्राणायामादिकी क्रियाओंके द्वारा ही अपना रोग दूर करना चाहिए। दूसरे साधकोंको भी जहाँ तक बन सके तीक्ष्णौषधि जैसे विष, रस तथा इन्जेक्शन आदि न लेकर काष्ठौपधिसे, मृदु औषधियोंसे रोगका उपचार करना चाहिए।

साधकके लिए औषधि न लेनेका नियम उपयोगी नहीं है। उसका मुख्य लक्ष्य साधन है। अतः औषधिके द्वारा रोग दूर करके अपने साधनमें रहना उसके लिए उपयुक्त है।

साधारण तात्कालिक रोगोंके होनेपर उपवास फल या दूध मात्र लेना और आवश्यक हो तो कोई हल्की दवा लेना अच्छा रहता है। होम्योपैथिक औषधियाँ तथा जड़ी-बूटी, प्राकृतिक-चिकित्सा, सूर्य-किरण-चिकित्सा-ये साधकके अनुकूल पड़ने वाली पद्धतियां हैं।

उपकरणाभाव—साधन विशेषके लिए कुछ उपकरण आवश्यक होते हैं। जैसे यज्ञ करना हो तो यज्ञ सामग्री चाहिए। पूजन करना हो तो धूप, पुष्प, चन्दन, नैवेद्यादि चाहिए। किसी साधनमें मृगचर्म या व्याघ्रचर्मका आसन आवश्यक होता है। प्राणायाम विशेष करनेवालेको घी, दूध या फल चाहिए। सामान्यरूपसे भी एकान्त स्थान, वर्षा अथवा धूपमें इनसे बचाव हो, ऐसा स्थान आवश्यक है।

इसमें यह बात ध्यान रखने योग्य है कि साधक जितना ही पराश्रित होगा, उसके साधनमें उतना विक्षेप आवेगा। अतः दूसरोंके आश्रित जहाँ तक होसके, किसी बातके लिए मत बनिये, जैसे आपको गंगाजल ही पीना है और गंगाजल मील भर दूरसे आता है तो आप जल लाने वालेके पराश्रित हो गये। इसी प्रकार चन्दा करके यज्ञ करना, दूसरेके बगीचेसे पुष्प लेकर पूजा करना पराश्रित होना है।

आपके पास जैसी आर्थिक स्थिति है, जैसी सुविधाएँ उपलब्ध हैं, आप उसके अनुसार अपने साधनको बनाइये। कोई बहुत ही आवश्यक हो तब किसीसे भले माँग लें; किन्तु प्रतिदिन दूसरोंसे लेना पड़े, ऐसी कोई वस्तु साधनमें आवश्यक मत रखिये। जैसे पुष्प, चन्दन, धूप, नैवेद्यकी व्यवस्था स्वयं नहीं कर सकते तो मानसिक पूजा कीजिए, बाहरी पूजा मत कीजिए।

आपके पास कुटिया नहीं है तो ऐसा योगध्यान मत प्रारम्भ कीजिए कि कुटिया बनवानेके लिए चन्दा करना पड़े। मानसिक जप कीजिए और ऐसे ढंगका ध्यान कीजिए जो कहीं भी बैठकर किया जा सकता हो।

कोई साधु एक कमण्डलु या मृगचर्म मांग ले—यहाँ तक ठीक है; किन्तु ये न मिलें तो इनसे भी निरपेक्ष रहना ही उत्तम है। अमुक आहारकी व्यवस्था सरलतासे न हो सकती हो तो जिस साधनमें वह आवश्यक है, वह साधन मत कीजिए।

तात्पर्य यह है कि सबसे बड़ा साधन निरपेक्षता है। अपेक्षाएँ बढ़ाकर जो साधन होगा, वह तो विक्षेपोंको अपने साथ ही ले आवेगा।

प्राणियों द्वारा विक्षेप—मक्खी-मच्छर, सर्प-विच्छू, छोटे कीड़े, चींटियाँ नहीं, पशु और पक्षी भी अनेक बार विघ्न बन जाते हैं। सबसे अधिक विघ्न पड़ता है मनुष्योंसे।

इसमें साधक की एक दृष्टि है कि दूसरोंको मारकर, दूसरोंको सताकर दूसरोंको उत्पीड़ित करके उसे अपनी निर्विघ्नता नहीं प्राप्त करनी है। मक्खी-मच्छर, सर्प-विच्छू, छोटे-कीड़े और चींटियाँ विषैली औषधियां अथवा विषैले धुएँसे मार दिए जा सकते हैं; किन्तु यह साधकके उपयुक्त मार्ग नहीं है। पहले तो स्थान ऐसा चुनिये कि इनके उपद्रव वहाँ न हों या कम हों। बीचमें बढ़ जायँ तो कोई सौम्य उपाय अपनाइये।

स्थानको तथा आसपासको स्वच्छ कर दीजिए। चद्दर ओढ़ कर या मच्छरदानी लगा कर बैठिए। चींटियोंका उपद्रव हो तो तख्तेपर बैठिए—सोइए। बिच्छूको चिमटेसे पकड़ कर दूर फेंक दीजिए। कमरेमें राई छिड़क कर एक दो दिन उसे पड़े रहने दीजिए तो सर्प चला जायगा, फिर नहीं आवेगा। इस प्रकार परिस्थिति देखकर सरल सौम्य उपाय कर लेना चाहिए।

सबसे कठिन मनुष्योंसे पड़ने वाला विक्षेप होता है। पड़ोसमें कोई उच्च स्वरमें रेडियो बजाता है या पड़ोसी लड़ते झगड़ते हैं। आपके यहाँ लोग आजाते हैं और बाधा देते हैं। अनेक अवस्थाओंमें बदलनेकी भी स्थिति नहीं होती। तब आप साधनका समय बदल लीजिए। जब दूसरे सोवें तब आप जागकर भजन कीजिए। दूसरे लड़ें झगड़ें तो आप लम्बी तानिए।

मौसमकी प्रतिकूलता—साधकको मध्यम मार्ग अपनाना चाहिए, यदि तप ही उसका साधन नहीं है। मध्यम मार्गका अर्थ है कि कुछ कष्ट-निवारण और कुछ कष्ट सहन किया जाय। शीतकालमें आग जला ली, कुछ ओढ़ लिया और स्नानादिके समय शीत सह लिया। गर्मियोंमें खुले स्थानमें बैठ गये और कुछ गर्मी सह ली। बहुत तितीक्षाका हठ भी नहीं और वातानुकूलित कमरा ही मिले, यह दुराग्रह भी नहीं।

तितीक्षा उतनी अनिवार्य हो। सुगमतासे मौसमका कष्ट मिटता हो तो उसका प्रबन्ध करके साधन-भजनमें लग जाना चाहिए। इस प्रकार तितीक्षाके आग्रह या पदार्थ-संग्रह, इन दोनोंको विक्षेप नहीं बनने देना चाहिए।

आधिदैविक विघ्न

जब देवताओंके द्वारा साधनमें कोई विघ्न आता है तो उसे आधि-दैविक विघ्न कहते हैं। ऐसे विघ्न किस रूपमें आवेंगे, कुछ कहा नहीं जा सकता; किन्तु उसके निवारणका उपाय तो होता ही है।

गोस्वामी तुलसीदासजी काशीमें रहते थे; किन्तु काल-भैरवका दर्शन करने नहीं गये कभी। काशीके उन कोतवालके रोषके कारण गोस्वामी-जीकी बाहुमें फोड़ा हो गया, बड़ी पीड़ा हुई।

साधक जहाँ रहता है उस स्थानके कोई मुख्य देवता हों तो उनका दर्शन-पूजन कर लेनेमें निष्ठाभंगका कोई प्रश्न नहीं आता। ऐसा कर लिया जाना चाहिए। अनेक बार अनजानमें देवापराध हो जाता है, जब उसका पता लग जाय तो उचित परिमार्जन किया जाना चाहिए। देवता अच्छे साधकसे कोई अपराध हो जाय तो उसके साधारणपूजन, प्रणाम मात्रसे संतुष्ट होजाते हैं।

'स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणम्।'

—योग दर्शन

अच्छा साधक कहीं साधन करने लगता है तो उस स्थानका अधि-देवता उस साधकका सत्कार करना चाहता है। जैसे किसी सज्जन व्यक्तिके घरके पास कोई संत भजन करने लगे तो सज्जन पुरुष स्वतः संतकी कुछ सेवा करना चाहते हैं। लेकिन ऐसी परिस्थितिमें संत सेवा यदि स्वीकार करने लगें तो धीरे-धीरे उन सज्जनके प्रति उनका राग हो जायगा और अपने साधनसे वह च्युत हो जायगा।

अनेक बार स्थानाधिदेवता स्वप्नमें या प्रत्यक्ष दर्शन देकर साधकको कुछ माँग लेनेको कहते हैं अथवा बिना माँगे कोई वस्तु, मन्त्र या वरदान देना चाहते हैं। योग-दर्शनने इसे विघ्न माना है। देवताका वह वरदान या वस्तु स्वीकार करली तो देवतामें आसक्ति हो जायगी उस देवताके ही सेवक बन कर रह जाओगे। अतः उसे नम्रता पूर्वक अस्वीकार कर दिया जाना चाहिए। साथ ही यह घमण्ड भी मनमें नहीं आना चाहिए कि 'तुम इतने ऊँचे साधक हो कि देवता बिना बुलाये तुम्हें दर्शन और वरदान देने आया और तुम इतने निस्पृह हो कि देवताका वरदान तुमने अस्वीकार कर दिया।' यह घमण्ड मनमें आवेगा, तब भी साधका पतन हो जायगा।

आधिदैविक बाधाका एक तीसरा रूप है भय-दर्शन। उपासना-विशेषमें और अनेक सकाम उपासनाओंमें भयप्रद दृश्य दीखते हैं। लगता है कि वे सत्य हैं। साधकको ऐसे समय न हिलना चाहिए, न भागना चाहिए और न घबड़ाना चाहिए। कुछ भी दीखे, उसे अपना साधन नहीं छोड़ना चाहिए।

यहां एक उदाहरण पर्याप्त होगा। एक सज्जन नर्मदाके मध्यमें मचान बनाकर (चार खम्भे गाड़ कर उसपर झोपड़ी लगाकर) रहकर एक अनुष्ठान करने लगे। नर्मदामें केवल वहाँ कमर तक जल था गर्मीके दिन थे। एक चाँदनी रातमें जब वे बैठे जप कर रहे थे तो उन्हें प्रत्यक्ष दीखा कि नर्मदाका जल बढ़ रहा है। जल बढ़ता गया, फैलता गया ऊँचा चढ़ता गया। उनको लगा कि जल उनकी झोपड़ी तक आ पहुँचा है और झोपड़ीमें आने वाला है, घबड़ा कर वे कूद पड़े। नीचे केवल वही कमर तक जल था; किन्तु चोट लगी और अनुष्ठानका महीनोंका श्रम तो व्यर्थ हो ही गया।

अनेक वार सर्प, व्याघ्र, विच्छू या प्रेत दीखते हैं। यह भी हो सकता है कि वे अपने सर्वथा समीप आते या सिर गिरते ही से लगें। होता कुछ नहीं. साधकका स्पर्श नहीं करना; किन्तु साधक धैर्य छोड़कर अपने आसनसे उठ भागे तो पागल हो सकता है या मर भी सकता है। उसे स्थिर बैठे ही रहना चाहिए।

आध्यात्मिक विघ्न

अध्यात्मका अर्थ है शरीरके भीतर अर्थात् मन-बुद्धिके कारण जो विघ्न आते हैं, उनको आध्यात्मिक विघ्न कहते हैं। आध्यात्मिक विघ्नोंके निवारणका उपाय है श्रद्धा और सत्संग।

शंका, सन्देह, बुद्धि-विपर्यय, ऊवना आदि आध्यात्मिक विघ्न हैं। आप देरसे साधन कर रहे हैं और लगता है कि कोई लाभ नहीं होरहा है तो मन उस साधनसे ऊबने लगता है। अपने साधनमें दृढ़ निष्ठा हो तो मन ऊबनेपर भी साधक उस साधनको छोड़ता नहीं है।

किसीने - किसी विद्वान या संतने ही किसी दूसरे साधनकी बहुत प्रशंसा की। अथवा कहीं प्रशंसा पढ़ ली। उसे बहुत सुगम और महान बतलाया गया है तो मनमें लोभ जागता है कि अपना साधन छोड़कर उसे करना कदाचित अधिक अच्छा होगा। अब यदि अपने गुरुमें श्रद्धा है और साधनमें

निष्ठा है तो साधक मनके प्रलुब्ध होनेपर भी टिका रहेगा, अन्यथा विचलित होजायगा।

अनेक बार बुद्धि उल्टी होजाती है। साधकको साधन-भजन व्यथ लगने लगता है अथवा सन्देह होजाता है कि वह जो कुछ कर रहा है, वह ठीक भी है या नहीं। ऐसी अवस्थामें उसके लिए सत्संग परमावश्यक है : सत्संगसे बुद्धिका दोष मिट जाता है और साधनमें फिर श्रद्धा दृढ़ होजाती है।

साधकके चित्तकी एक अवस्था आती है जब उसे लगता है कि उसके चित्तके काम-क्रोधादि दोष पहलेकी अपेक्षा भी बढ़ गये हैं। इससे तो वह तब अच्छा था, जब साधन नहीं करता था। यह अवस्था साधकको बहुत तंग करती है और एक ही बार आती हो, ऐसा भी नहीं है। बार-बार यह अवस्था आती रहती है।

चित्तको एक कमरा समझ लीजिये जो अनेक वर्षोंसे स्वच्छ नहीं किया गया है। उसमें जानेपर कूड़ा दीखता तो है; किन्तु अपेक्षाकृत वायु स्वच्छ है। अब कमरेको स्वच्छ करना प्रारम्भ किया तो धूलि और दुर्गन्धिसे वायुमण्डल भर गया। जब कूड़ेका एक स्तर स्वच्छ हो गया, वायुमण्डल स्वच्छ लगने लगा; किन्तु दूसरा स्तर जब स्वच्छ होने लगा तो फिर वही दशा हो गयी अथवा पहलेसे भी बुरी दशा; क्योंकि गन्दगीका स्तर जितना नीचेका उठा, उतना अधिक सड़ा हुआ मिला। कमरेमें अथवा चित्तमें यह जो गन्दगीका अन्धड़ बढ़ जाता है, वह सूचित करता है कि स्वच्छताका प्रयत्न ठीक चल रहा है। उस प्रयत्नको दृढ़तासे चलाते रहना है, जिससे स्वच्छता सम्पूर्ण हो जाय। ऊबकर प्रयत्न छोड़ा जायगा तो गन्दगी भरी ही रह जायगी।

चित्तकी इस व्याकुलतामें भी आश्वासन अवलम्बन पानेका साधन सत्संग ही है। सत्संग साधनके सभी आध्यात्मिक विघ्नोंको दूर करनेवाली दवा है।

साधना और सिद्धि

साधनासे सिद्धि कैसे प्राप्त होती है? इसके लिए कुछ बातें आवश्यक हैं—

१—साधनके सम्मुख उसका लक्ष्य स्पष्ट हो। वह क्या चाहता है—कौन सी सफलता वह अपने साधनके द्वारा चाहता है, यह बिना शंका-सन्देह-के उसके मनमें स्पष्ट हो। यह सबसे प्रथम आवश्यकता है। चाहे श्रीरामका दर्शन हो जाय या श्यामका—कोई दर्शन होना चाहिए, ऐसा लक्ष्य लेकर चलने वाला प्रायः असफल होता है।

२—लक्ष्यके प्रति उसकी निष्ठा होनी चाहिए। जैसे जो पहले साइकिल चलाना सीखता है, वह ठीक सामने न देखकर इधर-उधर देखेगा तो गिरेगा। इसी प्रकार साधकको केवल लक्ष्य-प्राप्तिपर दृष्टि रखनी है। उसे न तो दूसरा कुछ साधनका उपफल चाहना है, न दूसरोंकी ओर देखना है और न दूसरा कुछ आता हो तो उसकी ओर प्रलुब्ध होना है।

उपासना या नाम जप तो कर रहे हैं भगवद्दर्शनके लिए और चाहते हैं कि ध्यान लगने लगे, ज्योति दीखने लगे, कोई सुगन्धि ही आने लगे तो यह साधनमें विघ्न डालने वाली कामना है। भगवद्दर्शनकी उत्कंठा बढ़े, भगवानके प्रति प्रेम बढ़े, इसके अतिरिक्त कुछ भी चाहोगे तो गिरोगे।

इसी प्रकार योगके साधन तो प्रारम्भ किये हैं समाधिके लिए और चाहते हैं कि कोई सिद्धि, कोई चमत्कार प्राप्त हो जाय तो समाधिकी प्राप्ति दूर होती चली जायगी।

अनेक बार साधकके न चाहनेपर भी कुछ चमत्कार होते हैं। कभी ज्योति दिखायी दे गयी, कोई सुगन्ध आगयी, स्वप्न या जाग्रतमें कोई मूर्ति दीख गयी या कुछ सुनायी पड़ गया। इसे साधकने महत्त्व दिया तो गया। ये न ध्यान देने योग्य हैं न चर्चा करने योग्य। गर्व करने योग्य तो सर्वथा नहीं हैं। इनकी तो उपेक्षा ही करनी चाहिए।

३—साधककी साधनमें निष्ठा होनी चाहिए। उसका लक्ष्य उसे इसी साधनसे प्राप्त होगा। दूसरे साधनसे सुगमतासे भी प्राप्त होता हो तो उसे

नहीं लेना है। उसे अपने साधनसे ही लक्ष्य प्राप्त करना है। यह दृढ़ निष्ठा होगी तब साधनमें सिद्धि मिलेगी।

साधन ग्रहण करना कन्याके विवाहके समान है। यह ठीक है कि लड़कीके मनमें माता बननेकी उत्सुकता होती है। पुत्र तो उसे कोई पुरुष दे सकता है, किन्तु पतिव्रता वह है जिसे अपने पतिसे ही पुत्र चाहिए। पतिसे पुत्र न हो तो वह जीवन भर निःसन्तान रहेगी; किन्तु पर-पुरुषसे उसे सन्तान नहीं चाहिए। ऐसी ही निष्ठा साधनमें होगी तब साधन फलप्रद होगा।

४—असीम धैर्य अपेक्षित है साधकमें। साधन प्रारम्भ करते ही जो फलकी राह देखने लगते हैं, वे साधक ही नहीं हैं।

'दीर्घकाल नैन्तरीय सत्कारा सेवितो दृढ़भूमिः'

साधनकी भूमि (जड़) दृढ़ होगी तब उसमें फल लगेंगे। यह भूमि दृढ़ हो इसके लिए तीन बातें आवश्यक हैं—

क—दीर्घकाल तक साधन करनेको आप उद्यत रहें, लगे रहें। साधनसे ऊबने, उसे छोड़ने या बदलनेका प्रश्न ही मनमें न उठे।

ख—साधनमें अन्तर न पड़े। आज किया और कल नहीं, ऐसा न न हो। जहाँ तक सम्भव हो, साधनका स्थान और समय भी न बदला जाय; किन्तु विवशतामें इन्हें बदलना ही पड़े तो भी साधन तो न छूटे। अत्यन्त विवशतामें भले संक्षिप्त हो, किन्तु छूटे नहीं।

ग—साधनका सेवन सत्कार पूर्वक हो। माला, आसन, ग्रन्थादि साधनके सब उपकरण आदरपूर्वक रखे जायँ। आदर पूर्वक उनका उपयोग किया जाय। मनका लगना न लगना आपके वशमें भले न हो; किन्तु आपके घर जब कोई बहुत बड़े पूज्य व्यक्ति आते है तो उनके सामने आप जैसे उठते-बैठते व्यवहार करते हैं, उतना संयम-आदर तो साधनमें होना ही चाहिए। साधनके समय बैठनेमें, शरीर हिलाने-डुलानेमें, कुछ बोलने या करनेमें ध्यान रहना चाहिए कि हम अपने आराध्यके सामने बैठे हैं। इस मर्यादाको ध्यानमें रखकर व्यवहार करना चाहिए।

चाहे जैसे बैठे हैं। माला भी घुमाते जाते हैं और किसीसे बात करते जाते या समाचार-पत्र देखते जाते या रेडियो सुनते जाते हैं। नौकर, बच्चे या पत्नीको डाँटते या उपदेश पिलाते जाते हैं। यह सब साधनके स्थान और आसनपर आप करते हैं तो साधनसे सफलताकी आशा आपको छोड़ देनी चाहिए।

५—आपने जो लक्ष्य माना है, उसे पानेकी उत्सुकता आपमें कितनी है ? आपको उसकी कितनी आवश्यकता अनुभव होती है ?

जिसका काम मजेसे भगवद्दर्शनके बिना चल रहा है, उसे दर्शन देने भगवान भला क्यों आने लगे ? अतः आपका जो लक्ष्य है, उसकी प्राप्ति आपके जीवनकी वास्तविक आवश्यकता होनी चाहिए। उसे पानेकी आपमें तीव्र उत्कंठा होनी चाहिए। यह उत्कंठा नहीं है तो सत्संग कीजिये। लक्ष्यकी महिमा पढ़िये-सुनिये।

६—आपने एक लक्ष्य चुन लिया। आपको उसकी प्राप्ति आवश्यक भी लगती है। आप उसे पाना भी चाहते हैं। साधनमें आपकी निष्ठा और लगन भी है ; किन्तु आप उसे प्राप्त करनेके अधिकारी भी है या नहीं ? सिद्धि उसे मिलती है जो अधिकारी होता है। यह अधिकार भी दो प्रकारका होता है—

क—साधनका अधिकार। जैसे जिनका यज्ञोपवीत संस्कार वंशपरम्परासे नहीं होता आया है, वे गायत्री तथा अन्य वेदमन्त्र जपके अधिकारी नहीं हैं। इन मन्त्रोंके जपसे जो फल होता है, वह उन्हें मिल सकता है, पर उन्हें वह फल नाम जपसे मिलेगा।

जैसे स्वास्थ्य और बल सब पा सकते हैं, किन्तु सबके लिए घी-बादाम खाना हितकर नहीं होगा। जो घी-बादाम नहीं पचा सकते, उन्हें उनके अनुकूल आहारकी व्यवस्था करनी होगी।

समाधिसिद्धि हठयोग, लययोय, राजयोग तीनोंसे होती है। अब कोई दमाका रोगी हठयोगका साधन अपनावेगा तो उसे सफलता मिलेगी ? अतः साधन अपने अधिकारके अनुसार होना चाहिए।

ख—दूसरा अधिकार है प्राप्यका अधिकार। हमारा लक्ष्य ऐसा ही होना चाहिए जिसकी प्राप्तिके हम अधिकारी हों। यदि हम उसकी प्राप्तिके अधिकारी नहीं हैं तो साधन कितना भी उपयुक्त हो, सफलता मिल नहीं सकती।

उदाहरणके लिए कोई स्त्री हनुमानजीकी आराधना उन्हें पति रूपमें पानेके लिए करने लगे तो उसे सफलता कैसे मिल सकती है ?

काशीनरेशके पुत्र सुदक्षिणने तप करके शंकरजीको प्रसन्न किया और वरदान मांगा 'श्रीकृष्ण सहित सब यदुवंशियोंके संहारका उपाय बता दीजिये।'

अब यह वरदान तो मिल नहीं सकता था। शंकरजीने कृत्या उत्पन्न करनेको कहकर एक शर्त लगादी—'जो ब्राह्मणोंका भक्त न हो, उस पर प्रयोग करोगे तो वह उसे मार देगी।'

इसी प्रकार साधकको देख लेना चाहिए कि वह जो सिद्धि चाहता है, उस सिद्धिको प्राप्त करनेका वह अधिकारी भी है या नहीं। अपनी योग्यता, शक्ति-सामर्थ्यसे बाहरकी माँग आप करेंगे तो वह पूरी नहीं होगी।

७--लक्ष्यके उपयुक्त साधन होना चाहिए। प्रत्येक साधनसे प्रत्येक लक्ष्य नहीं पूरा होता। प्रत्येक मन्त्रजप प्रत्येक काम नहीं कर सकता। प्रत्येक देवता प्रत्येक वरदान नहीं दे सकता। अतः आप जो कुछ चाहते हैं, उसे दे पानेकी क्षमता आपके साधनमें होनी चाहिए।

कुछ लोग मनके विकारोंको दूर करनेके लिए उपवास करते हैं, जप करते हैं या अनुष्ठान करते हैं। आप उपवास करेंगे तो क्रोध बढ़ेगा–वह घट नहीं सकता। मनके दोष कुछ सीमा तक प्रार्थना करनेसे दूर होते हैं। अन्यथा इनके दूर करनेका उपाय जप, व्रत, अनुष्ठान नहीं है। इसके लिए सत्संग, बार बार विवेक तथा उनको त्यागनेका दृढ़ निश्चयके साथ प्रयत्न होना चाहिए अथवा भगवत्प्रेम जाग्रत होना चाहिए।

परीक्षामें उत्तीर्ण होनेके लिए मुख्य साधन है पुस्तकोंका मन लगाकर अध्ययन। आपने यह किया है तो अनुष्ठान, देवाराधन, जप-पाठ सहायक हो सकते हैं। आपने पढ़ाई ही नहीं की तो देवता या मन्त्र कर्त्तव्यच्युत होनेमें आपकी सहायता नहीं करेंगे।

किसीको अतिसार है तो उसे ज्वर या जुलावकी दवा नहीं दी जा सकती। इसी प्रकार लक्ष्यके अनुरूप साधन सिद्धिदायक होता है। आपको वैराग्य चाहिए तो भगवान शिव, महाकाली या नृसिंहकी आराधना कर सकते हैं; किन्तु प्रेम चाहिए तो महाकालीके मन्त्रका जप क्या करेगा? जिसे पुत्र प्राप्तिकी इच्छा है, वह चामुण्डाकी आराधना करके कौनसी सफलता पा सकता है?

८—साधकमें सिद्धिके लिए तीन तत्त्वोंपर ध्यान देना आवश्यक होता है-- १–साधन, २–इष्ट, ३–गुरु। इनमें-से साधनके सम्बन्धमें ही अभी तक कुछ कहा गया है। जैसे साधनमें निष्ठा आवश्यक है, वैसे ही इष्ट और गुरुमें भी निष्ठा आवश्यक है। इष्टनिष्ठा ऐसी चाहिए—

महादेव अवगुन भवन, विष्णु सकल गुन धाम।
जेहिकर मन रम जाहिसन, तेहि तोही सन काम॥

यह निष्ठा जैसे भगवती उमामें थी अथवा जैसी निष्ठा गोस्वामी तुलसीदासजीने दोहावलीमें व्यक्त की है--

'बनै तो रघुबर सों बनै, बिगरै तौ भरपूर।
तुलसी औरनि तें बनै, वा बनिबे मैं धूरि ।।

संसारमें एकसे एक सुन्दर, धनी, गुणवान पुरुष हैं ; किन्तु कन्याका विवाह जिससे हो गया--होगया। अब वह दूसरे पुरुषोंके सौन्दर्य, धन, गुण-पर प्रलुब्ध हो तो अनाचारिणी-पतिता होगी। ऐसे ही साधक पतित हो जाता है, जब वह अपने इष्टकी अपेक्षा अन्य किसीके मन्त्र या साधनको सुगम समझ कर उसे अपनानेका लोभ करता है। उसमें यह दृढ़ता होनी चाहिए--

'अब मैं जनमु सम्भु हित हारा।
को गुन- दूषन करै बिचारा ।।'

९—अन्तिम बात गुरु-निष्ठाके सम्बन्धमें आपको एक बात ध्यानमें रखनी है कि जहाँ सारे संसारके लिए आपके गुरुदेव सामान्य मनुष्य हैं, वहीं वे आपके लिए पांचभौतिक शरीरधारी मनुष्य हैं ही नहीं। वे शिष्यके लिए साक्षात् शिव हैं।

जो व्यक्ति गुरुको परमात्मा मानकर उनमें निष्ठा रखता है, उसके गुरुमें योग्यता है या नहीं यह प्रश्न नहीं रह जाता है। गुरुतत्त्व एक ही है और वे हैं भगवान महेश्वर। प्रत्येक सच्चे श्रद्धालुके संरक्षण मार्ग-दर्शनका दायित्व उन पर है। गुरु तो उनकी एक मूर्ति है। अतः श्रद्धालुके ठगे जाने, लाभसे वञ्चित होने आदिकी बात ही व्यर्थ है।

मनुष्य अन्ततः मनुष्य है। उसमें दुर्बलताओंका होना कोई अद्भुत बात नहीं है। शिष्यमें हजार कमियाँ हैं तो दस पाँच गुरूमें भी हो सकती हैं। फलतः ऐसा अवसर आ सकता है कि शिष्यकी श्रद्धा गुरुमें न रह जाय। वह उनको गुरु मानकर उचित सम्मान, श्रद्धा एवं आज्ञापालनमें अपनेको असमर्थ पावे। ऐसी परिस्थितिमें क्या हो ?

बहुत स्पष्ट बात यह है कि ऐसी परिस्थितिमें आप उस गुरुसे प्राप्त मंत्र और साधन छोड़ दीजिये। दूसरे किसीसे मंत्र और साधन लीजिये। भले वह आपको वह पुराना मंत्र ही दे दे, लेकिन गुरुपर अश्रद्धा भी हो और उसके दिये मंत्र और साधनको आप करते रहें तो सफलता भी आपको मिल जाय, ऐसा नहीं हो सकता। श्रद्धा न रह जाय गुरुमें तो मन्त्र साधन बदलना ही साधकके हितमें है।

साधनमें सिद्धि--सफलताके लिए कुछ छोटी मोटी बातें भी बहुत महत्व रखने वाली हैं। अतः उनकी चर्चा भी यहीं होजानी चाहिए।

क—साधकको साधनका समय जहाँ तक बने नहीं बदलना चाहिए ठीक समय पर मन स्वयं उस ओर उन्मुख होता है। जैसे जो ठीक समयपर भोजन करते हैं, उन्हें उस समय भोजनकी आवश्यकता हो जाती है।

ख—सम्भव हो तो साधनका स्थान भी नहीं बदला जाना चाहिए। एक ही स्थानपर प्रतिदिन भजन-ध्यान किया जाय तो वहाँ बैठनेपर मनको स्वतः उस साधनमें लगनेकी प्रेरणा मिलती है।

ग—अपनी माला, पाठ पुस्तकको उसी कामके लिए रखिये और भजनका आसन भी पृथक रखिये। अन्य समय जप तथा अन्य समय पढ़नेके लिए दूसरी माला, दूसरी पुस्तक रखिये।

४--जहाँ तक सम्भव हो, साधनके समय शरीरपर धारण किये जाने वाले वस्त्र भी पृथक रक्खे जायँ। इससे केवल शुचिता ही नहीं बढ़ती एक अन्तर्मुख करनेवाली शक्ति उन वस्त्रोंसे मिलने लगती है।

५--केवल पढ़ सुनकर कोई साधन करना हो तो भगवन्नामका जप, गीता-रामायण-भागवत या किसी सहस्रनामका पाठ आप कर सकते हैं। दूसरा कोई साधन करना हो तो किसीको मार्गदर्शक बनाइये और पहले खूब सोच-विचार कर, देख-परख कर तब मार्गदर्शक बनाइये।

इन बातोंपर साधक ध्यान रखता है तब उसके साधनमें सिद्धि आती है। इनमें कहीं प्रमाद करनेपर साधन अंगहीन होनेके कारण फलप्रद नहीं होता।

साधन-प्रश्नोत्तरी

साधन किसे कहते हैं ?

यों तो किसी भी उद्देश्यको प्राप्त करनेके लिए जो कुछ करना आवश्यक हो, उसे साधन कहते हैं; किन्तु सामान्यतः साधन शब्द आध्यात्मिक साधनके अर्थमें ही प्रयुक्त होता है। अतएव साधनका अर्थ है, जन्म-मरणके चक्रसे छूटनेका उपाय अथवा किसी अति मानव शक्तिके द्वारा कोई सफलता पानेका उपाय।

साधनकी सरल परिभाषा क्या है ?

जो आपको अन्तर्मुख करे अर्थात् संसारके प्राणि-पदार्थोंसे आपका राग-द्वेष घटाकर अपने सम्बन्धमें एवं परमात्माके सम्बन्धमें कुछ सोचने करनेको प्रवृत्त करे, वह साधन है। इसके विपरीत जो राग-द्वेष, कर्म-प्रवृत्ति तथा देह एवं नामकी आसक्तिको बढ़ावे, वह असाधन है।

साधन क्यों किया जाय ?

कोई आपपर दबाव डालनेवाला नहीं है कि आप साधन कर ही। लेकिन संसारकी कोई उपलब्धि, कोई सम्पत्ति मनुष्यको सन्तुष्ट नहीं कर पाती। जितना-जितना संसारका सम्भार बढ़ता है, अशान्ति उतनी ही बढ़ती जाती है। अन्ततः मनुष्य बुद्धिमान प्राणी है। वह सोचनेपर विवश होता है कि उसे चाहिए क्या ? उसे सुख चाहिए, शान्ति चाहिए अथवा धन, भवन, मोटर, पद, सम्मान चाहिए। यह तो उसने देख लिया कि धन, पद, मान मिलनेसे सुख-शान्ति घटती है, बढ़ती नहीं है। ऐसी अवस्थामें जब वह सुख-शान्तिको आवश्यक मानता है, तब साधन करना उसके लिए आवश्यक होजाता है।

साधन करनेसे क्या सुख मिलेगा ? क्या दुःख होना रुक जायगा ?

पहले आप सुख-दुःखको ठीक समझ लीजिये। सुख दो प्रकारका होता है—१. पदार्थ एवं परिस्थिति जन्य। इसे सुख कहते हैं। २. बिना

पदार्थ या परिस्थितिसे एक सुख होता है, इसे आनन्द कहते हैं। जैसे स्वादिष्ट भोजन करके अच्छे वस्त्रादि पाकर जो सुख है, उसे सुख कहते हैं। नंगा भिखारी जाड़ेमें सड़कके किनारे मस्त पड़ा है अथवा गरीबका नंगा बच्चा जिसे कठिनाईसे एक सूखी रोटीका टुकड़ा खानेको मिला होगा, खेलनेमें लीन है और हँसता, कूदता, उछलता है। यह आनन्द है।

इसी प्रकारका दुःख दो प्रकार—१. शरीरको होने वाला दुःख और २. मनको होने वाला दुःख। एक बड़ी आयके व्यक्तिको चोट लग गयी। वह चोटके अच्छे होनेके बाद भी उसीकी चर्चा और चिन्ता करता रहेगा। एक वच्चेके चोट लगी। बच्चा थोड़ी देर रोया और फिर भूल गया कि चोटका घाव अभी भरा नहीं है। वच्चेको चोटमें केवल शरीरका दुःख हुआ। बड़े आदमीको चोट लगी तो शरीरका दुःख तो हुआ ही, मनका दुःख भी हुआ।

आपने यह विभाजन क्यों किया ?

यह विभाजन यह बतलानेके लिए कि शरीरको जो सामग्री एवं परिस्थितिके कारण सुख या दुःख होते हैं, उनका होना रोका नहीं जा सकता। वे तो होंगे ही। जैसे समयपर शीत और उष्ण ऋतुएँ आवेंगी ही। ये शरीरको मिलनेवाले पदार्थ—मान, संयोग-वियोग तथा अभाव, रोग आदि प्रारब्धसे मिलते हैं। इनका मिलना नहीं रोका जा सकता।

मनको होनेवाले दुःखसे छूटा जा सकता है। मनको होनेवाला आनन्द बनाये रखा जा सकता है और मनको होनेवाला आनन्द बनाये रखा जाय तो शरीरको होनेवाले अभावादिमें, रोगमें दुःखका बोध ही नहीं होगा।

दुःख हो और दुःखका बोध न हो, ऐसा कैसे हो सकता है ?

सच यह है कि रोग या अभावसे दुःख नहीं होता। मन उस स्थितिमें दुःख माने तो दुःख होता है। भोजन न मिले तो दुःख होता है; किन्तु व्रत करें तो दुःख नहीं होता। इसका अर्थ है कि भोजन किया न जाय, इस बातमें दुःख नहीं है। अनेक समझदार लोगोंको देखा है कि ज्वर आवे, सर्दी जुकाम हो, खुजली या फोड़ा हो तो वे प्रसन्न होते हैं--'शरीरका विकार इन मार्गोंसे निकल रहा है।'

आपने अनेक मनुष्योंको देखा होगा। बालक प्राय: ऐसे होते हैं कि छोटे-मोटे कष्टों, चोटों और हल्के ज्वरको कुछ गिनते ही नहीं हैं। इसका अर्थ है कि मनमें शक्ति हो, सहनशीलता हो और मन किसी आनन्दमें हो तो शरीरके दु:खोंमें दु:खका बोध नहीं होता। इस प्रकार मनकी शान्ति पायी जा सकती है। मनको आनन्दमें रखा जा सकता है। परिस्थितियोंके कारण आनेवाले दु:खोंको सर्वथा नगण्य बना दिया जा सकता है।

कौन सा साधन किया जाय ?

यह प्रश्न ऐसा ही है, जैसे कोई पूछे कि कौनसी भाषा मनुष्य पढ़े ? बात यह है कि मनुष्यकी रुचि, योग्यता तथा परिस्थितिके अनुसार साधनका चुनाव होता है। अधिकारीके लिए साधन होता है। अतएव जैसा अधिकारी होगा, वैसे साधनका उसके लिए चुनाव करना पड़ेगा।

साधनका चुनाव कौन करेगा ?

साधनका चुनाव गुरु करेगा। गुरु वह हो सकता है, जिसे साधनके द्वारा पूर्णता प्राप्त हुई हो और शास्त्रोंका भी जिसे ज्ञान हो। जो केवल शास्त्रोंका पण्डित है, उसे तो व्यावहारिक ज्ञान नहीं है, अत: वह गुरु नहीं हो सकता। जिसे शास्त्र ज्ञान नहीं है, वह पूर्णताको पाकर भी केवल वह मार्ग जानता है, जिससे उसने साधनाकी है, दूसरे मार्गोंका उसे ज्ञान नहीं। अत: साधकके अधिकारके अनुसार साधन वह बतला नहीं सकता।

स्वयं अपने अनुरूप साधन चुन लिया जाय तो ?

कुछ अपवाद रूप अत्यधिक सतर्क एवं दृढ़ मनोबलके लोगोंको छोड़ दें तो अपने चुने साधनमें निष्ठा नहीं होती। अनेक साधनोंकी सुगमता, श्रेष्ठता जीवनमें पढ़ने-सुननेको मिलती रहती है। अत: बार-बार साधन बदले जानेकी सम्भावना रहती है। ऐसा न भी हो तो अपने योग्यत्वके अहंकारका नाश नहीं होता। गुरु हो तो अपने कर्तृत्वका अहंकार नहीं बनता। गुरुकृपाका अवलम्ब रहता है।

आजकल ढोंगी ठग ही अधिक मिलते हैं। सच्चा गुरु कैसे मिले ?

यदि आप सच्चे हैं तो आपको कोई ठग नहीं सकता। आप भूल क्यों जाते हैं कि जगतका नियामक कोई ईश्वर भी हैं। जो सचमुच

ईश्वरको पाने चला है, ईश्वर उसकी रक्षा करनेमें क्या असमर्थ होगया ?

दूसरी बात यह कि कोई ठग भी क्या कर सकता है ? धन और शरीर या और कुछ ? साधक स्त्री हो या पुरुष, धन तथा शरीर दोनों उपेक्षणीय हैं, दोनोंका मोह वह स्वयं छोड़ने चला है। अतः इस क्षेत्रमें ठगा जाना तो ठगा जाना नहीं है; उसके लिए और परमार्थमें कोई ठगी चलनेको स्थान नहीं है। अधिकसे अधिक कोई उसे थोड़े समय उलझाये रहेगा; वह भी तब तक, जब तक उसकी मनोभूमि पक्व होकर उस उलझनको असह्य न मान ले। साधककी गति तो नदीका वेग है। बीचमें कोई शिला रुकावट डालेगी तो थोड़ा रुक कर वेग और बढ़कर चलेगा। वह तो अपने महासागरसे मिलकर ही रहने वाला है।

आपने शरीरके क्षेत्रमें ठगीको उपेक्षणीय क्यों माना ?

मैं जानता हूँ कि बात यह बहुत खटकने वाली है; किन्तु दो बातों-पर ध्यान न देनेके कारण यह बात खटकती है। (१) धर्म-पुरुषार्थ और मोक्ष-पुरुषार्थ भिन्न भिन्न हैं। मोक्षार्थीके लिए धर्म कोई बहुत महत्वपूर्ण वस्तु नहीं है। उसके लिए नरकका भय है नहीं तो स्वर्गका प्रलोभन भी नगण्य है। इसीलिए गीतामें 'सर्वधर्मान् परित्यज्य'की बात आयी है। (२) आप क्यों भूलते हैं कि भगवान सर्व समर्थ हैं और जो सचाईसे उन्हें पाने चला है, उसका पतन न हो, उसका अहित न हो, इसका दायित्व उन सर्व समर्थपर है।

ठगा वह जाता है जो ठगने चलता है। जो बिना साधन-भजन किये सफलता चाहता है अथवा जो भोजन, निवास, सम्मानकी सुविधा पाना चाहता है, वह ठगा जाय, यह स्वाभाविक है। ऐसे लोगोंको ठगे जानेसे बचाया नहीं जा सकता।

उचित गुरु न मिलें तो क्या किया जाय ?

भगवन्नामका जप कीजिये और भगवानसे प्रार्थना कीजिये कि वे आपको उचित मार्गदर्शक प्रदान करें।

सबसे सुगम साधन क्या है ?

भगवन्नामका जप सबसे सुगम साधन है। इससे सुगम साधन दूसरा कोई न है और न हो सकता है।

नाम जपमें मन नहीं लगता ?

मन लगानेको आपसे कहा किसने ? तैरना आजाय तब पानीमें नहीं उतरा जाता। पानीमें पहिले उतरा जाता है, तब धीरे-धीरे प्रयत्न करनेपर तैरना आता है। आपके पास दो पैसा है और उसे तो आप दे नहीं रहे हैं और कहते हैं कि 'दो लाख मिल जाय तो दान कर देंगे' तो क्या आप ईमानदार हैं? मन लगना तो साधनकी पूर्णता है। वही होजाय तो साधनकी आवश्यकता क्या ? आप जीभ लगा सकते हैं, अतः जीभ लगाइये। जीभके द्वारा भगवन्नाम जप कीजिये। भोजन, निद्रा, जल पीना, आवश्यक बातचीतके अतिरिक्त आप जीभको नाममें लगाये रहेंगे—जीभको आप खुला नहीं छोड़ेंगे तो जीभ आपको मुक्त कर देगी।

फिर भी कुछ मन तो लगना चाहिये। कैसे लगे ?

मन लगनेके सहज उपाय अनेकों हैं। आपको उचित गुरु मिले हैं तो वे आपके उपयुक्त उपाय बतला देंगे। एक सुगम उपाय यह भी है कि आप अपने कानोंसे अपने नाम जपको सुनते रहिये।

भगवानके दर्शन किस नामके जपसे कितने दिनोंमें या कितने जपसे हो जायँगे ?

पहिली बात तो यह कि आप रूपको भगवान मानते हैं और नामको भगवान मानते ही नहीं हैं ? जितना रूप भगवान है; उतना ही नाम भी भगवान है। नाम आपकी जीभपर आता है तो साक्षात् भगवान आते हैं। प्रत्येक नाम जपके साथ आप भगवानका सान्निध्य प्राप्त कर रहे हैं।

दूसरी बात यह कि भगवानको दिन, संख्या और अमुक श्रमके बन्धनमें नहीं बाँधा जासकता। मनुष्यके जीवनका कोई श्रम, कोई क्रिया उनके दर्शनका मूल्य नहीं है। इसीलिए शास्त्रों तथा आचार्योंने कहा है कि भगवान साधन-साध्य नहीं हैं। वे केवल कृपासे मिलते हैं। उन्हें आपका प्रेम ही विवश कर सकता है।

भगवानमें प्रेम कैसे हो ?

नाम-जपसे, सत्संगसे और भगवानकी महिमा, गुण, लीला आदिके वर्णनको पढ़नेसे। भगवद्भक्तोंके चरितोंको पढ़ने और सुननेसे।

मनमें अनेक प्रकारके दोष भरे हैं, वे दूर कैसे हों ?

सत्संगके समान प्रभावशाली उपाय मनके दोषोंको दूर करनेवाला मुझे कोई ज्ञात नहीं है। अतः महात्माओंका सत्संग और सद्ग्रन्थोंका पठन-पाठन ही सबसे उत्तम उपाय है। वैसे मनके स्थायी दोषोंको दूर करना अधिक आवश्यक है। आवेगोंपर पीछे भी ध्यान दिया तो हानि नहीं है।

स्थायी दोष कौनसे और आवेग कौनसे !

लोभ, मोह, आसक्ति और मान-सम्मानकी इच्छा—ये मनके स्थायी दोष हैं। मनुष्य मरते-मरते भी धनका लोभ, स्वजनोंका मोह, सम्मान तथा नाम पानेकी इच्छाको छोड़ नहीं पाता। ये दोष निरन्तर मनमें बने रहते हैं। अतः इनको सबसे भयंकर मान कर साधकको विवेक, वैराग्य, सत्संगके द्वारा दूर करना चाहिए।

काम और क्रोध आवेग है। कोई न पूरे रात दिन कामावेगमें रह सकता और न क्रोधावेगमें। ये आने-जाने वाली आँधियाँ हैं। रोगमें, बुढ़ापेमें कामावेग समाप्त होजाता है। जहाँ भय हो—वहाँ क्रोध नहीं आता। कब काम या क्रोध आवेगा, यह दो क्षण पूर्व पता नहीं लगता। अतः आजानेपर यदि बुद्धिमें कुछ सावधानी हो तो इन्हें दबा लेनेका प्रयत्न किया जाना चाहिए। इनको न आने देनेका पूर्वसे कोई प्रबन्ध किया नहीं जा सकता।

साधक यदि स्थायी दोषोंपर अधिक ध्यान दे, उनका उन्मूलन कर दे तो आवेग उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते। साधनकी सफलता उसे अवश्य मिलेगी। लेकिन किसीमें आवेग तो न आते हों जैसे कई लोगोंको क्रोध नहीं आता, विशेषतः बहुत लोभीको और कहीं वह नपुंसक हो तो कामावेग भी नहीं होगा; किन्तु स्थायी दोषोंमें कोई एक भी उसमें बना है तो उसके साधनमें सफलता मिल नहीं सकती; क्योंकि स्थायी दोष उसे सब समय संसारसे बाँधे हुए है।

जीवनमें निर्भय निश्चिन्त होनेका क्या कोई सरल साधन है !

है और वह है भगवद् विश्वास। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

एक भरोसो एक बल, एक आस-विस्वास।
राम नाम घनश्याम हित चातक तुलसीदास॥

भगवान साधन-साध्य नहीं है; किन्तु कृपा साध्य हैं । जो उन्हींपर निर्भर है, जो उनका होगया है, जों उनपर ही विश्वास करता है, उन्हींकी आशा करता है, उसकी आशा-विश्वास कभी असफल हो नहीं सकते। उसको भयभीत करनेवाली शक्ति या स्थिती न कभी उत्पन्न हुई, न आगे कभी उत्पन्न हो सकती । वह नित्य निर्भय, नित्य निश्चिन्त है ।

——

शब्द-साधना और अजपा जप

मध्यकालीन संतों में अधिकांश ने शब्द-साधना का सहारा लिया है। यद्यपि वे 'सुरति-निरति' की बात ऐसे ढंगमें करते हैं कि लगता है कि कुण्डलिनीयोग उनका साधन है, किन्तु ऐसा है नहीं । कुण्डलिनीयोग अथवा षट्-चक्र-वेध एक स्वतन्त्र योग साधन है और शब्द-मार्ग एक पृथक साधन है; किन्तु मार्गसे भी कुण्डलिनीका जागरण होता है इसलिये प्राय: शब्द-मार्गी सन्तोंकी वाणियोंमें कुण्डलिनीके जागरण और उसके 'निजदेस' पहुंचनेकी बात कही गयी है।

ऐसा नहीं है कि शब्द मार्ग अवैदिक है अथवा है इसका अविष्कार किसी मध्यकालीन संतने किया है नादबिन्दु उपनिषद्, आंदि कई उपनिषदों में इस साधन-मार्गका वर्णन है।यह अनादि वैदिक साधन मार्ग है। अवश्य ही मध्यकालीन संतोंने इसको विस्तार दिया ।

मध्यकालके इस विस्तारके साथ कुछ भ्रान्त धारणाएं भी शब्द-मार्गीय साधकोंमें घर कर गयीं । जैसे यह धारणा कि अनहद नाद श्रवणसे मोक्षसे होजाता है अथवा धुरधाम मोक्षधाम है। कुछ लोगोंने षट्चक्रोंके स्थानपर चक्र १२ मान लिये और ६ पिण्डम तथा ६ ब्रह्माण्डमें कहकर रहस्य उत्पन्न किया ।

इन बातोंमें पारमार्थिक तथ्य कुछ नहीं है। इनके कारण कोई सम्प्रदाय भले ही खड़ा करले, किन्तु मोक्ष न अनहद-श्रवणमें है, न सहस्रार में और न धुरधाममें । जो परमात्मा स्थाम विशेषमें ही होगा, वह सर्व-व्यापक हो सकता है ?

कुण्डलिनी योगमें साधकका मोक्ष मानते हैं तब जब षट्चक्रका वेध करके कुण्डलिनी सहस्रारमें पहुँच आये। शब्दमार्गीय संत शब्दके साधनसे उसे सहस्रारमें पहुँचाते हैं। कोई 'धुरधाम' पहुँचा कर मोक्ष मानते हैं। इसके ठीक विपरीत जब वाणी-साधन किया जाता है, तब बेखरी वाणी कंठ में मध्यमा हृदय में पश्यन्ती नाभिमें और परावाणी मूलाधारमें है—यह प्रतिपादन है। इस साधनमें साधकका मन मूलाधारमें परावाणी श्रवण करे जब मोक्ष माना जाता है।

आप यह अद्भुत बात नहीं देखते कि एक मूलाधारसे ऊपर चलता है और सहस्रारमें मोक्ष मानता है तो दूसरा कन्ठसे नीचे चलता है और मूलाधारमें मोक्ष मानता है। अब मोक्ष कहाँ—सहस्रारमें या मूलाधारमें ? दोनों स्थानोंमें नहीं—मोक्ष मनकी अन्तर्मुखतामें है। साधक चाहे सहस्रारकी ओर चले या मूलाधारकी ओर, उसे क्रमशः अधिकाधिक अन्तर्मुख होना पड़ता है। उसके मनकी अधिक एकाग्रता बढ़ती है। इससे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। राग-द्वेषादि मनकी तथा चंचलताकी निवृत्ति होती है। यही साधन मात्रका उद्देश्य है। अन्तःकरण मल-विक्षेपके दोषोंसे रहित होजाय तो आवरण गुरुकृपा या ईश्वर कृपासे दूर होजायगा और तब महावाक्य श्रवण जन्य वृत्तिसे अविद्या-निवृत्ति होकर मोक्ष होगा। श्रुति कहती है—

'ऋते ज्ञानान्मुक्तिः।'

ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती।

और इस सत्यको भली प्रकार हृदयंगम कर लेंगे तो न स्वयं भ्रममें पड़ेंगे और न दूसरा कोई आपको भ्रममें डाल सकेगा। साधन जितने हैं, सब अन्तःकरणके राग-द्वेष आदि दोषोंको दूर करने तथा मनको एकाग्र कर के लिए हैं। एकके बाद दूसरा शब्द सुनायी देता गया तो इसका अर्थ यही है कि आपकी एकाग्रता बढ़ रही है। अन्यथा इसे आप आध्यात्मिक क्षेत्रमें ऊपर चढ़नेकी सीढ़ियाँ मान लेंगे, जैसा कि प्रायः लोग मान लेते हैं और ऐसी मान्यताको प्रोत्साहित भी किया जाता है, किन्तु यह सब केवल धोखा है।

संत कबीरने एक स्थानपर कहा है कि शब्दसे अशब्दमें पहुँचना होगा। कोई नेत्र बन्द करके ज्योतिर्दर्शनमें मुक्त हो सकता तो खुले नेत्रों हम सूर्य-चन्द्र जैसी महान ज्योतियोंके दर्शन करते ही हैं। वीणा, मृदंग या मेघ-गर्जन क्या हम आपने सुना नहीं है कि कान बन्द करके इनको सुननेसे मोक्ष

मिल जायेगा। मुख्य बात यह है कि बन्द करके ज्योतिर्दर्शन करनेमें या कान बन्द करके शब्द श्रवण करनेमें मनकी एकाग्रता बढ़ती है। ज्योति या शब्दमें परिवर्तन इस एकाग्रताको अधिक बढ़ाता है। यही एकाग्रता साधन का उद्देश्य है।

'आप कुछ करते रहो! आपका आचरण कैसा भी बना रहे! आपके मनकी आसक्ति-काम-क्रोध बने रहें; किन्तु हमारा साधन आपको शान्ति दे देगा, आपको मोक्ष दे देगा, आपको समाधि लगा देगा—ऐसी बातें आज धड़ल्लेसे कलियुगके अनेक महापुरुष कहते-बोलते और लिखते हैं, किन्तु ऐसी सब बातें धोखेकी टट्टी है।

आपको जड समाधि लग सकती है। आप नेत्र बन्द करके सिनेमाके दृश्यके समान कुछ दृश्य या रंग देकर सन्तुष्ट होना चाहें तो वह मैं सरलतासे कर दे सकता हूँ। आप कान बन्द करके कुछ शब्द सुन लेनेमें ही कृतार्थता समझते हों तो यह आपको दिया जा सकता है। आपको अद्भुत स्वाद या गन्धका अनुभव भी कराया जा सकता है। इसके लिए आपको न आचरण सुधारना है, न मन सुधारना; किन्तु इससे आप कहें कि शान्ति या मोक्ष मिल जासकेगा तो ऐसा आश्वासन सफेद झूठ होगा।

मन अशान्त होता है कुछ प्रिय पानेके लिए, कुछ प्रिय नष्ट होनेकी आशंकासे अथवा किसी अप्रियके आजाने या आनेकी सम्भावना होने पर। मनमें राग-द्वेष, काम-क्रोध लोभ-मोह, धन-जन, मानकी आसक्ति भी बनी रहेगी और शान्ति भी मिल जायेगी, ऐसा कहने वाला धूर्ताधिराज ही होगा।

बन्धक क्या है? जीव क्यों जन्म लेता है? कहीं राग है या कहीं द्वेष है। राग-द्वेषकी बटी रस्सी ही बन्धन न कटे और मोक्ष? तब पता नहीं किस काल्पनिक स्थितिको आप मोक्ष कहते हैं; लेकिन स्मरण रखिये कि राग-द्वेष है तो जन्म-मरण होता रहेगा। इस सत्यको कोई मिटा नहीं सकता।

मैं साधनका खण्डन नहीं कर रहा हूँ। साधन रूपी पौधा श्रमकी राक्षसी बेलोंसे दब कर बौना न रह जाय, इसके लिए ये बाड़े बना रहा हूँ। आप इस सत्यको ध्यानमें रखेंगे तो किसी अनुभूति-विशेष या चमत्कार-विशेष को महत्तम मानकर वहीं आपका साधन रुक नहीं जायगा और कोई चमत्कारका प्रलोभन देकर आपको दिग्भ्रान्त नहीं कर सकेगा।

—इस साधनामें शुद्धि-अशुद्धिकी चिन्ता भी उतनी नहीं की जाती। सब समय, सब स्थानोंमें आप जब भी अनुकूल अवसर पावें, इसका अभ्यास कर सकते हैं।

—इस साधनाके चमत्कार कम नहीं हैं; किन्तु चमत्कार दीर्घकालीन अभ्यासकी अपेक्षा करते हैं। अथवा कोई सिद्ध अनुग्रह करे तो चमत्कार शीघ्र व्यक्त हो सकते हैं।

—दिव्य शब्दानुभव तो इस काधनाका प्रारम्भ हैं। दिव्य गन्ध, दिव्य ज्योति या रूप दर्शन, साधकमें कवित्वशक्तिका प्रादुर्भाव आदि।

—शब्द साधनामें भूल होनेका भय प्रायः नहीं है। अतः इसमें रोग होनेका डर भी नहीं है। आप निःशंक निरापद इसका अभ्यास कर सकके हैं।

अब साधनकी वात लें। शब्द-साधन सवसे सुगम साधन है। इस युगमें एकाग्रता प्रातिके लिए यह सर्वथा उपयुक्त है और इसे सब कर सकते हैं। स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध प्रत्येक जाति-वर्णके लोग इसे कर सकते हैं। इसमें सबका अधिकार है।

चमत्कार इस साधनामें क्रमशः होते हैं। अभ्यास परिपक्व होनेपर दूर-दूरदर्शन, परचित्तज्ञानादि सिद्धियाँ भी आसकती हैं।

अभ्यास

१—प्रारम्भिक अभ्यासके लिए रात्रिका समय ठीक होता है, जबकि सब लोग सो गये हों। और शब्द न होता हो। स्थान भी ऐसा होना चाहिए जो एकान्त और नीरव हो। वैसे नदीके बहनेके शब्दके समान निरन्तर एकरस होने वाले शब्द बहुत बाधक नहीं होते।

२—कुछ लोग कानोंको वन्द करनेके लिए गुटिका बनाते हैं। प्रारम्भ-में ऐसा करना अधिक सुगम होता है। तुलसीकी सूखी लकड़ीको ऐसा बना लिया जाता है जिससे कानोंके छिद्र वन्द होजायँ। इससे भी उत्तम गुटिका है—जायफल जावित्री १ माशा,कस्तूरी १ रत्ती, कपूर १ रत्ती इनको कूटकर कपड़ेकी ऐसी दो छोटी पोटलियाँ बना लेना, जिनसे कानोंके छिद्र बन्द हो जायँ।

३—आप एकान्त शान्त स्थानमें बैठ जाये किसी भी सुविधापूर्वक बैठने योग्य आसनसे। नींद आनेका भय न हो तो बिस्तरेपर चित लेट भी

सकते हैं। गुटिकासे अथवा दोनों हाथोंके अँगूठेसे कानके छिद्रोंको बन्द कर दीजिये। अब बाएँ कानमें जो शब्द होरहा है, उसपर ध्यान दीजिए।

अजपा जप

'सोऽहं इस मन्त्रको प्रायः अजपा जपके लिए काममें लिया जाता है। जप आवश्यक नहीं है कि आप इसी मन्त्रको काममें लें। राम, हरि, शिव जैसे किसी भी सीधे छोटे भगवन्नामको आप आधार बना सकते हैं।

वर्णन ऐसा है कि श्वास निकलते समय 'हं' और खींचते समय 'सः' की स्वाभाविक ध्वनि होती है इसे उलट देनेसे जीवका जो जन्म-मरणकी ओर जाने वाली स्वाभाविक धारा है, वह उलट कर मोक्षोन्मुखी होजाती है। अतः श्वास छोड़ते समय 'सो' खींचते समय 'अहं' श्वाससे उच्चारण हो रहा है, ऐसी भावना निरन्तर करना चाहिए। इसमें आप 'सो' के स्थान पर 'रा' और 'अहं' के स्थानपर 'म' अथवा अन्य भगवन्नामाक्षर रख सकते सकते हैं। थोड़े दिनोंके श्वाससे यह अजपाजप स्वतः अप्रयास चलने लगता है।

अजपा-जपका अभ्यास जितना अधिक होगा, शब्द श्रवण उतना होगा। जब पेट ठीक नहीं होता, मनमें काम-क्रोधादिका वेग या चिन्ता-शोक होता है; जब नाड़ियोंमें मल होता है, तब भी शब्द-श्रवण ठीक नहीं होता। शरीर स्वस्थ हो पेट ठीक हो, नाड़ियाँ निर्मल हों और मन विकार रहित हो तो शब्द बहुत स्पष्ट सुनायी देता है।

कभी-कभी किसी साधकमें देखा गया है कि शब्द बायें कानसे सुनायी न देकर दाहिने कानसे सुनायी देता है। इसे बहुत महत्त्व नहीं देना चाहिए। जिस कानसे शब्द स्पष्ट सुनायी दे, उसी ओर ध्यान दीजिये।

कुछ दिन एकान्तमें अभ्यासकर लेनेपर चलते-फिरते सब समय शब्द सुनायी देने लगता है और कान बन्द करनेकी भी आवश्यकता नहीं रह जाती; किन्तु तब भी एकान्तमें बैठकर शब्दपर चित्त एकाग्र करते रहनेकी आवश्यकता सदा रहेगी। शब्द तो एकाग्रता बढ़ानेका साधन है।

जब शब्द सब कहीं सुनायी देने लगे तब इतनी उपलब्धि तो आपको होगयी कि आप जब चाहें तब मन संसारसे हटा कर शब्दपर लगा दें। चिन्ता, क्रोध, उद्वेग आदिके समय भी शब्दपर मन लगा कर इन विकारोंसे छूट सकते हैं।

पहले एक गूँज-सी कानमें सुनायी देती है । इसे शास्त्रीय भाषामें झिल्ली-झङ्कार कहते हैं । इसपर मन एकाग्र करनेसे छोटी घंटियोंकी ध्वनि, घड़ी-घण्टा नाद, शङ्खध्वनि, वंशीध्वनि आदि क्रमशः सुनायी पड़ती हैं और अन्तमें मेघ-गर्जन जैसी ध्वनि सुन पड़ती है । उससे भी अन्तमें प्रणवकी सहज ध्वनि जिसे अनाहत नाद कहते हैं, सुनायी पड़ती है ।

आवश्यक नहीं है कि ध्वनियाँ ऊपर लिखे क्रमसे ही सुनायी पड़ें । क्रममें उलट-फेर मनकी स्थितिके अनुसार होता रहता है । इन ध्वनियोंके श्रवणके साथ अनेक चमत्कार भी यदा कदा होते हैं, जैसे दिव्य गन्ध, दिव्य रूप, कोई स्पष्ट शब्दादि सुनायी पड़ना; किन्तु चमत्कारोंपर न ध्यान देना चाहिए ।

पन्द्रह मिनट प्रतिदिन प्रारम्भ करके आप इसे घण्टे भर तक बढ़ा ले सकते हैं । आपको स्वयं ४० दिनसे ६ महीने तकके अभ्यासमें इसका अद्भुत प्रभाव ज्ञात हो जायगा ।

—×—

सरलतम साधन–प्रसाद

महाप्रसादे गोविन्दे नामे ब्रह्मणि वैष्णवे ।
स्वल्प पुण्यवतां राजन् विश्वासो नैव जायते ।।

भगवत्प्रसादमें, स्वयं भगवानमें, भगवन्नाममें, भगवानसे अभिन्न हुए ब्रह्मज्ञानीमें और भगवानके भक्तमें विश्वास किसका होता है ? पापीका तो इनमें विश्वास होता ही नहीं, थोड़े पुण्यकी पूंजी जिनके पास है उनका भी इनमें विश्वास नहीं होता इनमें विश्वास होता है बड़े सौभाग्यसे, जन्म जन्मान्तरके बड़े पुण्योंका उदय हो तब ।

मैंने बाजार जाकर किरानेके दुकानदारसे सुपारी मांगी । दुकानदार ने पूछा—'सुपारी पूजाके लिए चाहिए या अपने खानेके लिए ?'

'पूजाके लिए कहनेपर उसने जो सड़ी-गली रद्दी सुपारियां निकालीं, उन्हें देखकर दुःख हुआ । मतलब क्या है ? पूजाके लिए ली गयी वस्तु आप-

को व्यर्थ लगती है वह तो दे देना है। यह नहीं लगता कि आप अपने सबसे सम्मान्यके लिए उसे ले रहे हो। तब आपकी पूजा पूजा है ? पूजा ही नहीं तो प्रसाद कैसा ?

मैं एक नारियल खरीदता हूँ। हिला-बजाकर देख लेता हूँ कि नारियल अच्छा है। नारियल हनुमानजीको अर्पण कर देता हूँ। अब वह नारियल मेरा नहीं है। उसे फोड़ता हूँ तो गरी प्रसाद होजाती है और प्रसाद तो बांटा जायगा। उसमेंसे थोड़ी गरी मुझे भी मिलेगी। उपयोगकी वस्तु प्रसाद बनेगी तो बाँटकर खायी जायगी, यह पहिली बात।

मैं एक धोती लाता हूँ। उसे श्यामसुन्दरको चढ़ाना है पहिले। कोरी धोती कैसे चढ़ायी जाय। उसे भली प्रकार धोकर सुखाता हूँ तब चढ़ाता हूँ। वह धोती अब मेरी नहीं है, वह अब भले मैं पहनूँ पर वह भगवत्प्रसाद है। वह पहिनने वालेमें गर्व या फैशन नहीं देगी। वह देगी एक पवित्रताकी भावना। वस्तु भगवत्प्रसाद बनेगी तो पवित्र होकर बनेगी और उपयोग करनेवालेको पवित्रताकी भावना देगी।

मैंने प्रसिद्ध मन्दिरोंमें कईका प्रसाद पाया है। उनमें कईके प्रसादमें डटकर मिर्च या खटाई पड़ी मिली है। मैं न मिर्च खा पाता न खटाइ; किन्तु भगवत्प्रसाद तो पदार्थ नहीं है। उनके गुणदोषका विचार करना ही अपराध है। सीधी बात यदि भगवत्प्रसाद लेना है तो जीभकी रुचि और शरीरके हानि-लाभकी चिन्तासे ऊपर उठना होगा। साथ ही एक बात और---आपको भोग लगाना है तो भूलना पड़ेगा कि आपको मिर्च, खटाई, नमक क्या कितना पसन्द है। सोचना होगा कि जिसे भोग लगाना है, उसे क्या अच्छा लगेगा और क्या अच्छा नहीं लगेगा।

मैंने स्वयंपाकी कई वैष्णवोंको देखा है। वे बड़ी सावधानीसे एक-एक चावल या दाल चुनते हैं, धोते हैं। उन्हें सचिन्त देखा है—'नैवेद्य अमनिया करना है।' यह सावधानी केवल पदार्थको ही शुद्ध नहीं करती, जीवनको भी शुद्ध कर देती है।

'आप कोकाकोला पियेंगे ?' मैंने गर्मीके दिनोंमें एक साथीसे बाजारमें पूछा।

'आप पियेंगे !'

'संकोच क्यों करते हो ?'

'वह आपका कन्हाई पी सकेगा !'

मैं क्या कहता ? कुछ सोचकर मैंने फिर पूछा—'तरबूज तो कन्हाई खा ही सकता ।'

हँस पड़े वे—'आप खिलाना चाहोगे तो वह कुछ भी कैसे अस्वीकार कर देगा ।'

उन्होंने तरबूजका टुकड़ा ले लिया और मन ही मन भोग लगाया ।

'प्रसाद ही खाना है' यह ब्रत लीजिए और देखिए कि बाजार, होटल सब अपने आप छूट गये । घरमें भी अशुद्ध अखाद्य चरपरे-चटपटे बिदा हुए । संयम, सादगी, सावधानो सात्विकता अपने आप आजायगी ।

'प्रसाद ही पहिनना और प्रसाद ही काममें लेना है । इस व्रतने एक मित्रको खादी पहिना दिया है । लगानेका तेल वे स्वयं बनाते हैं—सुगन्धित बनाते हैं; किन्तु साबुन छूट गया है उनसे ।

प्रसाद खाइये । प्रसाद पहिनिये । प्रसाद ही काममें लेनेका व्रत लीजिये आपका जीवन भगवत्प्रसाद हो जायगा । वह स्वयं ही पवित्र नहीं होगा, सम्पर्कमें आनेवाले सबको पवित्र करेगा । बस इतनी शर्त है कि पूजाकी सुपारियों जैसी बला टाल पूजा मत कीजिए । सचमुच पूजा कीजिए और तब देखिये कि जीवनमें प्रसाद प्रसन्नताका अखण्ड स्रोत फूटता है ।

———

संयम शैथिल्य

संयम स्वास्थ्य है और असंयम अस्वस्थ होनेका लक्षण है, यह बात आपकी समझमें आती है ?

असंयमसे शरीर अस्वस्थ होजाता है और स्वास्थ्य प्राप्तिके लिए संयम करना पड़ता है, यह वात शरीरके सम्बन्धमें पूरी सच नहीं है। यदि शरीर सशक्त हो तो एक बड़ी सीमा तक असंयम सह लेता है और औषधियोंके सहारे आज विना किसी संयमके भी बहुतसे रोग अच्छे कर लिये जाते हैं। अत: मैं जब स्वास्थ्यकी बात करता हूँ तो मेरा अभिप्राय शारीरिक स्वास्थ्यसे प्राय: नहीं होता है।

स्वस्थ = स्व + स्थ = अपने आपमें स्थित अर्थात् गीताका स्थितप्रज्ञ अर्थात् ज्ञानी। अब जो स्वस्थ नहीं है, वह अस्वस्थ है अर्थात् अपनेसे बाहर कहीं स्थित है—बहिर्मुख है और बहिर्मुख है तो अशान्त है, दुखी है। अस्वस्थ व्यक्ति दुखी न होगा तो और क्या होगा।

आपको बौद्धिक दृष्टिसे तत्वज्ञान होगया है—ऐसा आपको किसी रूपमें भगवत्प्राप्ति हुई है। ऐसा लगता है तब भी यदि आप स्वस्थ नहीं है तो दुखसे आपका छुटकारा नहीं हो सकता और क्लेशग्रस्त है, वह मुक्त कैसा।

संयम व्यक्तिको स्वस्थ रखता है अर्थात् अपने स्वरूपमें स्थित रखता है और असंयम उसे बहिर्मुख करता है--अस्वस्थ बनाता है। असंयम विकार है और संयम स्वरूप है। मनके मुख्य विकार हैं--काम, क्रोध, लोभ, मोह। काम मनमें है तो कोई स्त्री या पुरुष मनमें है अर्थात् अन्तकरणमें बाहरी-विजातीय तत्व आगया है। देह विजातीय तत्वका आना ही तो रोग है। ऐसे ही क्रोधमें शत्रु, लोभमें पदार्थ और मोहमें व्यक्ति आया है मनमें।

ब्रह्मचर्य, सत्य, अक्रोध, निर्लोभ, अमोह— ये नाम ही पृथक-पृथक हैं। ये नाम किसी न किसी दोषके होनेकी सूचना देते हैं; किन्तु इन सबमें चित्तकी एक ही स्थिति है कि वह स्वस्थ है--निर्विकार है अपने स्वरूपमें स्थित है इसीलिए संयम स्वास्थ्य है।

रोग जब आता है तो उसकी दवा करनी पड़ती है। विकार अपने आप भी आते हैं; किन्तु उनको दूर करनेका प्रयत्न करना पड़ता है। जल पड़े पड़े स्वयं सड़ने लगता है; किन्तु उसे सड़ानेसे बचाने अथवा उसकी सड़ान दूर करनेका प्रयत्न करना पड़ता है।

किसीका भी संयम क्यों शिथिल होता है ?

यह मत कहिये कि वह कौन है, कितना बड़ा विद्वान तपस्वी या महापुरुष है अथवा कितना अज्ञानी पामर व्यक्ति है। संयम किसीका भी शिथिल होता है, टूटता है तो कमसे कम उस समय वह स्वस्थ नहीं है। उसके अन्तःकरणमें विजातीय (अनात्मक तत्व) ने प्रवेश पा लिया है। वह उस समय बहिर्मुख होचुका है और जो बहिर्मुख है अस्वस्थ है। वह कोई भी हो, जब तक अस्वस्थ है, दुख पानेसे बच नहीं सकता।

'किसी संयमकी आवश्यकता नहीं, किसी साधनकी आवश्यकता नहीं।' ऐसा कहनेवाले धूर्तोंसे साधकको दूर ही रहना चाहिए। वे चाहे जितने चमत्कार दिखा सकते हों और चाहे जितने उत्तम विद्वान, प्रवचन कर्ता, लेखक हों; किन्तु वे स्वयं परमार्थसे वहुत दूर हैं। उनका उद्देश्य लोगोंको अपने पीछे लगाकर भटकाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना मात्र है।

जो कहते हैं--'केवल अपनेको, अपने मनको देखो !' वे आपको धोखा देते हैं।

जो कहते हैं--'साधनकी आवश्यकता नहीं, केवल असाधनका त्याग कर दो !' वे शब्दजालमें श्रोताको उलझाते हैं।

सब साधन असाधनके त्यागके लिए ही हैं। काम, क्रोध आदि असंयम आपकी आज्ञा देनेसे दूर नहीं होंगे। उनको दूर करनेका साधन चाहिए।

चित्तवृत्तिका निरोध होनेपर द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित होता है यह योगकी पूर्णता है। यहाँसे प्रारम्भ नहीं किया जा सकता। आप अपने मनसे मनको कितने क्षण देख सकते हैं ? यदि १३ मिनट देख सकें तो धारणा, १६ मिनटमें ध्यान, १९ मिनटमें सविकल्प और २२ मिनटमें निर्विकल्प समाधि लग जायगी। यहांसे जो साधन प्रारम्भ करनेको कहते हैं, वे कहते हैं—'कूदो और एवरेस्टपर पहुँच जाओ।' ऐसे कूदनेमें घुटने टूटने-के अतिरिक्त कुछ मिला नहीं करता।

सम्पूर्ण साधन संयमसे प्रारम्भ होते हैं और संयमकी नींवपर उनका भवन बनता है । संयम शिथिल होगा तो साधनका भवन ढहे बिना बच नहीं सकता । अतः मनका संयम, वाणीका संयम, इन्द्रियोंका संयम, आहार और आचारका संयम जीवनमें दृढ़ होना चाहिए । आज जो साधनके नाम-पर धर्म, ईश्वर चल रहा है, वह संयम-शैथिल्यके कारण ही है ।

***

आध्यात्मिक जीवनके सूत्र

सचमुच आप इसी जीवनमें मुक्त होना चाहते हैं ?

सचमुच आप भगवत्प्राप्ति करना चाहते हैं ?

सचमुच आपको अपना पारलौकिक कल्याण करना है ?

यदि ऐसा है तो आप ईमानदारीसे नीचेके सूत्रोंको ध्यानसे पढ़ें, याद करलें और उनको अपने जीवनमें उतारनेका पूरा-पूरा प्रयत्न करें ।

भूल जाइये कि कोई आशीर्वाद दे देगा और ईश्वर मिल जायगा, ज्ञान हो जायगा या समाधि लग जायगी । ऐसा हो तो जाता है, पर वह निष्फल होता है । उससे आपको कोई लाभ नहीं होगा । कर्ताके प्रयत्नके बिना जो होगा, जो मिलेगा, वह केवल धोखा होगा ।

भूल जाइये कि परमार्थको पानेका कोई सरल छूमन्तर मार्ग है । व्यक्तित्वको मिटाये बिना, सर्वस्व समर्पण किये बिना, परमार्थकी प्राप्ति न किसीको हुई है, न कभी किसीको हो सकती है ।

भूल जाइये कि आप सब कुछ खाते रहेंगे, सब कुछ करते रहेंगे और आपको ज्ञान, भक्ति या समाधिकी प्राप्ति हो जायगी । आचरणकी शुद्धिके बिना किसी साधन मार्गमें सफलता नहीं मिलती । आचरण शुद्धिमें मुख्य है जिह्वाकी—बोलने और भोजनकी शुद्धि और जननेन्द्रियका संयम ।

यदि जीवनसे असत्य, असदाचरण चला नहीं गया है तो परमार्थकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।

यदि मनसे शरीर, शरीरके नाम-सम्मानकी आसक्ति चली गयी है तो परमार्थकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।

यदि संसारके लोगोंमें, कार्योंमें ममता एवं व्यस्तता बनी है, तो परमार्थकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।

खुले नेत्र या ध्यानमें अथवा स्वप्नमें कुछ दीखने या सुनायी पड़नेका नाम परमार्थ नहीं है । भले वह ज्योति हो या भगवानका कोई रूप हो । स्पष्ट कहें तो भगवद्दर्शनका अर्थ भगवानका कोई रूप दीख जाना नहीं है ।

तन या मनकी कोई अवस्था विशेष जो कुछ काल रहकर समाप्त हो जाय, परमार्थ नहीं है । उसे आप भले समाधि कहें या और कुछ ।

केवल बौद्धिक ज्ञानका नाम परमार्थ नहीं है । भले उस ज्ञानके द्वारा आपने उपनिषद् या वेदान्तके कठिनतम ग्रन्थ पढ़ लिए हों और पढ़ा सकते हों ।

भगवद्दर्शनका अर्थ है कि आनन्द-सिन्धु भगवानका दर्शन और इसका फलितार्थ है—संसारके समस्त सुख, सब भोगोंका सदाके लिए नीरस हो जाना । ऐसा हुआ है तो भगवद्दर्शन हुआ है ।

समाधिकी सफलता है कि संसारके समस्त व्यवहारोंसे सदाके लिए अरुचि हो जाय । वहिर्मुखताकी सम्पूर्ण निवृत्ति हो गयी तब समाधि ठीक है ; अन्यथा वह निद्राके समान निष्फल है ।

ज्ञानका अर्थ है कि समस्त मिथ्या है । जैसे तीव्रतम प्यास लगनेपर भी मृगतृष्णामें-से पानी भरनेको कोई जानकर दो पग भी नहीं चलेगा, वैसे ही ज्ञान यदि मनकी समस्त विषयासक्तिको मिटा नहीं देता तो वह ज्ञान नहीं है ।

परमार्थ है व्यक्तित्वका मिट जाना ।

परमार्थ है देहासक्तिका निर्मल हो जाना ।

परमार्थ है देह एवं देहके नामके लिए किसी भी इच्छाका उदय ही न होना ।

परमार्थकी यह प्राप्ति योगसे, भक्तिसे, ज्ञानसे हो सकती है—होती है । इन तीनोंमें-से किसी एकसे होती है और तीनोंके समन्वयसे भी होती है ।

परमार्थ पाना है तो शरीरसे स्वस्थ—पूर्ण स्वस्थ, संयमी, नियमनिष्ठ व्यक्तिको ही योगका मार्ग पकड़ना चाहिए।

परमार्थ पाना है तो तर्कशीलता रहित, श्रद्धालु भावुक व्यक्तिको ही भक्तिका आश्रय ग्रहण करना चाहिए।

परमार्थ पाना है तो अतिशय विरक्त—सहज स्वभावसे वासना-विमुखको ही ज्ञानके मार्गमें सफलता पानेकी आशा करनी चाहिए।

जिनमें ये तीनों बातें बनी हैं, उनके लिए भी एक मार्ग है और वह अटल भी है, कठिन भी। कठिन यह है कि कोई सचमुच परमार्थ प्राप्त सच्चा महापुरुष, पाना होगा उसे। सरल यह है कि ऐसे महापुरुषमें वह सचमुच आसक्ति करले। उसे सम्पूर्ण समर्पण करदे वह।

परमार्थ अर्थात् मोक्ष या भगवत्प्राप्तिकी सबसे बड़ी बाधाएँ हैं—(१) अहङ्कार, (२) आसक्ति, (३) असंयम।

अहङ्कार—जातिका, रूपका, वर्णका, पदका, विद्याका, बुद्धिका और साधनका भी। इन सबका सर्वथा परित्याग हुए बिना परमार्थ नहीं मिलता।

आशक्ति—परिवारकी, स्वजनोंकी, जातिकी, समाजकी, देशकी, शरीरकी, नामकी—इन सबका पूर्णतः त्याग न हो जाय, तब तक परमार्थ बहुत दूर है।

असंयम—वाणीका, मनका, इन्द्रियोंका अर्थात् वह उपार्जनमें हो, भाषणमें हो, भोजनमें हो या आचरणमें हो, साधकके लिए पाप है। उसे छोड़े बिना प्रगति सम्भव नहीं।

सब ठीक—किन्तु परमार्थके पथमें चले दो पद भी मिटते नहीं। जो चला वह पहुँचेगा ही, भले अनेक जन्म लगें। अतः चलिए, चलते रहिए।

—××—

मोक्षका साधन

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यति कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।।
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबंधनैः ।
गी० ९.२७.२८

भगवान् कहते हैं—'तुम जो कुछ करते हो, जो खाते हो, जो हवन करते हो, जो दान करते हो और जो तप करते हो, वह सब मुझे अर्पित कर दो । इससे तुम कर्मके शुभ और अशुभ फलोंके बन्धनसे मुक्त हो जाओगे ।'

'यत्करोषि'—हाथ, पैर, वाणी, गुद, उपस्थ—इन पाँचों कर्मेन्द्रियोंसे आप जो कुछ करते हैं और इनके अतिरिक्त मनसे तथा सहज स्वभावसे जो कुछ करते हैं, वह मल-मूत्रोत्सर्ग, सङ्कल्प-विकल्प, श्वास-प्रश्वास, चलना करना आदि सब भगवानको अर्पित करना है ।

'यदश्नासि'—जो आप खाते हैं अर्थात् ज्ञानेन्द्रियोंसे जो भी भोग ग्रहण करते हैं—रस लेना, स्पर्श लेना, रूप देखना, शब्द सुनना और मनकी कल्पनासे या बुद्धिसे सोच कर जो आनन्द लेते हैं, वह सब भगवानको अर्पण करना है ।

'यज्जुहोसि'—देवता और पितरोंके निमित्त जो आप यज्ञ-हवन, श्राद्ध-तर्पण, जप-पाठादि करते हैं, वह सब भगवानको समर्पित कर देना है ।

'ददासियत्'—जो आप प्राणियोंको दान करते हैं, वह भगवानको दे देना है ।

'यत्तपस्यसि'—आप जो तप करते हैं, व्रतादि करते हैं, कष्ट उठाते हैं, वह भगवानको दे देना है ।

कर्म, भोग और धर्म इन तीनोंका अर्थात् लौकिक जीवनके लिए और पारलौकिक जीवनके लिए जो कुछ शरीर, मन, इन्द्रियसे होता है, उन सबका ही भवगानको समर्पण कर देना है ।

कर्म इसलिए करना है कि प्रभु करा रहे हैं । मल-मूत्रोत्सर्ग भी इसलिए कि शरीर उन सर्वात्माकी सेवाके योग्य बना रहे । भोग इसलिए

कि जीवन सेवामें सक्षम रहे । क्रियाके दो भाग हैं—कर्म और भोग ; इन दोनोंका अर्पण कर देना है ।

धर्मके तीन अङ्ग हैं—यज्ञ, दान और तप ! यज्ञ हवनादि, प्राणियोंको अपनी शक्तिके अनुसार अपने स्वत्वका वितरण और सुख-सुविधा उठानेमें समर्थ रहते भी उनका त्याग करके व्रतादि करना, स्वयं कष्ट वहन करना । इन धर्मके तीनों अङ्गोंका समर्पण कर देना है ।

यज्ञ भले भिन्न-भिन्न देवताओंके नामसे हो ; किन्तु उन-उन रूपोंमें एकमात्र जनार्दनको ही तृप्त करना है ।

दानका दाना पक्षीको दिया जाय, पशुको या दरिद्रको – दृष्टिमें एक ही बात हो कि वासुदेव ही इन-इन रूपोंमें सेवा स्वीकार करने उपस्थित हुए हैं ।

तप इसलिए कि मन-इन्द्रियाँ अपनी चञ्चलता बहिर्मुखताका मल त्याग कर उन अन्तर्यामीकी सेवामें बैठें । इस प्रकार धर्मका समर्पण कर देना है ।

कर्म शुभ होगा या अशुभ । आप कर्मेन्द्रियोंसे अथवा मनसे जो करेंगे—मल-मूत्र त्यागमें भी शुभ-अशुभ होता है । अनुचित समय, अनुचित स्थानपर इनका त्याग अशुभ कर्म हो जाता है ।

भोग तो शुभ या अशुभ होते हैं । देखने छूने, खाने, सूँघने, सुनने, सोचने, विचार करने—सबमें यह बन्धन है कि क्या करना, क्या नहीं करना । जैसे किसीको हराने-सताने-अपमानित करनेका उपाय सोचना बुद्धिका अशुभ कर्म है और किसीकी कैसे सहायता करें यह सोचना बुद्धिका शुभ कर्म ।

यज्ञ भी शुभ-अशुभ होता है । यज्ञमें सामग्री अशुद्ध है, विधि ठीक नहीं बनी या यज्ञ किसी बुरे उद्देश्यकी पूर्तिके लिए है अथवा भूत-प्रेतादिकी तृप्तिके लिए यज्ञ है तो वह अशुभ यज्ञ है ।

दान भी शुभ या अशुभ होता है । आप किसे, किस लिए, कैसे और क्या देते हो, इसपर दानका शुभ अशुभ होना निर्भर है । किसी गुण्डेको पड़ोसीको सतानेके लिए दिया गया धन, तिरस्कारसे भिखारीको फेंका गया पैसा आदि अशुभ दान है ।

तप दम्भसे, परोत्पीडनके लिए भी होता है और तव वह अशुभ हो जाता है ।

आप जो कर्म, जो भोग, जो यज्ञ, दान, तप करते हो वह अभी अहङ्कारको अर्पित हो रहा है । वह आत्मार्पण नहीं है, देहाभिमानार्पण है । अहङ्कारके अर्पित होने वाला यह कर्म, भोग और यज्ञ-दान-तप शुभ या अशुभ फल तो वह उत्पन्न करेगा ही । यह फलका उत्पन्न होना ही बन्धन है ।

अहङ्कारको कर्म, भोग तथा धर्म अर्पित करके आप कर्त्ता बनते हैं और जो कर्त्ता है, वह भोक्ता बननेको बाध्य है । यह कर्त्तापन बना रहे और आप मुक्त हो जायँ—ऐसा कभी सम्भव नहीं ।

जब देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धिसे होने वाले सब कर्म, भोग, धर्म श्रीकृष्णका—पुरुषोत्तमको आप अर्पित करते हैं, तब आप कर्त्ता नहीं होते, तब तो आप मात्र क्रियाके यन्त्र होते हैं और कर्मका फल—कर्म शुभ हो या अशुभ—यन्त्रको नहीं हुआ करता ।

कर्मके वन्धनसे जन्म-मरणसे छूटनेका यही उपाय है कि सब कर्म, भोग, धर्मको प्रारम्भसे कहते चलिये—'श्रीकृष्णार्पणमस्तु'

—००—

महत्त्व किसका

एक या दो ? न एक, न दो ।
यहाँ या वहाँ ? न यहाँ, न वहाँ ।।

इसके साथ ही वहुत प्रचलित एक श्लोक याद आ रहा है—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो,
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमाँसकाः
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः,
सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ।।

शैव उस परमतत्त्वको शिव कहते हैं । वेदान्ती उसीको ब्रह्म कहते हैं । जैनमतावलम्बियोंने उसीका नाम अर्हन् रखा है । पूर्व मीमांसावाले

उसे कर्म कहकर सन्तोष कर लेते हैं। बौद्धोंने उसे बुद्ध कहकर पुकारा। तर्कशील नैयायिक उसे कर्ता कहते हैं। भक्तोंका अभीष्ट सिद्ध करने वाला निखिललोक महेश्वर वही श्रीहरि है।

द्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत शुद्धाद्वैत, अद्वैत, अचिन्त्य भेदाभेद आदि दार्शनिक मत तथा निर्गुण निराकार सगुण, सगुण-निर्गुण-साकार-निराकार सर्वरूप आदि वाद परस्पर चाहे जितने विरुद्ध लगते हों उनके अनुमानिकमें चाहे जितना मतभेद हो और इन वादोंका परस्पर सामञ्जस्य चाहे जितना अशक्य लगता हो; किन्तु यह अकाट्य एवं सर्वसम्मत तथ्य है कि सब एक ही तत्त्वका वर्णन करते हैं। सब उस एक ही परमसत्यको प्राप्त कराना चाहते हैं और यह भी सत्य है कि सब मतोंमें ही कुछ न कुछ महापुरुष उस परम सत्य तक पहुँचने वाले हुए हैं।

यह जो खण्डन-मण्डन मतभेद है यह अपूर्णतामें चलता है यह पहली बात। दूसरी बात यह केवल लाक्षणिक वर्णन है और लाक्षणिकतामें मत-भेद सहज सम्भव है। सभीको स्वीकार है कि—

'राम स्वरूप तुम्हार, बचन अगोचर बुद्धिपर।
अविगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह॥

तीसरी बात—ये सब सिद्धान्त, सब वर्णन उस परमसत्यको प्राप्त करानेके लिए हैं। अर्थात् ये मार्गका—साधन विशेषका समर्थन करनेके लिए हैं। इनका तात्पर्य अमुक साधनमें निष्ठा कराना है। खण्डनमें इनमें-से किसीका तात्पर्य नहीं है। चौथी बात इनमें-से किसीमें भी निष्ठा होनेसे उस लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है।

आपने इनका विरोध ही देखा है और वह सैद्धान्तिक विरोध केवल बौद्धिक है। वह शास्त्रार्थ करके अहंका पोषण मात्र करा सकता है। इन सब सिद्धान्तों, सब मार्गोंमें तो एकता है, उसे आपने देखा है? इन सबका हृदय एक है, इसे जानते हैं?

१. सब आध्यात्मिक साधन मार्गोंमें, सब मतोंमें पहली शर्त है शारीरिक एवं मानसिक पूरा सदाचार। कोई भी दुराचार असंयमका समर्थन नहीं करता। भले कोई उसे शम, दम, कहे, कोई षट्सम्पत्ति कहे, कोई अष्टादशदूषण राहित्य कहे या कोई सम्यक् आचार कहे।

२. सब कहते हैं निष्ठा अत्यन्त दृढ़ रहना चाहिए।

३. सबको वैराग्य, विवेक अर्थात् अन्तर्मुखता ही अभीष्ट है।

४. सब पवित्रताके ही पक्षपाती हैं।

५. सब कहते हैं साधन स्थिर होकर अर्थात् बैठकर शरीर स्थिर करके तथा मन स्थिर करके ही होना चाहिए।

नाविरतो दुश्चरितान्ना शान्तोना समाहितः।
नाशान्तमानसोवापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

श्रुति कहती है—जिसके जीवनसे पाप दुराचार नहीं छूटे हैं, जिसका जीवन शान्त नहीं है अर्थात् जो बहुत कार्यव्यग्र है, जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं है और जिसका मन शान्त नहीं है, वह केवल बौद्धिक ज्ञानसे इस परमतत्त्वको नहीं पा सकता।

वेदको न माननेवाले अध्यात्मवादी भी इस वेद-वर्णित तथ्यको बिना अपवादके स्वीकार करते हैं।

इसलिए इसका कोई महत्त्व नहीं है कि आप भक्तिको श्रेष्ठ मानते हैं या ज्ञानको अथवा योग या निष्काम कर्मको।

इसका भी कोई महत्त्व नहीं है कि आप बहुत बड़े धनी हैं या दरिद्र, पण्डित हैं या मूर्ख। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्रके बड़े भाष्य आप पढ़ा समझा सकते हैं या नहीं।

इसका भी कोई महत्त्व नहीं है कि संसारके लोग आपको क्या समझते हैं और आपका समाजमें कितना आदर है। आपका वैभव कितना है और आपके अनुयायी कितने तथा कैसे लोग हैं।

महत्त्व इसका है कि आप जो भी मानते हैं, उसमें आपकी निष्ठा कितनी दृढ़ है और उस निष्ठाके अनुसार आप कितना चलते हैं।

महत्त्व इसका है कि आपके जीवनमें संयम, सदाचार, त्याग, तितीक्षा अन्तर्मुखता कितनी है।

महत्त्व इसका है कि भोगोंसे आपकी कितनी अरुचि है और कष्टमें, विपत्तिमें, प्रतिकूलतामें भी आप कितने स्थिर प्रसन्न तथा अन्तर्मुख रह पाते हैं।

——

उसे कर्म कहकर सन्तोष कर लेते हैं। बौद्धोंने उसे बुद्ध कहकर पुकारा। तर्कशील नैयायिक उसे कर्ता कहते हैं। भक्तोंका अभीष्ट सिद्ध करने वाला निखिललोक महेश्वर वही श्रीहरि है।

द्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत शुद्धाद्वैत, अद्वैत, अचिन्त्य भेदाभेद आदि दार्शनिक मत तथा निर्गुण निराकार सगुण, सगुण-निर्गुण-साकार-निराकार सर्वरूप आदि वाद परस्पर चाहे जितने विरुद्ध लगते हों उनके अनुमानिकमें चाहे जितना मतभेद हो और इन वादोंका परस्पर सामञ्जस्य चाहे जितना अशक्य लगता हो; किन्तु यह अकाट्य एवं सर्वसम्मत तथ्य है कि सब एक ही तत्त्वका वर्णन करते हैं। सब उस एक ही परमसत्यको प्राप्त कराना चाहते हैं और यह भी सत्य है कि सब मतोंमें ही कुछ न कुछ महापुरुष उस परम सत्य तक पहुँचने वाले हुए हैं।

यह जो खण्डन-मण्डन मतभेद है यह अपूर्णतामें चलता है यह पहली बात। दूसरी बात यह केवल लाक्षणिक वर्णन है और लाक्षणिकतामें मत-भेद सहज सम्भव है। सभीको स्वीकार है कि—

'राम स्वरूप तुम्हार, बचन अगोचर बुद्धिपर।
अविगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह॥

तीसरी बात—ये सब सिद्धान्त, सब वर्णन उस परमसत्यको प्राप्त करानेके लिए हैं। अर्थात् ये मार्गका—साधन विशेषका समर्थन करनेके लिए हैं। इनका तात्पर्य अमुक साधनमें निष्ठा कराना है। खण्डनमें इनमें-से किसीका तात्पर्य नहीं है। चौथी बात इनमें-से किसीमें भी निष्ठा होनेसे उस लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है।

आपने इनका विरोध ही देखा है और वह सैद्धान्तिक विरोध केवल बौद्धिक है। वह शास्त्रार्थ करके अहंका पोषण मात्र करा सकता है। इन सब सिद्धान्तों, सब मार्गोंमें तो एकता है, उसे आपने देखा है? इन सबका हृदय एक है, इसे जानते हैं?

१. सब आध्यात्मिक साधन मार्गोंमें, सब मतोंमें पहली शर्त है शारी-रिक एवं मानसिक पूरा सदाचार। कोई भी दुराचार असंयमका समर्थन नहीं करता। भले कोई उसे शम, दम, कहे, कोई षट्सम्पत्ति कहे, कोई अष्टादशदूषण राहित्य कहे या कोई सम्यक् आचार कहे।

२. सब कहते हैं निष्ठा अत्यन्त दृढ़ रहना चाहिए।

३. सबको वैराग्य, विवेक अर्थात् अन्तर्मुखता ही अभीष्ट है ।

४. सब पवित्रताके ही पक्षपाती हैं ।

५. सब कहते हैं साधन स्थिर होकर अर्थात् बैठकर शरीर स्थिर करके तथा मन स्थिर करके ही होना चाहिए ।

नाविरतो दुश्चरितान्ना शान्तोना समाहितः ।
नाशान्तमानसोवापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

श्रुति कहती है—जिसके जीवनसे पाप दुराचार नहीं छूटे हैं, जिसका जीवन शान्त नहीं है अर्थात् जो बहुत कार्यव्यग्र है, जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं है और जिसका मन शान्त नहीं है, वह केवल बौद्धिक ज्ञानसे इस परमतत्त्वको नहीं पा सकता ।

वेदको न माननेवाले अध्यात्मवादी भी इस वेद-वर्णित तथ्यको बिना अपवादके स्वीकार करते हैं ।

इसलिए इसका कोई महत्त्व नहीं है कि आप भक्तिको श्रेष्ठ मानते हैं या ज्ञानको अथवा योग या निष्काम कर्मको ।

इसका भी कोई महत्त्व नहीं है कि आप बहुत बड़े धनी हैं या दरिद्र, पण्डित हैं या मूर्ख । उपनिषद्, ब्रह्मसूत्रके बड़े भाष्य आप पढ़ा समझा सकते हैं या नहीं ।

इसका भी कोई महत्त्व नहीं है कि संसारके लोग आपको क्या समझते हैं और आपका समाजमें कितना आदर है । आपका वैभव कितना है और आपके अनुयायी कितने तथा कैसे लोग हैं ।

महत्त्व इसका है कि आप जो भी मानते हैं, उसमें आपकी निष्ठा कितनी दृढ़ है और उस निष्ठाके अनुसार आप कितना चलते हैं ।

महत्त्व इसका है कि आपके जीवनमें संयम, सदाचार, त्याग, तितीक्षा अन्तर्मुखता कितनी है ।

महत्त्व इसका है कि भोगोंसे आपको कितनी अरुचि है और कष्टमें, विपत्तिमें, प्रतिकूलतामें भी आप कितने स्थिर प्रसन्न तथा अन्तर्मुख रह पाते हैं ।

——

सुखी जीवन–पूर्ण जीवन

जीवनकी पूर्णताके अनेक उदाहरण पुराणोंमें आये हैं। आदिराज, पृथु, महाराज प्रियव्रत जैसे महापुरुषोंके जीवन सम्यक् पूर्ण थे।

केवल भोगपरायण जीवन तो सर्वथा अपर्ण है और केवल निवृत्ति परायण जीवन भी एकाङ्गी जीवन है।

हमारे आपके जीवनमें कितनी बातें हैं— १. शरीर, २. वाणी तथा दूसरी इन्द्रियाँ, ३. मन ४. भावना, ५. बुद्धि।

शरीर स्वस्थ हो और मन-इन्द्रियाँ निर्दोष हों, यह किसीके अपने हाथमें नहीं है। प्रारब्धके अनुसार शारीरिक शक्ति तथा इन्द्रियाँ मिलती हैं। लेकिन जैसा भी शरीर और इन्द्रियां मिली हैं, उनका दुरुपयोग न हो, उनका सदुपयोग हो, यह शारीरिक जीवनकी पूर्णता है।

शरीर तथा इन्द्रियाँ केवल भोग जुटाने तथा भोगनेमें न लग जायँ, शरीरसे, वाणीसे, हाथ-पैर आदिसे किसीका अपकार न हो, यथासम्भव दूसरोंकी सेवा-सहायता हो तथा शरीर, वाणी, इन्द्रियाँ भगवत्सेवा—भगवत्स्मरणमें लगें, शरीर तथा इन्द्रियोंका सहयोग हमारे मनुष्य जीवनको सफल करनेमें—जन्म-मरणके चक्रसे छुटकारा पानेमें प्राप्त हो, यह शारीरिक जीवनकी सफलता है।

वाणी भगवन्नाम जप-कीर्तन करके, भगवद् गुण गाकर सफल होती है। नेत्र सफल होते हैं सगुण साकार भगवानका दर्शन करके। कान भगवत्कथा सुनकर सफल होते हैं। रसनाकी सफलता भगवत्कथा गायनमें है। नाककी सफलता है भगवत्प्रसादकी गन्ध लेनेमें।

'भुज भरि भेंटिबो घनश्याम।'

यह त्वचाकी सफलता है। हाथकी सफलता भगवत्सेवामें और पैरकी सफलता भगवत् क्षेत्रकी यात्रामें है।

'विस्वरूप रघुबंस मुनि' सम्पूर्ण जगत भगवद्रूप है। अतः यदि आप जगतको भगवानके रूपमें देख सकें तो आपका सब व्यवहार भगवानकी सेवा हो जायगा।

मनकी सफलता भगवच्चिन्तनमें ही है। जगतका चिन्तन, अर्थ और कामका चिन्तन मनको विकृत करता है। मनकी ही नहीं, सबकी पूर्णता अपने स्वरूपमें स्थिर होनेमें है और मन सत्त्वगुणका निर्माण है। यह

प्रद्युम्न देवत है। अतः मनकी सफलता सत्त्वगुणमें रहनेमें, अपने पिता वासुदेव—अन्तर्यामी परमात्माके समीप बैठनेमें ही है।

हृदय सदा भगवद्भावसे परिपूर्ण रहे, यह भावना शक्तिकी पूर्णता है।

बुद्धि सूक्ष्म-ग्राहिणी होनी चाहिए। बुद्धिमें ब्रह्मात्मैक्य बोधमें कोई संशय, विपर्यय न हो, तत्त्वग्रहणमें बुद्धि समर्थ हो, शास्त्रोंका ठीक-ठीक तात्पर्य उसमें प्रकाशित हो, यह बुद्धिकी सफलता है।

केवल पढ़ लेना या बुद्धिमान होजाना बुद्धिकी पूर्णता नहीं है। असत् विषयोंका विद्वान् होना और कुतर्क-पण्डित होना तो बुद्धिका दुरुपयोग है। बुद्धि जीवन नष्ट-भ्रष्ट करनेके लिए नहीं है। बुद्धि है जीवन-निर्माण करनेके लिए। अतः जो असन्मार्गसे हटाकर सन्मार्गपर दृढ़ रखे, वह बुद्धि बुद्धि है और वह पूर्ण होती है। चिन्मात्र तत्त्व—ज्ञानस्वरूप परमात्मासे एक होकर।

सन्मात्रमें व्यवस्थित शरीर पूर्ण है। अर्थात् शरीरको जब अपने भोग, अपनी सत्ता बनाए रखनेमें व्यस्त न होना पड़े, वह अप्रयास स्वस्थ बना रहे और दूसरोंको सत्ता बनाये रखनेमें सहयोग दे तो शरीर पूर्ण है।

ज्ञानस्वरूप परमात्मामें व्यवस्थित, संशय-विपर्यय, भ्रमादि दोष रहित बुद्धि पूर्ण है। उसका प्रकाश दूसरोंके भ्रम, संशय-विपर्ययका निवारण करता है।

भावना—हृदयके, मनके भाव तब पूर्ण होते हैं जब वे आनन्दघन—सगुण-साकारकी लीला, गुण, महिमाके चिन्तनसे भरे रहें।

आनन्दके लिए जब हमें अपने भीतरसे बाहर न जाना पड़े, किसी वस्तु या व्यक्तिकी अपेक्षा न हो और हमारी वाणी, हमारी चेष्टा जगतमें आनन्दका प्रवाह उड़ेलती रहे, तब हमारा भाव-जीवन पूर्ण हुआ।

गोस्वामी तुलसीदासजीने एक ही दोहेमें जीवनकी इस पूर्णताका स्वरूप बतलाया है—

हिय निरगुन नयननि सगुन रसना राम सुनाम।
मनहु पुरट सम्पुट लसत तुलसी ललित ललाम॥

बुद्धि व्यवस्थित है नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वमें और भावना-उपासना इतनी प्रबल है कि सगुण साकार आनन्दघन नेत्रोंके सम्मुख क्रीड़ा करता है। जिह्वा भगवन्नाम लेनेमें तल्लीन है। यह जीवन है जो स्वर्णके सम्पुटमें रखे महामूल्यवान रत्नके समान स्वयंमें परिपूर्ण है।

इस जीवनकी पूर्णताको पानेका प्रयत्न भी अपने आपमें धन्य है।

——

संकल्प-साधन

पाश्चात्य सङ्कल्पोंका भारतपर प्रभाव

बाबा नगीना सिंहजी (स्वामी रामतीर्थके गुरु) ने 'वेदानुवचन' नामक अपनी पुस्तकमें उपनिषदोंकी 'इन्द्र-विरोचन' कथाको अपने ढंगसे व्यक्त किया है। वे कहते हैं—ब्रह्माके पास विरोचन तथा इन्द्र आत्मज्ञानके लिए गये। दीर्घकालीन ब्रह्मचर्यव्रत एवं तपस्याके पश्चात् ब्रह्माजीने उपदेश किया—'जो जलमें दीखता है, जो दर्पणमें दीखता है, वही आत्मा है।'

दैत्यराज विरोचन तथा देवराज इन्द्र—ये दोनों स्रष्टाका उपदेश सुनकर लौटे। विरोचन पूर्ण सन्तुष्ट लौटे और उन्होंने अपने अनुयायी असुरोंको उपदेश किया—'जलमें या दर्पणमें दीखने वाला यह शरीर ही आत्मा है। इसे सजाओ, स्वस्थ-सबल बनाओ तथा मरनेपर भूमिमें सुरक्षित रखो। प्रलय तक यह वहाँ सोवेगा। प्रलय होनेपर ब्रह्माजी शृंग-नाद करेंगे और तब सब आत्माएँ भूमिसे उठेंगी। उस समय उनके कर्मोंका निर्णय होगा।'

देवराज इन्द्र मार्गमें मनन करने लगे—'जो पानीमें दीखता है और जो दर्पणमें दीखता है, वह तो शरीर है। शरीर सदा एकरस रहता नहीं। बाल्य, तारुण्य, वार्धक्यादिके कारण, रोगोंके कारण तथा वस्त्रालङ्कारके परिवर्तनसे शरीरके रूप परिवर्तित होते हैं। परिवर्तनशील आत्मा कैसे हो सकता है।'

इन्द्र फिर ब्रह्माजीके पास लौट गये। फिर उन्हें तपस्या तथा ब्रह्मचर्यका दीर्घकाल तक पालन करना पड़ा और तब उपदेश मिला। इस प्रकार इन्द्र कई वार मार्गसे लौटे और तब सन्तुष्ट हुए, जब उन्हें अविनाशी, एकरस, नित्य, शुद्ध आत्मतत्वका ज्ञान हो गया।

बाबा नगीना सिंहजीका संकेत है कि सृष्टिके उस आदिकालमें ही विरोचन द्वारा उपदिष्ट आसुर तथा इन्द्र द्वारा उपदिष्ट दैव परम्परा प्रसारित हो गयी और वे दोनों परम्पराएँ अपने रूप बदलती अब तक चल रही हैं।

आसुर एवं दैव नाम रखना तो उपयुक्त नहीं है; किन्तु यह सत्य सभी विचारवानोंको स्वीकृत होना चाहिए कि अब भी संसारमें मूल दो ही

संस्कृति हैं और वे हैं देहात्मवादी तथा शुद्धात्मवादी। परलोकको स्वीकार करके भी प्रयत्न तक भूमिमें प्रसुप्त रहनेकी भावना देहको महत्व दे ही देती है, जब कि पुनर्जन्म माननेवालोंके लिए एक देहका मूल्य एक वस्त्रसे अधिक कुछ नहीं है। एक शरीरका जीवन तो जीवनके अनन्त विस्तृत ग्रन्थका एक पृष्ठमात्र है।

देहको प्रधानता देनेवाली परम्परामें देहका मोह रहेगा ही, अतः देहको स्थिर रखने—उसे किसी न किसी रूपमें बनाये रखनेका आग्रह स्वाभाविक है। विश्वके पिरामिडोंसे लेकर आजके स्मारक तक इसी मनोवृत्तिके प्रतिफल हैं। स्मारकोंकी स्थापना चित्र या मूर्ति स्थापित करना, समाधियाँ बनाना, जोवन चरित, अभिनन्दन ग्रन्थ—ये सब इसी परम्पराकी देन हैं। ये सब बातें अवांछनीय हैं, मैं ऐसा नहीं कर रहा हूँ। इनमें अनेक बातें प्रेरणाप्रद हैं, सामाजिक लाभकी हैं, आवश्यक हैं। लेकिन मैं तो यहाँ केवल परम्पराका वर्गीकरण कर रहा हूँ।

अब पुनर्जन्मवादी परम्पराकी ओर देखें तो पुराणोंका अन्वेषण कहता है कि इस परम्परामें फोटो रखने, मूर्ति बनाने, समाधि बनाने, स्मारक, जीवन चरित्र, अभिनन्दन ग्रन्थादि किसी ऐसी बातको स्थान नहीं जिसमें किसी भी व्यक्तिके दैहिक स्मरणको स्थायित्व देनेका प्रयास हो, भले वह व्यक्ति कितना भी महान् हो। इस परम्परामें स्मरण रखने योग्य केवल भगवान् माने गये हैं। उन चिन्मय वपु, भुवन मंगलकारी हरिके ही मंगलचरित लिखे जावें। उनके ही मन्दिर मूर्ति बनें। उनको ही स्मरण करने-करानेका प्रयत्न हो।

इस मान्यताके अनुसार भक्तों तथा इतर लोगोंका उतना ही चरित्र स्मरणीय है जितना किसी भगवत्लीलाके व्यक्त होनेका हेतु या भगवत्लीलाका अङ्ग है। प्रह्लादजीने सहस्रों वर्ष राज्य किया; किन्तु उनके चरितका वही अंश प्राप्य है जो नृसिंह भगवान्के प्राकट्यका कारण बना। यही बात अन्य भक्तचरितोंमें है। महाराज दशरथ या महर्षि वशिष्ठके स्मारक, उनके मन्दिर समाधियाँ या मूर्ति बनी नहीं।

स्मारक, अभिनन्दन-ग्रन्थ, समाधि, चित्र, जीवन चरित आदि जिनके होते हैं, उनके गुणोंको अपनानेके लिए हमें प्रोत्साहित करते हैं। इस रूपमें इनकी महत्ता मुझे स्वीकार है। लेकिन हमारी—हम भारतीय लोगोंकी संस्कृतिमें यह बात नहीं थी। शरीर नश्वर है और उसके नाम-रूपमें मोह रखना अज्ञान है, यह हमारी दृढ़ मान्यता थी। इसीलिए कालिदास, भव-

भूति, सूर, तुलसी आदि महान् कवियों एवं सन्तोंने न तो आत्मचरित लिखा, न उनके चरित-चित्र समाधि आदि बनाने तथा उसे सुरक्षित रखनेकी ओर हमारे समाजने ध्यान दिया।

यह अवस्था भारतकी दीर्घकाल तक रही। लेकिन भारत बार-बार आक्रान्त हुआ है और इनमें अधिकाँश आक्रमण पश्चिम या पश्चिमोत्तरसे ही हुए हैं, आक्रान्ताओं द्वारा अभिभूत होनेपर विजितपर उसके संकल्पका प्रभाव पड़ता ही है। संसारमें प्रायः सब कहीं आक्रान्ताके संकल्पने पूरे देशके लोगोंको अभिभूत कर लिया तथा अपने रहन-सहन, आचार व्यवहार, धर्मादिका उनमें विस्तार किया। केवल भारतकी अपनी संस्कृति जीवित रही। यद्यपि हमपर भी प्रभाव पड़ा और खूब पड़ा; किन्तु हमारी मूल आचार-विचारकी परम्परा सुरक्षित रही। कोई आक्रान्ता हमें पचा नहीं सका, उलटे अनेकों तो हममें ही विलीन हो गये।

शक, हूण आदि जातियोंने भारतपर आक्रमण किया और विजय प्राप्त की। लेकिन भारतीय संकल्पने उन्हें आत्मसात् कर लिया। उनका समुदाय हमारे समाजमें लीन हो गया। उनका भी हमपर कुछ प्रभाव पड़ा, यह छानबीन आज अत्यन्त कठिन हो गयी है।

दीर्घकाल तक भारत पर इस्लामको माननेवाली विभिन्न शाखाओंके आक्रमण होते रहे। प्रारम्भमें ये आक्रमण अत्यन्त वर्बर थे और हत्या, लूटपाट तथा ध्वंस ही इन आक्रमणोंमें प्रधान थे। आक्रान्ता जब इसी देशमें बस गये तब उनके आचार-विचार रहन-सहन, भाषा-भूसाका प्रभाव हम-पर पड़ना प्रारम्भ हुआ।

इस्लामका प्रभाव भारतमें व्यापक हुआ और दीर्घकाल तक रहा। हमारे स्थापत्य (गृहनिर्माण) साहित्य, भाषा, वेश आदि सबपर उसका पड़ा। हममें समाधि बनानेकी प्रवृत्ति ही नहीं आयी और भी बहुत सी प्रवृत्तियाँ आयीं। विलासिता बढ़ी, देहका महत्त्व बढ़ा तथा अन्य अनेक बातें बढ़ीं।

पाश्चात्य—विशेषतः अंग्रेजोंके भारत आनेका प्रभाव हमपर सबसे अधिक पड़ा। पाश्चात्य सभ्यता अर्थ प्रधान है, जब कि भारतीय सभ्यता एवं समाजका सञ्चालन यशेच्छाके माध्यमसे होता था। यज्ञ, विजय, अर्थोपार्जन आदि सब भारतमें होते थे यश प्राप्तिके लिए। युद्ध या व्यापार, दान या संग्रह यहाँ किसीको पराधीन करनेके लिए नहीं थे। इनका एक

मात्र उद्देश्य था प्रशंसा-प्रमुखताकी प्राप्ति। लेकिन पाश्चात्य सभ्यताका माध्यम तो अर्थ है। समस्त उद्योग वहाँ अर्थ प्राप्तिके लिए हैं और आज भारत ही नहीं समस्त विश्व पाश्चात्य अर्थवादके प्रभुत्वमें हैं। सब कहीं अर्थने प्राधान्य प्राप्त कर लिया है।

पाश्चात्य संकल्प—पाश्चात्य मान्यताके विस्तारका संकल्प पूरा हुआ। हमारे गुरुकुल गये, हमारे समाजका प्राचीन स्वरूप गया और हमारे रहन-सहन, भाषा-भूषा, विचार-आचार सबपर आज पाश्चात्य छाप है। इससे बड़ी पाश्चात्य सभ्यताकी क्या विजय होगी कि हमारे समाजके संचालक एवं अग्रणी आज शरीरसे तथा कुछ वेशसे भारतीय होकर भी हृदय एवं मस्तिष्कसे योरोपीय हैं। वे विचार भी विदेशी भाषामें करते हैं।

पाश्चात्य संकल्पके पीछे हैं अथक उद्योग एवं सफलताकी प्राप्तिका दृढ़ निश्चय। बड़ेसे बड़ा भय उठाकर, बड़ेसे बड़ा बलिदान करके भी लक्ष्यको प्राप्त करनेकी दृढ़ लगन पाश्चात्य संकल्पमें निहित है और यह लगन हममें अभी अत्यल्प आयी है। पाश्चात्य संकल्पका यही एक प्रभाव है जो हमपर बहुत कम पड़ा, जबकि इसे पूरा पूरा पड़ना चाहिए। भौतिकता—विज्ञानकी विजय तो पाश्चात्य संकल्पकी विजय है ही; किन्तु उसपर भारतके राष्ट्रपुरुष 'बापू' के संकल्प 'अहिंसा' की विजय निश्चित है। यह विजय ही विश्वको शान्तिका शाश्वत वरदान दे सकती है। आज तो आदान-प्रदानका युग है और प्रत्येक देश, जाति एवं व्यक्ति दूसरोंके संकल्पोंसे प्रभावित होता ही है। यह प्रभाव मानवको देवत्वकी ओर ले जाय एवं पशुत्वसे ऊपर उठावे यही आज सर्वाधिक अपेक्षित है।

—×—

संकल्प-सिद्धिके प्राच्य-पाश्चात्य साधनोंमें अन्तर

हम भारतीय सदासे दैवी शक्तियोंमें विश्वास करते आये हैं और अब भी करते हैं। हमारा शास्त्र देववादका समर्थक है। प्रत्येक वस्तु, प्राणी एवं समूहके अधिदेवता होते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य या दूसरे प्राणी कोई वस्तु नहीं बनाते। लेकिन हम जो वस्तु बनाते हैं, वह तो वस्तुका शरीर है। शरीर बन जानेपर उस वस्तुमें एक चेतन सत्ता आ बैठती है। यही सत्ता उस वस्तुकी अधिदेवता है।

जैसे आप मकान बनाते हैं, मकान बनते ही मकानमें उसका अधिदेवता आजाता है। गृह-प्रवेशके समय उसी क्षेत्रपालकी पूजा होती है। बढ़ई कुर्सी बनाता है; किन्तु कुर्सी बन जानेपर उसमें उसका अधिदेवता आजाता है। हिन्दू धर्म प्रत्येक पदार्थमें उसका अधिदेवता मानता है और इसीसे प्रत्येकका उसके उपयोगके प्रारम्भमें पूजनका विधान है। जैसे घरका अधिदेवता होता है उसी प्रकार ग्रामका भी अधिदेवता होता है और देशका भी।

पर्वत, नदियाँ, समुद्र, बन आदि ही नहीं—दिन, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु एवं वर्षके भी अधिदेवता होते हैं। पदार्थ, काल, कर्मादि सबके देवता हैं। राग-रागिनियोंके देवताओंके तो चित्र भी लोगोंने बनाये हैं। इसी प्रकार शक्तियों, भावनाओं आदिके भी अधिदेवताका वर्णन है।

जिस पदार्थ, स्थान, समय, भाव या कलासे हमें प्रयोजन होता है, उसका अधिदेवता सन्तुष्ट एवं अनुकूल होगा तो उस विषयमें हमें सुख, सफलता, दक्षता प्राप्त होगी और यदि अधिदेवता असंतुष्ट होगा तो हमारा परिश्रम व्यर्थ जायगा। हमें अशान्ति एवं असफलताका सामना करना होगा, इसलिए अधिदेवताकी चर्चा अथवा वन्दना करके प्रवृत्त होना अधिक उत्तम होता है।

प्राच्य परम्परामें इस अधिदेवतावादकी मान्यता होनेके कारण हम अपने संकल्पकी सिद्धि देवताओंके माध्यमसे चाहते हैं। देवाराधना, मन्त्र-जप, अनुष्ठानादि हमारी संकल्प-सिद्धिके साधन होते हैं। स्वभावतः ऐसे किसी

प्रयोगके लिए उपयुक्त स्थान, समय, उपकरण आवश्यक माने जाते हैं एवं शकुनको भी महत्ता दी जाती है।

ज्योतिषके अनुसार उपयुक्त मुहूर्त देखकर, उपयुक्त स्थल चुनकर, आवश्यक पवित्र पदार्थ एकत्र करके तब साधन प्रारम्भ होता है और इसमें होने वाले शकुनोंको पूरा-पूरा महत्व दिया जाता है। सब बातें अनुकूल पड़ने-पर ही संकल्पकी सिद्धि निर्भर करती है।

प्रत्येक शुभ कर्मका फल उसके संकल्पके अनुसार ही होता है, यह मान्यता प्राच्य साधन प्रणालीकी अपनी विशेषता है। शुभ कर्म करनेमें कोई संकल्प पाठ आवश्यक नहीं है। क्योंकि अशुभ कर्म तो अकरणीय होते हैं। उनको करके जीव दण्डका भागी होता है और यह नियम है कि दण्डको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उसे तो भोगना ही पड़ता है।

शुभ कर्मका फल सुख होता है, यह पुरस्कारके समान है। यह नियम सर्व स्पष्ट है कि अपराधका दण्ड भोगना ही पड़ता है। अपराधी उसे न अस्वीकार कर सकता और न दूसरेको दे सकता है; किन्तु शुभ कर्मसे मिलने वाले उपहारको अस्वीकार भी किया जा सकता है तथा दूसरेको भी उसे दिया जा सकता है। इसीलिए हमारे शास्त्रोंने शुभ कर्मोंसे पूर्व संकल्पकी विधि रक्खी है। कोई शुभ कर्म हम क्यों करने जा रहे हैं, यह संकल्प कर्मके आरम्भमें ही करना पड़ता है। स्वयं करके उसका शुभ फल संकल्प पूर्वक दूसरेको दिया जा सकता है। एक व्यक्तिके बदले उसके द्वारा वरण किया ब्राह्मण इसीसे अनुष्ठान कर लेता है और अनुष्ठानका फल यजमानको दे देता है।

पाश्चात्य जगत अधिदेवतावादको जानता ही नहीं, अपरिचयजन्य ही है उसका अविश्वास ! पाश्चात्य शिक्षा सभ्यतासे प्रभावित भारतीय समाजका भी एक बड़ा शिक्षित वर्ग पाश्चात्य मान्यताओंको ही परम सत्य मानता है। उसका गुरु पश्चिम है। भारतीय होकर भी वह हृदयसे भार-तीय नहीं। यह वर्ग भी अधिदेवतावादमें विश्वास नहीं करता।

लेकिन ईश्वरीय शक्ति तथा संकल्पकी शक्तिपर पाश्चात्य जगतके आस्थावान विद्वान पूरा विश्वास करते हैं। यद्यपि पाश्चात्य सभ्यता भौतिक सभ्यता है और उसके अनुयायी भौतिकतावादी हैं, भले वे कहीं किसी देशमें रहते हों, किन्तु उनमें जिस किसीने शोध की है, उसे मनकी असीम शक्ति-योंको स्वीकार करना पड़ा है। मनकी यह शक्ति संकल्पकी ही शक्ति है।

अधिदेव-वादपर भरोसा न होनेके कारण पाश्चात्य साधकोंकी प्रणाली संकल्प सिद्धिके लिए प्राच्यप्रणालीसे सर्वथा भिन्न है। वे न देवाराधन कर सकते, न मन्त्र जप ही। मुहुर्तशोधन, स्थल एवं उपकरणोंका चुनाव, शकुन विचार आदि वहाँ पूछे नहीं जाते। वहाँ तो संकल्पकी दृढ़ आवृत्तिपर वल दिया जाता है।

जैसे कोई रोगी है। उसे स्वस्थ करनेके लिए चिकित्साको छोड़ दें तो भारतीय प्रणाली होगी कि उसकी ग्रह शान्ति करायी जावे, महामृत्युञ्जयका जप हो। सूर्यादि-वारोंमें-से किसी उपयुक्त वारको वह व्रतपूजन करे। लेकिन पाश्चात्य प्रणाली यह होगी कि कोई स्वस्थ सवल मानस व्यक्ति बार-बार स्थिर मनसे यह संकल्प दुहरावे कि रोगी ठीक होरहा है। रोगी भी बराबर ऐसे वाक्य दुहरावे कि मैं निरोग हो रहा हूं मेरे शरीरसे रोग निकल कर भागे जा रहे हैं। सवल एवं स्फूर्तियुक्त हूँ। रोगोंको मैं अब अवश्य पराजित कर दूँगा। रोग मेरा बिगाड़ नहीं सकते।

प्राच्य एवं पाश्चात्य संकल्प-सिद्धिकी इन प्रणालियोंका अन्तर दो दृष्टिसे महत्वपूर्ण है—(१) कर्त्ताकी दृष्टिसे (२) सफलताकी दृष्टिसे। प्राच्य प्रणालीमें साधक केवल आराधक है। वह देवताकी आराधना या मन्त्रका जप करता है। उसें जो सफलता मिलती है, वह देवताका वरदान है। इसमें उसका पुरुषार्थ कुछ नहीं है। अतएव उसके लिए अहंकार करने जैसी कोई वात नहीं है। वह यह भी जानता है कि देवता चाहे जब रुष्ट हो सकते हैं, अतः उसे सतत् सावधान रहना पड़ता है। इसके साथ उसके आचार-व्यवहारपर एक नियंत्रण बना रहता है। वह आवश्यक सब प्रकारका संयम किये बिना सफलताकी आशा नहीं कर सकता।

पाश्चात्य प्रणालीमें व्यक्ति स्वयं संकलपका कर्त्ता है। उसपर आचार-व्यवहार सम्बन्धी कोई अंकुश नहीं है। केवल उसे अपने संकल्पके पूर्ण होनेमें संशय रहित विश्वास होना चाहिए। सन्त जेम्स एलेनने कहा है—"यदि तुम आज्ञा दो आल्पस (पर्वत विशेष) को कि जा और समुद्रमें डूब जा! तो तुम्हारी आज्ञाका पालन होगा, यदि तुम्हें स्वयं अपनी आज्ञाके पालन होनेमें भी किंचित सन्देह न हो।" बात तो यह सर्वथा सत्य है; किन्तु इससे व्यक्तिका अहंकार बढ़ता है और अहंकारका दृढ़मूल होना परमार्थ-पथकी सबसे बड़ी बाधा है। दूसरे आचार-व्यवहारपर कोई नियंत्रण न होनेसे

ऐसा स्थिर संकल्प व्यक्ति समाजके लिए शुभ ही होगा, यह कहा नहीं जा सकता। वह अत्यन्त भयंकर भी बन सकता है।

दूसरा अन्तर है सफलताकी दृष्टिसे। कोई कितना भी दृढ़ संकल्प हों, उसके संकल्पपर स्थान, समय, परिस्थिति एवं प्रारब्धका प्रभाव पड़ेगा ही। यदि ये सब विपरीत हों तो संकल्प व्यर्थ जायगा। दृढ़ संकल्प प्रतिक्रिया बनकर संकल्प कर्ताको ही रुग्ण अथवा उन्मत्त बना सकता है इस प्रकार पाश्चात्य प्रणालीमें विफलताकी सम्भावना अधिक है और दृढ़ संकल्पके प्रयोगमें स्वयं हानि उठा लेनेकी आशंका भी कम नहीं है।

प्राच्य प्रणालीमें स्थान, समय आदिकी प्रतिकूलताका तो प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि इसमें तो शुभ स्थलमें, शुभ मुहुर्त देखकर, पवित्र एवं अनुकूल परिस्थितिमें साधन करनेका विधान ही है। प्रारब्ध प्रतिकूल हो सकता है। शास्त्रकारोंने बताया है कि प्रारब्धमें चाहे जितनी बड़ी बाधा हो, एक ही अनुष्ठान लगातार इक्कीस बार करनेपर वह अवश्य ही दूर हो जाती है। संकल्पकी सिद्धि देवताके माध्यमसे प्राप्त करनेके कारण हानि उठानेका भय नहीं रहता और यदि कोई बात हुई भी तो देवता प्रत्यक्ष या स्वप्नमें सूचना देकर साधकको सावधान कर देता है।

इस प्रकार प्राच्य एवं पाश्चात्य संकल्प-सिद्धिके साधनोंमें मौलिक अन्तर है। वैसे दोनोंमें ही सफलतामें सन्देह रहित विश्वास, साधनमें पूर्ण आस्था तथा साधन करनेमें प्रमादहीन सतत् चेष्टा नितान्त आवश्यक मानी जाती है। दोनों ही आन्तरिक अतीन्द्रिय शक्तिके क्रियाशील होनेपर विश्वास करते हैं और दोनोंकी मान्यता है कि यह विश्वकी समस्त भौतिक शक्तियोंसे महान है।

————
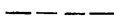
सङ्कल्प-सिद्धिमें विज्ञानका योग

'मैं उड़ जाऊँगा और ये मूर्ख मुँह देखते रह जायेंगे।' मैं सोच रहा था और निश्चिन्त खड़ा था। कुछ लोग बड़े रोषमें थे। मुझे पकड़ना चाहते थे और यदि पकड़ सकें तो–लेकिन वे मुझे पकड़ सकते नहीं, अतः पकड़नेकी बात सोचना व्यर्थ है। वे रोषमें भरे लोग दूरसे चिल्लाते दौड़ते आ रहे थे। वे क्यों रोषमें थे, क्यों मुझे पकड़ना चाहते थे, क्यों चिल्लाते दौड़ते आरहे थे, यह सब मत पूछिए; क्योंकि यह सब तो उसी दिन दो घण्टे पीछे ही मैं भूल गया था। अब स्मरण इतना है कि जब वे लोग मेरे पास आ गये तो मैं दोनों हाथ पक्षियोंके पंखोंके समान हिलाता हुआ आकाशमें उड़ गया। वे लोग हक्के-बक्के मुझे देखते रह गये ऊपर मुख उठाये और मैं उड़ता गया उड़ता चला गया।

स्वप्नमें इस प्रकार मैं अनेक बार उड़ता हूँ और मुझे विश्वास है कि आप भी कभी न कभी स्वप्नमें उड़े होंगे। इन स्वप्नोंका अर्थ है कि पक्षियों-को आकाशमें उड़ते देखकर मनुष्यके मनमें भी संकल्प उठा उड़नेका और वह संकल्प विज्ञानने आज पूरा कर दिया। वायुयानकी यात्रा आज सर्व सुलभ हो चुकी है। यहाँ मैं जान बूझकर पुष्पक आदि प्राचीन कालके पुराण वर्णित विमानोंकी चर्चा नहीं कर रहा हूँ; क्योंकि मन्त्र शक्ति, योग शक्ति जो उस समयके तपस्वी ऋषि-मुनियोंकी सम्पत्ति थी, आजके मानव-की कल्पना भी वहाँ तक नहीं पहुंच पाती।

विज्ञानने मनुष्यके संकल्पोंको प्रत्येक दिशामें सिद्ध करनेका प्रयास किया है और इसमें जो अकल्पित सहायता हुई है या होती जा रही है, वह सबको ज्ञात है। मनुष्यका संकल्प सिद्ध करनेके लिए ही प्रतिभाशाली मनुष्य जब भौतिक साधनोंके सहारे लगते हैं तो उनके अन्वेषणका नाम 'विज्ञान' होता है। संकल्प-सिद्धि-मनुष्यके संकल्पकी सिद्धिके अतिरिक्त विज्ञानका और कोई काम है ही नहीं।

यात्रामें समयकी बचत, जलके भीतर मछलीके समान तथा आकाश-में पक्षीके सबाध गति, पृथ्वीके दूरस्थ लोगों तक अपनी बात पहुँचा देना आदि मनुष्यके संकल्प थे और विज्ञानने उन्हें पूरा किया। ध्वनि प्रसारण

(लाउड स्पीकर) आकाशवाणी (रेडियो) प्रतिकृति अंकन (फोटोग्राफी) आदि विज्ञानके चमत्कार आपके संकल्पकी सिद्धि ही हैं।

चिकित्सा, गृहादि निर्माण, उपयोगी सामग्री तथा गृह-निर्माणमें भी विज्ञानने मनुष्यके संकल्पको सिद्ध करनेका अद्भुत उदाहरण रख दिया है। कहना यह चाहिए कि विज्ञानने कह दिया है—'मेरे मित्रो ! आप संकल्प करते चलें और मैं उसे पूरा करता चलता हूँ।

आज प्रयोगके क्षेत्रमें यह सिद्ध हो चुका है कि जन्मान्ध व्यक्तिको भी नेत्र दिये जासकते हैं। मुख तथा अन्य अंगोंकी आकृति बदल दी जा सकती है और इसी प्रकार एक कुरूप व्यक्तिको सुन्दर बनाया जा सकता है।

किसके मनमें इच्छा नहीं होती—'मैं कभी बूढ़ा न होऊँ, मैं कभी मरूँ नहीं।' प्राचीन समयसे मनुष्यका यह स्वप्न है और इस स्वप्नको सिद्ध करनेके लिए वह प्रयत्न करता चला आरहा है। रससिद्धि, तपस्या आदि उपायोंसे वार्धक्यका निवारण तथा अमरत्वकी प्राप्ति सम्भव है, यह बात सिद्धान्ततः पुराणोंमें मान्य है और ऐसे अमर पुरुषोंके कुछ नाम भी बताये गये हैं। लेकिन ये अमर पुरुष हैं कितने ?

अभी कुछ ही महीने हुए हैं जब रूसने घोषित किया है कि उसके वैज्ञानिक बुढ़ापेपर सदाके लिए विजय प्राप्त करनेके प्रयत्नमें लगे हैं और सैद्धान्तिक रूपसे उन्होंने बुढ़ापेपर विजय प्राप्त करनेका उपाय प्राप्त कर लिया है; किन्तु व्यावहारिक रूपमें इस बातको सफल बनानेमें अभी कुछ दशेक वर्ष लग जानेकी सम्भावना है।

दूसरी और कुछ वैज्ञानिक योरोपके अन्य देशोंमें मृत्युपर विजय प्राप्त करनेके प्रयोगोंमें लगे हैं और वे भी यद्यपि सिद्धान्त स्थिर कर चुके हैं; किन्तु वास्तविक सफलतामें अभी देर दीखती है। वैसे यह सभी जीवविज्ञानके विद्यार्थी जानते हैं कि रोगाणु ही प्राथमिक जीवाणु हैं। वे ही एक कोषीय जीव हैं और उन्हींसे आगे फिर बहु कोषीय जीवाणुओंका विकास होता है। आज वे वैज्ञानिक इन कोषीय रोगाणुओं—विशेषतः हैजा तथा प्लेगके रोगाणुओंको ऊंचे तापमानपर उबाल कर मार देते हैं और फिर उन्हें चूने अथवा दूसरे रासायनिक पदार्थोंके घोलमें रखकर जीवित कर लेते हैं। अब यदि वे उन जीवाणुओंसे अविकृत जीवनरस निकाल लेनेमें सफल हो जायँ, जिनकी उन्हें बहुत अधिक आशा है—मृत्यु विजित हो जायगी मनुष्यके हाथों।

अभी रूस द्वारा छोड़ा उपग्रह पृथ्वीकी परिक्रमा कर ही रहा है। मनुष्यका संकल्प ही इस रूपमें विज्ञानने सिद्ध किया है। यह गोल-गोल, चमचम चमकता चन्दा मामा—कवियोंके सौन्दर्य, सौकुमार्यका यह शाश्वत उपमान—श्रीयशोदाके लाड़लेने कहा था—

'मैया मैं चन्द खिलौना लैहों।'

वह केवल नन्दनन्दनकी शिशुत्व लीला थी या मानव शिशुकी युगयुगकी ललकती लालसा ? आज विज्ञान आपके शैशवके इस संकल्पको सिद्ध करने जा रहा है। 'चन्द खिलौना' भले पृथ्वीपर आपके हाथमें न आ सके, आप चन्द्रमापर जा सकते हैं। मानव उपग्रहके प्रथम प्रेषक रूसने घोषणा कर दी है—आगामी दस वर्षोंमें चन्द्रमा तथा मङ्गलकी प्रयोगात्मक यात्राएँ मनुष्य करने लगेगा।

इस प्रकार विज्ञानने मनुष्यके संकल्पको अकल्पित सीमा तक सिद्ध किया है और सिद्ध करता जा रहा है; किन्तु यहीं एक कहानी स्मरण आती है—

कोई व्यक्ति ग्रीष्ममें धूपका तपा थका एक वृक्षकी छायामें पहुँच गया। सौभाग्य या दुर्भाग्यवश वह कल्पवृक्ष था और बात उस पथिकको ज्ञात नहीं थी। वह छायामें कुछ क्षण बैठा। स्वभावतः उनके मनमें आया—'यहाँ यदि शीतल जल होता !'

संकल्प करनेकी देर थी—शीतल जलका झरना पास ही उसे दृष्टि पड़ा। उसने हाथ पैर धोकर आचमन किया। तृषा शान्त कर लेनेपर उसे क्षुधा ज्ञात हुई और मनमें आया—'यदि इस समय कुछ स्वादिष्ट पकवान होते !'

कल्पवृक्षने अपना काम किया। स्वादिष्ट पकवानोंका थाल उसे सम्मुख उपस्थित मिला; किन्तु थाल देखकर वह प्रसन्न नहीं हुआ। उसे भय लगा। उसके भीत मनने कहा—'यहाँ यह सब चमत्कार कौन कर रहा है ? कोई प्रेत तो नहीं और वह मुझे मार तो नहीं डालेगा ?'

कल्पवृक्षको तो इस वार भी अपना काम करना ही था—प्रेत प्रकट हुआ और उसने पथिकको मार भी दिया।

कहानीका कल्पवृक्ष तो सत्य नहीं हो सकता ; किन्तु विज्ञान तो प्रत्यक्ष कल्पवृक्ष है और वह मनुष्यके प्रत्येक संकल्पको सिद्ध कर रहा है ;

किन्तु मनुष्य आज अपने आपसे ही भयभीत हो उठा है। वह मनुष्यकी सद्भावना, शुभैषितापर नहीं—उसके पशुत्वपर भरोसा करता है और डर रहा है—'वह मुझे मार तो नहीं देगा!' इस भयके कारण विज्ञानके कल्पवृक्षसे वह संहारकास्त्रोंके पिशाच एकत्र कर रहा है।

विज्ञानका यह कल्पवृक्ष मनुष्यको उसके भय एवं स्वार्थजन्य संकल्पोंकी सिद्धिके रूपमें नष्ट कर देगा या मनुष्य अपने भयके संकल्पोंसे त्राण पाकर विज्ञानके इस महा कल्पवृक्षसे अमरत्वके असीम वरदान प्राप्त करेगा—यह स्वयं मनुष्यपर निर्भर है। विज्ञान तो कल्पवृक्ष है और वह आपके संकल्पोंको सिद्ध करनेमें लगा है।

—××—

संकल्प-सिद्धि और विभिन्नवाद

यह युग नाना प्रकारके वादोंका युग है यह कहना अनुचित नहीं होगा। बात यह है कि विज्ञानकी उन्नतिके साथ आवागमन तथा उत्पादनके साधनोंमें शीघ्रता पूर्वक विकासने जहाँ एक ओर उपभोगकी वस्तुओंका परिणाम बढ़ाया तथा उनकी जातिको परिष्कृत किया; वहीं दूसरी ओर समाजकी व्यवस्थापर भी व्यापक प्रभाव डाला। यन्त्रोंके विकासका निश्चित परिणाम था कि प्राचीन व्यवस्था टिकी नहीं रह सकती थी, क्योंकि जिस प्रकार दस-बीस झोपड़ियोंमें रहने वाले लोग वनमें रहते हैं, उसी प्रकार किसी महान नगरीके निवासी नहीं रह सकते। यन्त्र-युगने नगरोंको ही विस्तृत नहीं किया, पूरे समाजको नागरिक जीवनका रूप दिया। फल यह हुआ कि समाजके लिए नवीन व्यवस्था हुई।

समाजके लिए नवीन व्यस्था कौनसी अधिक उपयोगी होगी, इस विषयमें चिन्तनशील लोगोंमें मतैक्य नहीं हो सकता था। इस मत-वैभिन्यके कारण ही अनेक वादोंका जन्म हुआ और अभी भी नये-नये वाद उत्पन्न हो रहे हैं। यहाँ यह ध्यानमें रखना चाहिए कि अभी सभी वाद परीक्षणकी स्थितिमें ही हैं; अतएव सबके समर्थक अपने मतको सक्रिय देखनेके लिए प्रयत्नशील हैं।

समाजकी इस उथल-पुथलका प्रभाव व्यक्तिके मनपर न पड़े, यह तो सम्भव नहीं था। राजनैतिक वादोंका प्रभाव लोक मानसपर पड़ा और उसका फल यह हुआ कि साहित्यमें भी अनेक वाद प्रगलित हो गये। अवश्य ही साहित्यके क्षेत्रमें राजनैतिक वाद ज्योंके त्यों नहीं आ सकते थे। उनकी छाया यहाँ चिन्तनके पथसे विभिन्न रूपोंमें व्यक्त हुई।

समाजका प्राचीन विधान राजतन्त्र, अधिनायक तन्त्र तथा लोक-तन्त्रका एक मिला-जुला रूप था। इनमें-से कोई तन्त्र कहीं और कोई कहीं प्रचलित था; किन्ते भारतमें अधिकांश स्थलोंपर राजतन्त्र ही था।

असंगत नहीं होगा यदि यह स्पष्ट कर दिया जाय कि भारतका प्राचीन राजतन्त्र वैसा निरंकुश एकतन्त्र नहीं था जैसा मध्य युग एवं अभी अभी विलयके पूर्व देशी नरेशोंका एक तन्त्र था। भारतीय नरेश राज्यके संचालक एवं रक्षक थे; किन्तु निरङ्कुश शासक नहीं थे। उन्हें ऋषियों वीतराग, निःस्वार्थ, तटस्थ, ज्ञानघन, विद्वानोंका आदेश एवं नियन्त्रण मान कर चलना पड़ता था और राज-सभामें प्रजाके विभिन्न वर्गोंके जो प्रति-निधि होते थे, उनसे भी सभी महत्वपूर्ण विषयोंमें सहायता लेनी पड़ती थी; इस प्रकार वह राज्य-तन्त्र आजके प्रजा-तन्त्रसे बुरा नहीं था।

राज्य-तन्त्रने अपनेको निरंकुश बना लिया। वीतराग ऋषियोंका अभाव हुआ और जो थे भी, राज्योंमें श्रद्धा न होनेसे उन्होंने सम्मति देना वन्द कर दिया। प्रजाके योग्य प्रतिनिधियोंके स्थानपर चाटुकार सभा-सदोंका मंडल एकत्र होगया। इस निरंकुशताकी प्रतिक्रिया हुई और राजतन्त्र समाप्त होगया। यद्यपि पृथ्वीके कुछ प्रदेशोंमें अभी भी राजा हैं; किन्तु अब वे नाम मात्रके राजा है; उनके पास अत्यल्प अधिकार हैं।

राज-तन्त्रसे कुछ उग्र ही है अधिनायक-तन्त्र। एक व्यक्तिमें ही सम्पूर्ण राज्य सत्तानिहित हो जाय और उसीके आदेशका देश अनुवर्तन करे, इस बातको आजका प्रबुद्ध समाज सह नहीं पाता; लेकिन अधिनायक तन्त्रका यह गुण भी सर्वमान्य है कि देशका श्रम उचित दिशामें लगता है अथवा किसी अभीष्ट दिशामें लगता है। श्रम तथा उत्पादनमें अत्यन्त वेग पूर्वक उन्नति इस प्रणालीमें होती है, इसके उदाहरण सबके सम्मुख हैं।

प्रजातन्त्र तो हमारा प्रिय विधान है वैसे नेपोलियनने कहा था— "प्रजातन्त्रका अर्थ है मूर्खोंका बहुमत।" यह व्यंग नितान्त निरर्थक नहीं है। समाजमें अपठित या अल्पपठित तथा कम बुद्धिमान लोगोंका बाहुल्य

होता ही है। बहुमत सदा ऐसे ही लोगोंका रहेगा और तब उनके द्वारा निर्वाचित लोग ही शासन सम्हालेंगे; लेकिन परीक्षण कहते हैं कि अपठित या अल्प पठित लोग भी अपना प्रतिनिधि चुननेमें प्रायः भूल नहीं करते। वे योग्य लोगोंको चुननेमें समर्थ हैं। अतः अपठितों द्वारा चुने लोगोंका शासन समझदारोंका शासन होता है, मूर्खोंका नहीं।

साम्यवाद तथा समाजवाद ये दो वाद अधिक जोरसे फैल रहे हैं और इनके प्रतिपक्षमें पुराना पूँजीवाद भी अपनेको सुदृढ़ बनाये है। अब समय ही बतावेगा कि इसमें-से कौनसा वाद सफल होता है और विश्व मानव उसे समाहृत करता है अथवा विभिन्न वाद संधि करके बने रहते हैं।

राजनीतिके इन वादोंका मानसिक क्षेत्रपर जो प्रभाव पड़ा, उससे साहित्यके क्षेत्रमें भी नाना वादोंका उद्भव हुआ। रहस्यवाद, अध्यात्मवाद विलासवाद एवं चमत्कारवाद तो प्राचीन थे ही; छायावाद प्रयोगवाद, प्रगतिवाद आदि अनेक वाद नवीन आविर्भूत हुए। इस क्षेत्रमें भी परीक्षण ही चल रहा है और यहाँ भी 'सर्वोदय' को साहित्यिक रूप लेना है। यहां तभी लोकमंगल साहित्यका सृजन होगा, जब उसमें आस्थापूत सत्य, ऐन्द्रिक वासना बिरहित सौन्दर्य एवं सार्वभौम जनमानसके लिए पक्षपात-हीन मंगलकारिता आराधित होगी।

इसमें-से प्रत्येक वादके उद्भावक, प्रचारक, समर्थक एवं पोषक मतका प्रचार-प्रसार चाहतेहैं, यह निर्विवाद है। इसमें भी कोई विवाद नहीं कि इनमें-से प्रत्येक वादके समर्थक अपने मतको ही लोक मंगलकारी एवं सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। यहाँ हम इन वादोंकी परिभाषा देने एवं उनके गुणावगुणकी विवेचना करने नहीं बैठे हैं। इनके लिए यहाँ अवकाश भी नहीं है।

वाद राजनैतिक हो, सामाजिक हो अथवा साहित्यिक हो—है एक विचारधारा। चिन्तनकी एक विशिष्ट शैली जो अपने निर्णयोंको सामाजिक व्यवस्थाके ठोस रूप या वाङ्मयकी एक धारामें अपनेको अभिव्यक्त करती है अथवा करनेको प्रयत्नशील है—वाद कहलाती है।

वाद निश्चित् हुआ है चिन्तनके द्वारा; किन्तु उसे मूर्त तो संकल्पके माध्यमसे ही होना है। आपका चिन्तन किस कामका यदि वह आपके मस्तिष्कके घेरेमें ही रह जाता है। उसे व्यक्त करनेका संकल्प होगा तब,

वह क्रिया शक्तिकी सहायतासे व्यक्त होगा और जब वह व्यक्त होगा तभी दूसरोंको तथा आपको भी प्रभावित कर सकेगा।

प्रत्येक वादके व्यक्त होने, प्रचारित होने एवं सफल होनेके लिए समर्थकोंमें दृढ़ संकल्प आवश्यक है। नाजीवाद बढ़ा इसलिए कि हिटलरमें दृढ़ संकल्प था। उसे दीर्घ-काल तक संकल्प सिद्धि प्राप्त होती रही और जब ऐसा नहीं हुआ नाजीवाद मर गया। साम्यवादकी विचारधाराको भले मार्क्सने जन्म दिया हो; किन्तु उसे सफल किया लेनिन तथा उनके साथियोंकी संकल्प सिद्धिने। इस संकल्प-सिद्धिके लिए उनमें कितनी दृढ़ता, बलिदान एवं संयम था—यह बताना आवश्यक है।

बापूके अहिंसावादने भारतको स्वाधीन कर दिया। बापूकी यह संकल्प सिद्धि हमारे लिए वरदान बनी ; किन्तु इसके पीछे उन वन्दनीय राष्ट्रपितामें कितना दृढ़-संकल्प था, उन्होंने तथा उनके आह्वानपर देशने कितना त्याग-बलिदान किया, यह विवरण तो आपका देखा सुना है।

सर्वोदयके संकल्पकी सिद्धिके लिए आज बापूका एक प्रिय सन्त पदयात्रा कर रहा है। उसका त्याग, उसकी तपस्या भी वरदान ला रही है और यह वरदान है पूरी मानवताके लिए—उत्पीड़ित मानवता ही नहीं, उत्पीड़ितके लिए भी। आज उसका महत्व जगत भले ही न समझे एक दिन विश्वको उस महामानवके चरणोंमें निश्चय झुक जाना है।

कोई वाद हो—मतलब वादसे नहीं है, वादकी सफलता दृढ़ संकल्प तथा अथक परिश्रम एवं त्यागपर निर्भर है। संकल्प-सिद्धिका मन्त्र ही है, दृढ़-निश्चय, अथक चेष्टा, त्याग एवं निस्सीम बलिदान। सभी वादोंके लिए इसी मार्गसे संकल्प-सिद्धि आ सकती है।

मनोविज्ञान और संकल्प-सिद्धि

अर्थात्

संकल्प-सिद्धिकी वैज्ञानिक प्रक्रिया

मनोविज्ञानके अनुसार संकल्प-सिद्धि क्या वस्तु है और कैसे प्राप्त होती है यह समझनेके लिए मनका स्वरूप एवं उसकी क्रिया पद्धतिको समझ लेना आवश्यक है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक मनके दो भाग मानते हैं—१. बहिर्मन, २. अन्तर्मन। जागते समय जो शक्ति संकल्प-विकल्प करती है उसे बहिर्मन कहा जाता है। स्वप्न जिसके कारण दीखते हैं, वह अन्तर्मन है। बुद्धि-विचार-शक्तिको पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक बहिर्मनका ही कार्य मानते हैं।

भारतीय दर्शन-शास्त्रने मन, बुद्धि, चित्त तथा अहङ्कार—ये चार भाग मनके माने हैं और चार भाग मानना अधिक संगत भी है। जागते समय हम संकल्प विकल्प जिसके द्वारा करते हैं, उसे मन कहा जाता है। एक संकल्प उठनेपर उसका करना अच्छा है या नहीं, यह विचार जिसके द्वारा होता है, उसे बुद्धि कहते हैं। आप चाहें तो सुविधाके लिए बुद्धिको निर्णायक मन कह सकते हैं।

सामान्य स्थितिमें बुद्धिको पृथक न भी माना जाय तो काम चल जाता है ; किन्तु एक प्रकारका रोग होता है, जिसमें रोगी सोते-सोते उठकर चलने लगता है, पत्र या पुस्तक लिखता है ; इस समयके उसके कार्य सर्वथा सोच समझ कर किये जाते हैं। यदि बुद्धि मनका भाग हो और मन के साथ सोजाय तो इस प्रकारके रोगमें विचार पूर्वक व्यवस्थित कार्य न हो पावें। यह रोग ही सिद्ध करता है कि बुद्धिकी स्वतन्त्र सत्ता है ?

जिसमें जन्म-जन्मके संस्कार संचित हैं, उसे चित्त कहते हैं, हम उसीको चित्त कहते हैं, जिसे पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक अन्तर्मन कहते हैं। स्वप्नके समय यही चित्त क्रियाशील रहता है। चित्तमें संस्कार तो सब है ; किन्तु बुद्धि-विचार शक्ति नहीं है इसलिए संस्कारोंको क्रमशः नहीं सजाया जा पाता। जैसे चित्तमें पक्षी आदिके उड़नेके संस्कार भी हैं और हाथीके भी। स्वप्नमें दोनों संस्कारोंका मेल हो जाता है, फलतः हाथी उड़ता दीखता

है । इसी प्रकार हाथीका देह एवं ऊँटका मुँह हो ऐसा पशु भी स्वप्नमें दीख सकता है ; क्योंकि हाथीके देह एवं ऊँटके मुखके संस्कार अलग-अलग तो चित्तमें हैं ही ; उनका एकीकरण बुद्धि होनेसे हो गया है । स्वप्न चाहे जितना अद्भुत हो, आप उसके टुकड़े करेंगे तो देखेंगे कि प्रत्येक टुकड़े चित्तमें पहिलेसे थे ; केवल उनके अटपटे मिलनेसे अद्भुत स्वप्न बन गया है ।

अहङ्कारकी सत्ता ऐसी है कि उसका पृथक अस्तित्व केवल समाधिमें सिद्ध होता है । समाधि प्राप्त नहीं और दूसरा साधन नहीं होनेसे पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक अहङ्कारकी सत्ता उपलब्ध नहीं कर पाते । सुविधाके लिए जैसे मैंने बुद्धिको निर्णायक मन कहा है, वैसे ही अहङ्कारको संचालक मन कहना उपयुक्त होगा । शरीरकी क्रियाओंका संचालन अहङ्कारसे ही होता है । श्वास-प्रश्वास, नाड़ीकी गति आदि अहङ्कारसे संचालित हैं । योगी समाधिमें जब सम्पूर्ण श्वासरोध करके मनोनिरोध कर लेता है, तब श्वास एवं नाड़ीकी गति भी बन्द हो जाती है । अहङ्कारकी पृथक सत्ता सिद्ध करनेमें समाधि भी प्रमाण है; क्योंकि उसके अतिरिक्त सदा वह जागरूक एवं क्रियाशील रहता है ।

मन (बहिर्मन) संकल्प-विकल्प करता है । बुद्धि उसके संकल्प-विकल्पपर अपना निर्णय देती है और तब अहङ्कार उसके अनुसार शरीरको संचालित करता है । अहङ्कारके कारण ही देहमें चेतनाका आभास है, यह बात तो अद्वैत मतको सर्वथा मान्य है ही ।

स्वप्नावस्थामें सामान्य दशामें मन तथा बुद्धि विश्राम करती है । उस समय केवल चित्त तथा अहङ्कार जागृत रहते हैं । अब यदि किसी रोगके कारण बुद्धि विश्राम करना बन्द करदे तो स्वप्नके समय वह जागृत रहेगी और चित्तके संस्कारोंके सम्बन्धमें अपना निर्णय देती रहेगी । ऐसी अवस्थामें स्वप्न असङ्गत तो नहीं दीखते ; उनमें जागृतके समान ही व्यवस्था रहती है, कोई असङ्गति उनमें नहीं होती । लेकिन यदि अहङ्कार चित्तकी भी आज्ञा मानने लगे तो रोग हो जायगा । रोगी सोते-सोते उठकर चल देगा और बहुत कठिन तथा दुर्गम कार्य भी ठीक समझदारी पूर्वक कर लेगा ।

संचालक मन अर्थात् अहङ्कारका काम शरीरकी क्रियाओंको चलाना है । अहङ्कार किसी अवस्थामें सोता नहीं । शरीरकी केवल स्थूल क्रिया ही

नहीं आन्तरिक सूक्ष्म क्रिया भी, रक्तकी गति, श्वासादि समस्त क्रियाएँ बन्द होजायँगी, यदि अहङ्कार उन्हें न चलावे। जड़ देहमें अहं बुद्धि होनेसे ही देहात्माभास होता है और देह सचल-सजीव बना रहता है।

जैसे जागृत अवस्थामें मन जागृत रहता है, बुद्धि तथा अहङ्कार भी जागृत रहता है; किन्तु चित्त सुप्त रहता है, वैसे ही स्वप्नावस्थामें मन सो जाता है। बुद्धि भी उस समय सो जाती है। केवल चित्त तथा अहङ्कार ही जागृत रहते हैं। सुषुप्तिकी अवस्थामें चित्त भी सो जाता है, केवल अहङ्कार जागृत रहता है; इसलिए १०-१५ सोते बच्चोंके बीचसे आप जिस बच्चेका नाम पुकारेंगे, उसीकी निद्रा टूटेगी और वही उत्तर देगा।

अहङ्कारका कार्य है शरीरका संचालन। जीवको जड़ देहसे जोड़े रखने वाली कड़ी अहङ्कार ही है। इसी देहात्मभावके कारण मनुष्य संसारमें भटकता फिरता है। अतः अध्यात्मवादमें तो अहङ्कारकी निवृति ही ज्ञान प्राप्तिका एक मात्र साधन है। अहङ्कारकी निवृत्तिसे चिज्जड़ ग्रन्थि खुल जाती है।

लेकिन जहाँ तक संकल्प सिद्धिकी बात है, अहङ्कार बहुत कम सहायता करता है क्योंकि सिद्धितत्त्वको उत्पन्न करना उसका काम नहीं है। यह काम मनका - वहिर्मनका है, क्योंकि संकल्प करना या ग्रहण करना उसीका क्षेत्र है। इसलिए आप देखते हैं कि प्रत्येक साधन जागृत दशामें ही होता है; स्वप्न या सुषुप्तिकी दशामें कोई साधन शक्य नहीं और हो भी तो वह सिद्धिका हेतु नहीं हो सकता।

अब मनपर विचार करें। मन स्वयं संकल्प उत्पन्न करता होता तो चित्त ज्ञान एवं सवज्ञता किसीको कभी प्राप्त नहीं होती। जैसे प्रत्येक रेडियो समाचार स्वयं उत्पन्न करने लगें तो कौन-सा रेडियो क्या समाचार उत्पन्न करेगा, यह जाना नहीं जा सकता। लेकिन दो रेडियो एक स्तरमें कर दिये जायँ तो एकको देखकर जाना जा सकता है कि दूसरेमें यही गीत बज रहा होगा। यह इसलिए सम्भव है कि रेडियो केवल स्तरोंमें प्रसारित बातें पकड़ कर व्यक्त कर देता है। यही बात हमारे मनके सम्बन्धमें है। वह संकल्प व्यक्तमात्र करता है।

किसीका मन कोई नवीन संकल्प नहीं करता संसारके आकाशमें संकल्पों-भावनाओंके असंख्य स्तर हैं। वस्तुतः यह स्रष्टासे संकल्प हैं जो नित्य हैं। अब जिसका मन जिस भावस्तरमें जब होगा, उस मनमें उस

स्तरके भाव व्यक्त होने लगेंगे। ऐसा कोई संकल्प, कोई भाव, कोई विचार किसीके मनमें आ नहीं सकता, जिसका भावस्तर न हो अर्थात् स्रष्टाके संकल्पोंसे भिन्न भाव कोई सृष्टिका प्राणी कर नहीं सकता।

अब योगी जानना चाहता है कि आपके मनमें क्या है? तो उसे केवल यह करना पड़ता है कि अपने मनको उस भावस्तरमें ले आवे, जिस स्तरमें आपका मन है। ऐसा कर लेनेपर उसके मनमें जो बातें आती हैं, उन्हें वह कह देता है। वे वही बातें हैं, जो आपके मनमें आरही थीं।

प्रत्येक संकल्पका एक भाव स्तर है और वह स्रष्टाके संकल्पसे सम्बन्धित है। अब यदि कोई किसी संकल्पमें संयम करता तो उसके संकल्पका सम्बन्ध स्रष्टाके संकल्पसे हो जाता है। स्रष्टाके संकल्पसे ही सृष्टि व्यक्त अतएव स्रष्टाके संकल्पसे एकात्मा प्राप्त संकल्प सृष्टि व्यक्तरूपमें सत्य हो जाती है। इसीका नाम है सत्य-संकल्प अथवा संकल्प-सिद्धिकी प्राप्ति।

किसी भी एक संकल्पमें संयम करना अर्थात् उसी संकल्पमें मनको स्थिर कर देना। मन जितनी गहरी एकाग्रतामें डूबेगा, संकल्पके मूल तक उतनी शीघ्रता एवं स्पष्टता पूर्वक पहुँच सकेगा। संकल्पके मूल अर्थात् स्रष्टाके संकल्पसे एकत्व स्थापित होते ही उस संकल्पकी सिद्धि हो जाती है।

यह कार्य करना तो है मनको; किन्तु बुद्धिको इसमें योग देना चाहिए। किस संकल्पको संयमका आधार बनाना चाहिए और किसे नहीं यह निर्णय बुद्धिको ही करना है। किसी शुद्ध एवं अशुभ संकल्पमें संयम करके साधक अपना तथा दूसरोंका अहित ही करेगा। अतः सत्त्वात्मिका बुद्धि आवश्यक है इस पथमें।

दूसरी बात है अधिकारका निर्णय। यह निर्णय होता है चित्तके संस्कारोंके अनुसार। जिसके चित्तमें जैसे संस्कार अधिक होते हैं, उसका मन उन संस्कारोंसे प्रभावित होता रहता है और बार-बार उधर ही आकर्षित होता रहता है। यदि उन संस्कारोंके अनुकूल संकल्पमें मनका संयम किया जाय तो वह सुगमतासे एकाग्र होगा। उनके विपरीत संकल्पमें संयम करनेपर वह बार-बार चंचल होगा।

अहंकार—व्यक्तिगत अहंकार तथा देहात्मभावना साधनमें बाधक है। एक संकल्पमें संयम करते समय अपने व्यक्तित्वके अहंकारको शिथिल करके ही साधक उसके मूल तक पहुँच पाता है। किसी संकल्पको सर्वात्म-भावसे अनुभव किये बिना वह मूर्त नहीं होता। स्रष्टाके संकल्पसे एकत्वकी

प्राप्तिका अर्थ ही कुछ कालके लिए व्यक्तिके अहंकारकी स्मृति एवं सृष्टि-कर्त्ताके अहंसे एकत्वकी स्थापना।

इस प्रकार मनके चतुर्विध रूपको समझकर तथा संकल्पोंके स्वरूप-को जानकर जो अपने अधिकारानुरूप संयम करता है, उसे संकल्प-सिद्धि सुगमता पूर्वक प्राप्त होती है।

संकल्प-सिद्धिसे जीवनकी विभिन्न दिशाओंमें प्रगति

जीवनके क्षेत्रमें संकल्प-सिद्धिका अर्थ है क्रियाकी सफलता, इसे तनिक और विस्तारसे समझना आवश्यक है। मनुष्य दो प्रकारके होते हैं—१. स्वप्नशील तथा २. क्रियाशील। इनमें स्वप्नशील व्यक्ति प्रायः अत्यधिक भावुक होते हैं। उनकी कल्पना आकाशमें उड़ानें भरती रहती हैं; किन्तु उनके विचार केवल विचार रह जाते हैं। वास्तविकतासे उदासीन अथवा अपरिचित होनेके कारण उनके विचार मूर्त होनेकी परिस्थिति ही नहीं पाते।

इस प्रकार कल्पनाका स्वर्ग देखते रहनेके पक्षमें यह कहा जा सकता है कि वास्तविकताकी कटुता, अभाव और संघर्षसे अपनेको हटाकर भावनाके द्वारा निर्मित अपने भव्यलोकमें विचरण करनेमें सुख है, शान्ति है और यह सुख निर्दोष है; क्योंकि इसके लिए किसीका सुख छीनना नहीं पड़ता। लेकिन इस प्रकार स्वप्न देखने वाला व्यक्ति प्रायः अशान्त, दुखी और निराश रहा करता है। वास्तविक परिस्थिति उसके स्वप्नको बार-बार भंग कर देती है और वह वास्तविकताकी कटुतासे बिलबिला उठता है। चिड़चिड़ापन तथा दूसरे अनेक दोष इस प्रकार उसमें आजाते हैं। उसकी कल्पनाका रंगीन संसार क्षण स्थायी है और वह क्षणकी रंगीन जीवनकी वास्तविकताको अधिक कटु बना देती है।

जीवनके किसी क्षेत्रमें इस श्रेणीके व्यक्तिसे प्रगतिकी आशा नहीं की जा सकती। ऐसा व्यक्ति विश्वसनीय तो हो सकता है; किन्तु भरोसा

करने योग्य नहीं हुआ करता। क्योंकि कब वह अपने वर्तमान प्रयत्नको त्याग देगा और कोई नया, अटपटा कार्य ले बैठेगा कहा नहीं जा सकता। उसपर भरोसा करके उसके सहयोगपर निर्भर रहने वालोंको बार-बार हानि उठानी पड़ती है। इसका यह स्वाभाविक परिणाम होता है कि लोग ऐसे व्यक्तिके प्रति स्नेह रखते हुए भी किसी कार्यमें उसे सहयोगी नहीं बनाना चाहते और इस प्रकार वह जीवनके क्षेत्रमें एकाकी हो जाता है।

क्रियाशील व्यक्तियोंमें भी तीन श्रेणीके लोग होते हैं—१. सामान्य, २. मध्यम संकल्प, ३. सिद्ध-संकल्प। सामान्य जन ही संसारमें तथा समाजमें अधिक हैं। उनमें न कोई महत्वाकांक्षा है और न उनका कोई स्थिर लक्ष्य है। आहार, निवास, परिवार पोषण आदिके व्यापार चलते रहें, इसमें कहीं रुकावट न हो, अभाव न आवे बस। उनकी समस्त बुद्धि एवं क्रिया इसी घेरेमें गतिशील रहती है। उनकी सम्पूर्ण योजनाएँ और पूरा श्रम इसीकी पूर्तिके लिए होता है। भले वह कोई बहुत बड़ा पूँजी-पति हो; किन्तु यदि वह इस सामान्य श्रेणीमें है तो श्रमिक ही है क्योंकि उसका श्रम केवल श्रमके लिए या शरीरके अपने तथा स्वजनोंके शारीरिक सुख-सुविधाके उपार्जन मात्रके लिए है।

मध्यम संकल्प व्यक्तियोंमें महत्वाकांक्षा होती है। वे स्वप्न देखते हैं और उस स्वप्नको साकार करनेका यत्न भी करते हैं; किन्तु उनमें विघ्न-विपत्तियोंसे जूझ लेनेकी क्षमता नहीं होती। उनका निश्चय स्थिर नहीं होता। बाधाएँ आनेपर वे अपना प्रयत्न त्याग देते हैं।

कोई अपना प्रयत्न त्यागता है अपने स्वप्नके सार्थक होनेकी असम्भावनासे और कोई त्यागता है अपनी असमर्थतासे। इस प्रकार यह वर्ग भी दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। कार्य प्रारम्भ कर देनेके पश्चात् जब बाधाएँ आने लगती हैं और दूसरे लोग उसकी सफलता संदिग्ध या असम्भव बताने लगते हैं तो कर्त्ताको स्वयं सन्देह हो उठता है कि उसने एक अशक्य कार्य प्रारम्भ कर दिया है और वह उसे त्याग देता है। यह उसके ढुलमुल निश्चयका परिणाम है। लेकिन कुछ ऐसे भी लोग होते हैं जो यह तो स्वीकार नहीं करते कि उनका निर्णय गलत था। चाहे कितने भी लोग कहें कि उनका स्वप्न असम्भव है; किन्तु यह बात वे नहीं मानते। लेकिन वे साधनोंके अभाव तथा परिस्थितिकी प्रतिकूलताके सम्मुख मस्तक झुका देते हैं।

यह मध्यम संकल्प व्यक्ति प्रायः असन्तुष्ट, अशान्त एवं जीवनके क्षेत्रोंमें असफल होते हैं। सामान्य व्यक्ति तो अपने अज्ञान एवं क्षुद्रतामें सन्तुष्ट रहता है; किन्तु ये अपनेको उस प्रकार सन्तुष्ट रख नहीं पाते तथा महत्वाकांक्षाको पूर्ण करनेकी क्षमता भी इनमें नहीं होती। इसका फल यह होता है कि ये दुःखी तथा क्षुब्ध रहते हैं।

मध्यम संकल्प व्यक्तियोंका क्षोभ अनेक रूपोंमें देखनेमें आता है। कोई सदा भाग्यको दोष दिया करता है, कोई परिस्थिति तथा समाजको कोसता है कोई किन्हीं व्यक्तियोंको पानी पी-पी कर गाली देता है कि उन्होंने उसे अमुक बाधा क्यों दी अथवा समर्थ होते हुए भी वे उसकी चाही हुई सहायता उसे क्यों नहीं देते हैं।

इस वर्गमें जितनी भावना शीलता होगी, उसका क्षोभ भी उतना ही प्रबल होगा और उसी मात्रामें असंगत बातें करेगा या माँगें रखेगा। ऐसे लोग यद्यपि अपनेको समाजमें बहुत अधिक बुद्धिमान मानते हैं; किन्तु उनकी वे बुद्धिमानीकी योजनाएँ ही उन्हें दूसरोंकी दृष्टिमें अर्ध विक्षिप्त बतलाती हैं। फल यह होता है कि लोग उनकी हँसी उड़ाते हैं। उनकी बातें सुनते भी हैं तो उनपर व्यंग्य करनेके लिए। लेकिन अनेक बार ये भावनाशील महानुभाव दूसरोंकी व्यंग्य वाणीको ही सहानुभूति मान लिया करते हैं और उपहासके पात्र बनते हैं।

धन्य हैं वे महापुरुष जो सिद्ध संकल्प हैं। महात्माजीने कहा था—'करो या मरो' और यही संकल्प सिद्धिका मूल मन्त्र है। जिनका संकल्प है—

'कार्यंवा साधयिष्यामि देहंवा पातयिष्यामि।

वे ही अपने स्वप्नको सत्य कर पाते हैं। वे ही महापुरुष कहकर विश्वमें वन्दनीय होते हैं।

मनुष्यकी मनुष्यता केवल आहार, सन्तानवृद्धि तथा उनका पोषण, भयसे रक्षणादि तक रह जानेमें नहीं है। ये कार्य तो पशु भी करते हैं। जिसके पास स्वप्न नहीं—महत्वाकांक्षा नहीं, वह तो मनुष्य ही नहीं, किन्तु जिसमें अपने स्वप्नको सत्य करनेके लिए दृढ़ संकल्प नहीं, वह तो अपंग (लूला पंगु) मानव है। उसके जीवनमें गति ही नहीं है।

बाधा और विघ्न स्वतः दूर हो जाते हैं, प्रतिकूल परिस्थितियोंकी घनघोर घटाएं शरत्कालीन मेघोंके समान फट जाती हैं, विपक्ष-विरोध,

भग्न दर्प, चरण चुम्बन करने झुकता है जब एक धीर, सिद्ध संकल्प व्यक्ति अपने स्वप्नको साकार करनेमें जुट पड़ता है।

भावनाशीलता—स्वप्न दर्शिताके बिना जीवन अन्ध है और क्रियाशीलताके बिना पंगु। दोनोंके योगसे ही स्वस्थ जीवन व्यक्त होता है और यह दृढ़ संकल्पके बिना न सम्भव हुआ है, न कभी होनेका है। जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें आपको जो प्रगति करनी है, जो लक्ष्य प्राप्त करना है उस तक बढ़ जानेका दृढ़ संकल्प तो आपमें चाहिए ही।

'असम्भव शब्द हमारे शब्द-कोषमें नहीं है!' यह सिद्ध संकल्प नेपोलियन बोनापार्टकी वाणी है और इतिहास कहता है कि वह जिधर चला गया, विजय उसे वरमाला लिये प्रस्तुत मिली। महामना पण्डित मदनमोहन मालवीयका सिद्ध-संकल्प—एक ऐसे ब्राह्मणका संकल्प जिसके पास कुछ नहीं था ; किन्तु उस सिद्ध संकल्पने हिन्दू विश्वविद्यालय जैसी महान संस्था प्रत्यक्ष कर दी।

किसी भी क्षेत्रमें, कोई भी कार्य आप करना चाहते हैं तो प्रथम उसे करनेका संकल्प करते हैं। आपके संकल्पमें बल है तो आप कार्य पूर्ण कर सकेंगे—सफल होंगे और आपके संकल्पमें बल नहीं है तो विफलता निश्चित है।

कष्ट सहन, त्याग, तल्लीनता, निरन्तर प्रयत्न एवं अपराजित श्रमशीलता, ये संकल्पकी दृढ़ताके वरदान हैं। इनके द्वारा ही संकल्पकी सिद्धि होती है। संकल्पकी सिद्धिका ही दूसरा नाम है जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें प्रगति एवं सफलता।

—×—

मन्त्रानुष्ठान और छायापुरुष

मन्त्रानुष्ठानसे प्रत्येक सङ्कल्पकी सिद्धि हो सकती है, यह बात निर्विवाद है। लेकिन इसके साथ कुछ और बातें जान लेना आवश्यक है—

१. किसी संकल्पकी सिद्धिके लिए ठीक विधि पूर्वक ही मन्त्रानुष्ठान होना चाहिए। विधिमें थोड़ीसी भी भूल होनेसे आपका संकल्प पूरा नहीं होगा। उलटे हानि भी हो सकती है। आप कोई बात नहीं जानते या कोई वस्तु शुद्ध नहीं मिली, यह बात काम नहीं देती। सकाम अनुष्ठान पूरी विधि जानकर और सब सामग्री ठीक-ठीक, शुद्ध जुटाकर ही करना चाहिए। ऐसा नहीं करनेपर परिश्रम व्यर्थ जा सकता है और हानि भी हो सकती है।

२. मैं यहाँ केवल मन्त्रानुष्ठानके आवश्यक नियम बता रहा हूँ। कोई अनुष्ठान या मन्त्र नहीं बता रहा हूँ। क्योंकि ऐसा करनेसे कोई लाभ नहीं। पुस्तकमें पढ़कर मन्त्रका अनुष्ठान करनेसे अभीष्ट फल नहीं मिलता। जिसको भी मन्त्रका अनुष्ठान करना हो, उसे किसी मन्त्रज्ञ पुरुषसे उस मन्त्रकी दीक्षा लेकर ही अनुष्ठान करना चाहिए।

यह मन्त्र दीक्षा गुरुदीक्षासे भिन्न है। किसी सकाम अनुष्ठानके लिए आप किसी मन्त्रज्ञसे दीक्षा लेते हैं तो उसीके शिष्य नहीं हो जाते। आप केवल उस अनुष्ठानके लिए उसके शिष्य हैं। वैसे पारमार्थिक रूपमें आपके और कोई गुरु हों या आगे आप बनावें तो बाधा नहीं।

३. मन्त्रानुष्ठानके लिए मन्त्रनिष्ठा, इष्टनिष्ठा और गुरुनिष्ठा आवश्यक है। मन्त्रपर, मन्त्रदेवतापर और मन्त्रदातागुरुपर दृढ़ विश्वास होना चाहिए। मन्त्र सिद्धि या मन्त्रसे अभीष्ठ कार्य हो जानेपर भी यदि आप कभी आगे उस मन्त्रमें या मन्त्रके देवतामें सन्देह करते हैं या मन्त्रदाताकी निन्दा करते हैं, उसके प्रति अविश्वासी बनते हैं तो आपने मन्त्रसे जो लाभ उठाया है, वह नष्ट हो जायगा।

४. मन्त्रानुष्ठान करते समय यह बात गुप्त रखनी होगी कि आप कोई अनुष्ठान कर रहे हैं। वह मन्त्र तो सदा गुप्त रखना होगा। अनुष्ठानमें जो चमत्कार होते हैं, वे भी गुप्त रखने होंगे। मन्त्रदाताको छोड़कर और किसीसे यह सब प्रकट करनेसे चमत्कार एवं लाभ लुप्त हो जायेंगे।

५. एक ही उद्देश्य रखनेवाले दो व्यक्तियोंके लिए एक ही मन्त्र लाभप्रद नहीं हुआ करता। साधककी जन्मराशिके अनुसार विचार करना पड़ता है कि कौनसा मन्त्र उसका मित्र है, कौनसा शत्रु है और कौनसा उदासीन है। उदासीन मन्त्रका अनुष्ठान करनेपर बहुत देरमें सफलता होती है,शत्रु मन्त्रके अनुष्ठानसे हानि होती है। मित्र मन्त्र शीघ्र फलदायी होता है।

इसी प्रकार यह भी देखना होता है कि मन्त्र साधक जिस मन्त्रका अनुष्ठान करने जा रहा है, वह मन्त्र उसका ऋणी है या धनी। ऋणी मन्त्र शीघ्र सफलता है और धनी मन्त्रसे बहुत परिश्रम करनेपर सफलता मिलती है।

६. मन्त्रको निष्कीलित करके जप करना चाहिए। निष्कीलनके विना जप करनेसे प्रायः लाभ नहीं होता। इसी प्रकार मन्त्रोंके अङ्गन्यास, करन्यास, ऋष्यादि न्यास प्रभृति आवश्यक न्यास तथा अनुष्ठानके अन्तमें जपका दशांश हवन, हवनका दशांश तर्पण, तर्पणका दशांश मार्जन तथा मार्जनके दशांश ब्राह्मणोंको भोजन करा देनेसे ही अनुष्ठान पूर्ण होता है।

७. सावर मन्त्रोंमें न्यास, निष्कीलन, हवन-तर्पणादि आवश्यक नहीं होते। वे केवल जपसे अभीष्ट प्रदान करते हैं।

८—जिस मन्त्र या अनुष्ठानमें जिसका अधिकार है, उसीको उसका अनुष्ठान करना चाहिए। जिनका अधिकार नहीं है, वे अनुष्ठान करते हैं तो उन्हें हानि ही होती है। जैसे स्त्रियाँ तथा शूद्र गायत्री मन्त्र या किसी वैदिक मन्त्रके जप एवं अनुष्ठानके अधिकारी नहीं हैं। वे इनको अपनाते हैं तो उन्हें लाभ तो कोई होगा नहीं, मानसिक हानि होनेकी सम्भावना रहेगी।

९—मन्त्रोंमें मूक-मूर्छितादि दोष होते हैं। साथ ही प्रारब्ध कर्मकी बाधा भी अभीष्ट फलको प्राप्ति रोक सकती है। इसलिए एक बार अनुष्ठान करनेसे फल न मिले तो मन्त्रका संस्कार करके पुनः अनुष्ठान करना चाहिए। ताड़न तर्जनादि इक्कीस संस्कार मन्त्रके होते है क्रमशः इक्कीस बार एक अनुष्ठान मन्त्रका संस्कार करते हुए कोई करता जावे तो उसका अभीष्ट अवश्य प्राप्त होगा, भले ही प्रारब्ध कितना भी प्रतिकूल हो। यदि प्रारब्धकी बाधा कम प्रबल हुई तो दो चार छः बार अनुष्ठान करनेसे ही संकल्प पूरा हो जायगा।

१०—जो अनुष्ठान दूसरोंको हानि पहुँचानेको किये जाते हैं या दूसरोंको प्रभावित करनेको किये जाते हैं उनमें एक अनुष्ठानके बाद सफलता

न मिले तो दुबारा अनुष्ठान नहीं करना चाहिए। वह संकल्प ही त्याग देना चाहिए क्योंकि वह दूसरा व्यक्ति किसी प्रबल देव शक्तिसे रक्षित हुआ या उसका प्रारब्ध बलवान हुआ तो अनुष्ठान कर्त्ताको हानि हो सकती है।

छायापुरुष

अनुष्ठानोंके प्रकरणको विना कुछ प्रयोगात्मक बात बतलाये समाप्त कर देना आपको बहुत नीरस लगेगा। इसलिए यहाँ एक सरल अनुष्ठान बताये देते हैं। छायापुरुषकी सिद्धि सभी कर सकते हैं और इससे आपके बहुतसे संकल्प सिद्ध हो जायेंगे। लेकिन छायापुरुष सिद्ध करनेवालेको निम्न बातें ध्यानमें रखना चाहिए—

१. साधनके मध्यमें कभी भी डरेंगे तो मृत्यु होने या पागल हो जानेका भय है।

२. छायापुरुष जो प्रतिज्ञा करावेगा, उसे करना ही पड़ेगा और जीवनपर्यन्त उसका पालन करना पड़ेगा। उस प्रतिज्ञाको तोड़ने या उसमें भूल होनेपर भी मृत्यु या पागल होनेका भय है।

३. छायापुरुषसे भी भूलें होती हैं। वह भी कभी-कभी गलत उत्तर देता है। आप उसे डाँट नहीं सकते। उसने भूल की या झूठी बात कही, यह नहीं कह सकते। ऐसा करनेपर आपकी हानि हो सकती है। छायापुरुषसे जिस विषयमें भूल हुई या जिस विषयमें वह झूठ बोल गया, उस विषयमें दुबारा उससे कुछ नहीं कहना है, यह नियम बना लेना होगा। इसी प्रकार जिस कार्यको वह एक बार अस्वीकार करदे, वह भी उसे दुबारा नहीं बताना होगा।

४. किसीको हानि पहुँचाना, किसीके द्वारा कोई निन्द्यवासनाकी पूर्ति चाहना, किसीके पदार्थको विना उचित मूल्य दिये मँगा लेना आदि कार्य आप छायापुरुषसे नहीं लेंगे। यदि ऐसे कार्य आपने उससे भूलकर भी लिए तो वह अवश्य एक दिन आपको मार देगा या पागल बना देगा।

५. असाध्य रोगोंकी औषधि मँगा लेना, बिछुड़े स्वजनका पता बता देना जैसे परोपकारके कार्य आप छायापुरुषके द्वारा मजेसे ले सकते हैं। वह रोगीके स्वस्थ होने न होनेकी भविष्यवाणी भी कर सकता है।

साधन-विधि

यों तो छायापुरुषके साधनकी कई विधियाँ हैं ; किन्तु सबसे सुगम विधि ही यहाँ दी जा रही है—

१. एक एकान्त कमरा होना चाहिए, जिसमें कोई भी सामान न हो। कमरा सर्वथा खाली हो। उसे धोकर स्वच्छ करलें और केवल साधनके समय उसमें जावें। यदि ऐसा न सम्भव हो तो कमरा नित्य शामको खाली करके धो दिया जाया करे।

२. कमरेमें जाकर सब वस्त्र उतार दें। सर्वथा दिगम्बर होकर साधन करें या केवल लङ्गोट लगाये रहें।

३. साधनका समय रात्रिमें ऐसा रक्खें जब सब लोग सो गये हों और आसपास कोई शब्द न होता हो। सबको समझा दें कि आपको किसी भी कारण कोई बीचमें पुकारे नहीं।

४. साधनका समय ठीक एक ही रहेगा और साधनका स्थान भी वही रहेगा। कमसे कम छः महीने एक ही स्थानपर, निश्चित समयपर साधन करना होगा।

५. भोजन या कोई जलपान करनेके तीन घण्टे बाद साधन करना चाहिए और साधनके बाद तीन घण्टे तक जल भी नहीं पीना चाहिए।

६. साधनके छः महीनोंमें ब्रह्मचर्यका पूर्ण पालन करना होगा। साथ ही हल्का, सात्विक भोजन करना होगा। चाय और सिगरेट-बीड़ी भी छोड़ दिये जायँ तो अच्छा।

७. चैत्र शुक्ल पक्षके नवरात्रमें सोमवार या गुरुवारसे साधन प्रारम्भ करें। रवि, मङ्गल या शनिवारसे साधन प्रारम्भ न करें।

८. साधनके कमरेमें धूप जला दीजिये। पूरे शरीरमें इत्र मलकर साधनके लिए खड़े होइये ; साधनके समय सीधे खड़े होइये। हाथ ढीले छोड़ दीजिये। एक घण्टे तक हिलना-डोलना, हाथ-पैर या सिर हिलाना एक दम बन्द रखिये।

९. चमेलीके या सरसोंके तेलका दीपक जलाइये। दीपकमें इतना तेल हो कि एक घण्टे तक जले। कमरेमें कहींसे वायु न आवे कि दीपककी लौ काँपे। दीपक ऐसे स्थानपर रखिये कि वह आपकी छातीके बराबर हो,

दीपककी ओर पीठ करके दीवालपर जो आपकी छाया पड़ रही है, इससे तीन फीट दूर खड़े होइये ।

१०. छायाके भ्रूमध्यके स्थान अथवा सिरपर दृष्टि रखिये। पलक गिराइये मत । नेत्रमें आँसू आवें तो पलक मारकर फिर स्थिर दृष्टिसे देखिये । एक घण्टे तक यह अभ्यास करके अन्तमें नेत्र धो डालिये ।

११. छायाकी ओर देखते समय मन ही मन 'ॐ नमो छायापुरुषाय विराट स्वरूपाय' इन मन्त्रका जप करते रहिए और भावना करते रहिये कि छाया साकार सजीव हो रही है । वह सजीव होकर आपसे बात करेगी।

१२. छायमें पहिले नेत्र चमकेंगे, नाक दीखेगी और फिर पूरा रूप दीखेगा । तुम पहिले बोलो मत । केवल इच्छा करो कि वह बोले। वह पूछेगा—'मुझे क्यों बुलाया है ?' विना डरे उत्तर दो—'जगतकी सेवाके लिए मैं आपको वशमें करना चाहता हूँ ।'

१३. छाया पुरुष कोई प्रतिज्ञा करनेको कहेगा । वह जो प्रतिज्ञा करनेको कहे, वह प्रतिज्ञा अवश्य करलो और उसका जीवनभर पालन करो।

१४. तुम भी कहो—'आप यह प्रतीक्षा करें कि मैं जब बुलाऊँगा तभी आवेंगे । मेरे विना बुलाये तभी आवेंगे जब मेरे प्राण सङ्कटमें हों, अन्यथा विना बुलाये नहीं आवेंगे और मैं जब कहूँगा, तभी चले जावेंगे।'

यह प्रतिज्ञा अवश्य करा ही लेनी चाहिए। बस, तुम्हारे हाथमें एक महान शक्ति आ गयी । अब तुम जो सौम्य-शुभ संकल्प करोगे, वह अवश्य सिद्ध होगा ।

—×—

संकल्पपर शकुन, स्वप्न तथा स्वरोदयका प्रभाव

सृष्टिमें अनेक ऐसे रहस्य हैं जो तर्ककी सीमामें नहीं आते। उनका कोई कार्य-कारण सम्बन्ध दिखायी नहीं पड़ता। ऐसी बहुत सी बातें हैं; किन्तु वे सदा इस प्रकार घटित होती हैं कि उनका कार्य-कारण सम्बन्ध जैसा ही सम्बन्ध जान पड़ता है। आप किसी कार्यका संकल्प करते हैं और उसी समय कोई शकुन होता है तो वह शकुन बतलाया है कि आपका संकल्प सिद्ध होगा या नहीं। जैसे आप कहीं किसी कामसे जा रहे हैं, अब एक बिल्ली आपके सामनेमें मार्ग काट जाती है। बिल्ली अपने स्वभाव एवं अपनी आवश्यकतासे उस समय उधरसे गयी है, उसका आपकी यात्रा या आपके कार्यसे कोई सम्बन्ध सोचा नहीं जा सकता; किन्तु उसका मार्ग काट जाना यह सूचित करता है कि आप जिस कार्यके लिए जा रहे हैं, वह पूरा नहीं होगा।

इस प्रकार शकुन, स्वप्न तथा स्वरोदयसे यह जाना जाता है कि आपका संकल्प पूरा होगा, उसमें विघ्न पड़ेंगे या वह सर्वथा विफल होगा। शकुनादिका यह प्रभाव क्यों होता है यह तो पता नहीं; किन्तु किस शकुन, स्वप्न या स्वरके उदयका क्या और कैसे प्रभाव पड़ता है इसके विस्तृत विवेचन मिलते हैं। शकुन-शास्त्र, स्वप्न-शास्त्र तथा स्वरोदय-विज्ञान—ये पृथक पृथक शास्त्र हैं और इनपर विपुल साहित्य है। यहाँ इनपर केवल सैद्धान्तिक रूपमें विचार किया जा सकता है।

शकुन

अपने अंगोंका स्फुरण, स्खलन आदि आत्म शकुन कहे जाते हैं। दूसरे मनुष्यों द्वारा उपस्थित होने वाले शकुन मानव-शकुन हैं। पशु-पक्षियों तथा विभिन्न प्राणियों द्वारा जो शकुन ज्ञात होते हैं उन्हें प्राणिज-शकुन कहते हैं और वायु, अग्नि, जल, सूर्य, चन्द्र, तारक, पुष्प, फल, तरु, तृण आदिसे जो शकुन प्रकट होते हैं, उन्हें भौतिक-शकुन कहते हैं।

अपने नेत्र हाथ पैर आदि अंग फड़कते हैं समग्र-समयपर। इनमेंसे पुरुषके दाहिने एवं नारीके वाम अंगोंका स्फुरण शुभ तथा इसके विपरीत

अशुभका सूचक है। प्रत्येक अंगोंके स्फुरणका पृथक-पृथक फल शकुन शास्त्र बतलाता है। इसी प्रकार हथेलियों या पैरके तलवोंकी खाज, नखोंपर पड़ने वाले श्वेत तथा काले धव्वे भी अपने स्थानके अनुसार शुभाशुभके सूचक होते हैं। किसी कार्यके प्रारम्भमें या कहीं जाते समय स्वयं फिसल जाना, वस्त्र, शस्त्र, आभूषण, लेखनी आदिका गिर पड़ना अशुभ सूचक होता है।

दूसरे मनुष्यों द्वारा शुभाशुभका ज्ञान होता है। जैसे किसीके छींक देनेसे छींककी दिशाके अनुसार फल जाना जाता है। पुस्तक लिये विप्रोंका मिलना, बालकके साथ सौभाग्यवती नारीका मिलना शुभ सूचक होता है। काणा, विकलाङ्ग, रोगी तैलयुक्त पुरुषका मिलना अशुभ सूचक होता है। इस प्रकार दूसरे मनुष्योंके द्वारा वहुतसे शुभ या अशुभ शकुन प्राप्त होते हैं।

प्राणिज-शकुनोंका क्षेत्र वहुत विस्तृत है। छिपकलीके अंगोंपर गिरने, कृकलासके शरीरपर चढ़जाने, कौएके बोलने, कुत्तेकी चेष्टा आदिसे वहुत अधिक शुभाशुभ जाना जाता है। इसी प्रकार गौ, गज, अश्व, वृषभ, शृगाल, लोमड़ी, मृग आदि अपनी स्थिति तथा चेष्टाके अनुसार शुभाशुभ सूचित करते हैं। चील, नीलकण्ठ, गृद्ध प्रभृति बहुतसे पक्षी भी शुभ सूचक हैं।

यात्रामें जल भरे घट, मछली, दही आदिका मिलना शुभ सूचक है। दाहिने मृगयूथ दिखायी दे, नेवला या लोमड़ी कहीं दीख जाय, दाहिने कौआ अच्छे स्थानपर बैठा हो, बाँयें नीलकण्ठ चारा पकड़े, गाय वछड़ेको पिलाती मिले, गज या अश्व सजे दाहिनेसे जायँ, ये सब शुभ सूचक चिह्न हैं।

इसी प्रकार काक रति देखना, काकका मस्तकपर बैठना, बिल्लीका मार्ग काट देना, गृद्ध या उल्लूकका भवन या वाहनपर बैठना, अकारण कुत्तोंका रुदन, शृगालका मार्ग काट देना आदि आदि अशुभ सूचक हैं।

प्राणिज-शकुनोंके समान भौतिक-शकुनोंका क्षेत्र भी बहुत विस्तृत है और इन्हींमें दिव्य शकुन भी आ जाते हैं जैसे यात्रामें प्रज्वलित धूम्ररहित अग्निका दर्शन, पुष्पमाल्य दर्शन शुभ हैं और सधूम अग्नि मिलना अशुभ है। उल्कापात, सूर्य तथा चन्द्रपर असमयमें 'परिवेश' दीखना, बिना ऋतुके पुष्प या फल आजाना, ये अशुभ सूचक शकुन हैं।

आकाशसे रक्त, चन्दनादिकी वर्षा, देवमूर्तियोंका रुदन, हास्य तथा उठकर चल देना प्रभृति दिव्य शकुन हैं जो अशुभ सूचक माने जाते हैं। इस प्रकार शकुनोंके प्रभावका विवरण वहुत विस्तृत है।

स्वप्न

सामान्यतः सभी लोग स्वप्न देखते हैं। यदि निद्रा पूरी न हो तो स्वप्नावस्था रहती है लेकिन स्वप्नोंसे शुभाशुभ भी जाना जाता है और वे विशेष प्रकारके स्वप्न होते हैं। निम्न बातें स्वप्नोंके वर्गीकरणके विषयमें स्मरणीय हैं—

१. दिनमें देखे स्वप्नका कोई शुभाशुभ फल नहीं होता।

२. जो स्वप्न जागृत होनेके पश्चात् भूल जाते हैं, उनका भी कोई शुभाशुभ फल नहीं होता।

३. यदि स्वप्न देखनेके पश्चात् उसी रात्रिमें स्वप्न देखने वाला फिर सो गया हो तो उसके स्वप्नका शुभाशुभ विचार नहीं होता।

४. अर्धरात्रिसे पूर्व देखे स्वप्नोंका भी शुभाशुभ विचार नहीं होता।

५. जो स्वप्न सवेरे सूर्योदयके समय देखा गया है, उसका फल दो-चार दिनमें ही प्राप्त होता है। लेकिन दूसरे स्वप्न सूर्योदयसे जितने पहिले रात्रिमें देखे गये हैं, उनका फल उतनी देरसे प्राप्त होता है।

ऐसे स्वप्नोंमें भी दो प्रकारके स्वप्न होते हैं—एक तो भविष्य दर्शक और दूसरे भविष्य सूचक। भविष्य दर्शक स्वप्न तो जिस रूपमें देखे गये हैं या उनमें जो बात सुनी गयी है, वह ज्योंकी त्यों जीवनमें प्रत्यक्ष सामने आती है। लेकिन भविष्य सूचक स्वप्नोंका स्वप्न-शास्त्रके अनुसार फल-विचार करना चाहिए।

स्वप्नमें अपने केशोंका मुण्डन, शरीरमें तेल लगाना, प्रेतों द्वारा आलिंगित होना देखना, आसन्न मृत्युका सूचक है। स्वप्नमें हाथी द्वारा दौड़ाये जानेपर किसी सम्बन्धीकी मृत्यु होती है, लेकिन किसीकी मृत्यु देखना उस व्यक्तिकी आयु वृद्धिका सूचक है। जब कि विवाहोत्सव दीखना विपत्तिका सूचक है। स्वप्नमें सर्प दीखना तो शत्रु-बाधा सूचित करता है किन्तु सर्प काट ले अपनेको तो सम्पत्ति या सफलता प्राप्त होती है।

इस प्रकार स्वप्न-शास्त्रका भी विपुल विस्तार है। शकुन-शास्त्र तथा स्वप्न-शास्त्र—ये दोनों ही ज्योतिषके अङ्ग हैं और इनके सम्बन्धमें किसी भी ज्योतिषीसे आवश्यकता पड़नेपर आप सम्मति ले सकते हैं।

स्वरोदय

स्वरोदय शकुन शास्त्र भी है योग भी। स्वप्न तथा शकुन तो केवल यह सूचित करते हैं कि आपका संकल्प या संकल्पके अनुसार प्रारम्भ किया

कार्य कैसा फल देगा । कभी-कभी बिना संकल्पके भी वे आगामी घटनाओं-की सूचना देते हैं ; किन्तु स्वरोदय तो जहाँ संकल्प कालमें यह सूचित करता है कि वह संकल्प सफल होगा या नहीं, वहीं यह भी बतलाता है कि कैसे कार्यका संकल्प किस स्वरके उदयके समय क्रियात्मक रूप देनेपर सफलता प्राप्त होगी ।

जैसे कोई व्यक्ति किसी कार्यसे आपके पास आया है । आपके सम्मुख वह दाहिने या बाएँ जिधर स्थिर है, उधरका ही स्वर चल रहा है तो उसके कार्यके सफल होनेकी सम्भावना है । उस कार्यमें योग देना चाहिए । इसी प्रकार और भी शकुन स्वरके द्वारा जाने जाते हैं ।

लेकिन स्वरोदय योग भी है, अतः किसी जानकारके पास रहकर थोड़े दिन अभ्यास किये बिना उसकी पहिचान नहीं होती और संकल्प-सिद्धिमें उसका उपयोग नहीं हो पाता ।

हमारी नासिकाके वाम छिद्रको चन्द्र तथा दक्षिणको सूर्य कहते हैं । इनका एक नाम इडा-पिंगला भी है । जब श्वांस वाम छिद्रसे चलती हो तो चन्द्र स्वर और दाहिनेसे चलती हो तो सूर्य स्वर चलता है । लेकिन यदि दोनोंसे समान रूपमें चलती हो तो सुषुम्ना स्वर (अग्नि स्वर) चलता है । इस सुषुम्ना स्वरके चलते समय जो कार्य आप प्रारम्भ करेंगे, वह विफल होगा अतः इस स्वरके समय कोई कार्य प्रारम्भ न करें ।

श्वांसमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश—ये पांचों तत्व समय-समयपर चलते हैं । प्रातःसे एक-एक तत्व ढाई ढाई घड़ी चलता है । प्रातः किस तत्वसे प्रारम्भ होगा, यह बात तिथिपर निर्भर है । इस एक तत्वकी मुख्यतामें भी प्रत्येक तत्व बारह-बारह पल चलते हैं इन प्रत्येक तत्वोंकी पहिचान है कि किस तत्वके समय श्वास कितना लम्बा और कैसा ऊपर, नीचे, टेढ़ा, तिरछा आदि चलता है ।

यदि किसी तत्वमें गौण रूपसे भी वही तत्व चल रहा हो और उस तत्वमें मनका संयम किया जाय तो १२ पलके लिए उस तत्वपर विजय हो जाती है । जैसे वह तत्व जल हो तो उसमें संयम करके १२ पल वर्षा करायी जा सकती है । साथ ही केवल मुख्य तत्वको जानकर उस समय उस तत्व सम्बन्धी कार्य प्रारम्भ करनेके उस कार्यमें सफलता प्राप्त होती है । इस प्रकार स्वरोदयका ज्ञान संकल्प-सिद्धिका परम सहायक है ।

———

नादोपासनादि पञ्च साधन तथा त्राटक

परमार्थके साधनमें ज्ञान, भक्ति एवं योग—ये तीन ही मार्ग हैं। इनमें-से योग उन साधकोंको सुगम पड़ता है, जो न प्रखर प्रतिभाशाली हैं और न भावनाशील ही हैं। समाजमें ऐसे ही लोग अधिक होते हैं। उनकी भी मुक्ति तो होनी ही चाहिए। अतः योगकी अनेक प्रणालियोंका ऋषियोंने प्रसार किया। इनमें-से अष्टाङ्ग योग तो इस युगमें अत्यन्त कठिन है ; किन्तु नाद-श्रवण, स्पर्शयोग, गन्धयोग, रसयोग तथा रूपयोग लययोगके भेद होनेसे सरल हैं।

नादानुसन्धान

मनोलयका यह सबसे सुगम साधन है। अधिकांश संत मार्गोंमें नाद-श्रवण ही किया जाता है। नाद-श्रवणके पूर्व साधकको नाड़ी शुद्ध अवश्य कर लेना चाहिए। नाड़ियोंमें मल रहनेपर नादोत्थान नहीं होता। साधन कालमें सात्विक आहार तथा ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिए।

नाद श्रवणका अभ्यास रात्रिमें दो बजेसे पाँच बजे तकके नीरव समयमें करना उत्तम है। ग्रीष्मकी अपेक्षा शीतमें नादोत्थान अधिक होता है, अतः यह साधन शरद्-ऋतुसे प्रारम्भ करना उत्तम है। एक बार नादोत्थान हो जानेपर रात-दिन सब समय, दूसरे कार्य करते हुए भी मनको नाद-श्रवणमें लगाये रहना चाहिए। रोगी लेटे-लेटे भी नादश्रवण कर सकता है।

गुटिका—पहिले कानमें मल एकत्र होता रहेगा और कान बन्द किये बिना नादश्रवण नहीं होगा। इसलिए यह गुटिका बना लेना चाहिए—

१ रत्ती कस्तूरी, २ रत्ती जायफल, ३ रत्ती जावित्री, ६ रत्ती लौंग। सबको कूट छान कर अपने कर्णछिद्रके अनुसार १ से ३ रत्ती तक की दो गुटिका लाल रेशमी वस्त्रमें चूर्णको सूतसे अंगूरके समान बाँधकर बनालो। कुछ सूतका भाग बन्धनसे ऊपर पकड़नेके लिए छूटा रहे। कुछ लोग तुलसीकी लकड़ीकी भी गुटिका बनाते हैं, लेकिन वह कड़ी रहती है।

स्नानके अतिरिक्त साधनके प्रारम्भिक छः महीनोंमें गुटिकासे कर्णछिद्र बराबर बन्द रखना चाहिए। गुटिका दिनमें पाँच-छः बार निकाल कर

पोंछ लें, क्योंकि कानका मल उसमें आकर्षित होकर लगता रहेगा। यदि गुटिका लगानेसे दर्द हो तो निकाल दो और एक दो दिन बाद फिर लगाओ।

अभ्यास—नीरव रात्रिकालमें सिद्धासनसे शान्त बैठ जाना है। शाम्भवी मुद्रा रखें तो उत्तम। गुटिकासे कर्णछिद्र बन्द करलें। नादका श्रवण सदा दाहिने कानसे करें। भूल कर भी बायें कानसे नाद श्रवण न करें, अन्यथा हानिका भय है। इस प्रकार कुछ दिन रात्रिमें नाद श्रवण करनेपर दिन रात सुनायी पड़ने लगेगा और घोर कोलाहलमें भी आप उसे सुन सकेंगे।

कभी भी कोई औषधि लेकर नाद श्रवण नहीं करना चाहिए। जो लोग औषधि देकर नाद श्रवण कराते हैं, वे साधककी हानि करते हैं; क्योंकि औषधिके कारण प्रारम्भिक नाद अवश्य शीघ्र सुनायी पड़ता है; किन्तु उच्चनादोंका उत्थान अवरुद्ध हो जाता है। अतः किसी औषधि या नशेका आश्रय नहीं लेना चाहिए।

नाद श्रवण—नादोंके दस भेद हैं १. झिलनी झंकार, २. छोटी घंटियोंका शब्द, ३. घंटानाद, ४. शंख, ५. सितार, ६. हाथसे ताली बजानेकी ध्वनि, ७. बंशी-ध्वनि, ८. मृदंग, ९. भेरी, १०. मेघ गरजन।

जैसे-जैसे मल-शोधन होगा और चित्त अन्तर्मुख होगा उच्चतर नाद सुनायी पड़ेगा। पहला नाद तो कर्णमें अवरुद्ध वायुका नाद है। कान बन्द करके इसे सभी सुन सकते हैं। दूसरा नाड़ी गतिका, तीसरा हृदय गतिका, चौथा रक्त गतिका, पाँचवा मनो गतिका, छठा प्राण गतिका नाद है। शेष चार दिव्य नाद हैं। यह आवश्यक नहीं कि ये नाद सबको क्रमसे सुनायी दें। श्रेष्ठ अधिकारीको प्रारम्भमें ही पंचम, सप्तम आदि नाद सुनायी दे सकते हैं। प्रथमके पश्चात् चतुर्थ या पंचम आदि भी उत्थित् हो सकते हैं और मनकी चंचलता या नाड़ीमें मल आजानेपर उच्च नादसे नीचेका कोई नाद सुनायी देने लग सकता है।

नादोंके उत्थानके साथ शरीरमें भी कुछ लक्षण प्रकट होते है। प्रत्येक नादके साथ क्रमशः ये लक्षण आते हैं—खाज या चींटी सा काटना पूरे देहमें, हाथ-पैर फड़कना, सिरमें भारीपन, सिर काँपना, तालुसे रस निकलना, तालुके रसका स्वादिष्ट हो जाना, गुप्त बातोंका ज्ञान, परावाणीका प्राकट्य, शरीर अदृश्य हो जाना अथवा दिव्य दृष्टि और वृत्तिलय।

जैसे नाद श्रवणमें क्रम नहीं, वैसे ही इन लक्षणोंमें भी क्रम नहीं है। किसीके बाद कोई लक्षण प्रकट हो सकता है। सब लक्षण प्रकट ही हों, यह

आवश्यक नहीं, लेकिन दशम् लक्षण वृत्ति लय हो जानेपर समाधि लग जाती है और वासना क्षय हो जाती है तथा साधकका संकल्प मोक्ष-प्राप्ति पूर्ण हो जाता है।

नाद-श्रवणके समय कुछ साधकोंको मस्तकमें ज्योतिके दर्शन होते हैं। ऐसी अवस्थामें या तो ज्योतिपर मन न ले जाय या नादसे मन सर्वथा हटाकर ज्योतिपर ही लगा दे, दोनों दशामें समाधि प्राप्त हो जायगी। नाद श्रवण या ज्योतिपर मन लगानेपर विचित्र-विचित्र दृश्य दीखेंगे, वे सुन्दर-असुन्दर दोनों हो सकते हैं। नाना प्रकारकी सुगन्धि आ सकती है, नाना प्रकारके रसोंका अनुभव हो सकता है; किन्तु मनको इनमें कहीं मत जाने दो। उन्हें आज्ञा दो—'मेरे मार्गसे हट जाओ।' तुम्हारी आज्ञाका पालन होगा। इस प्रकार लक्ष्यपर स्थिर रहनेसे संकल्प सिद्धि समाधि प्राप्त होगी।

गन्ध

नाद श्रवणके समान ही गन्ध, रस, रूप तथा स्पर्श भी लय योगके साधन हैं। इनके लिए भी साधनका समय नादानुसन्धानके समान ही है और आहारादिकी शुद्धिका भी वैसा ही ध्यान रखना पड़ता है।

'नेती' करके नित्य नासाछिद्र स्वच्छ कर लिया करो। अभ्यासके समय स्थिर बैठकर नासिकाग्रपर दृष्टि स्थिर करके 'लं' बीजका जप करो। पहिले भावना करो कि गन्ध आ रही है। यदि रंग दीखें तो ध्यान मत दो। कपूर खस, नीम, गुलाब, चन्दन, कमल और तुलसीकी गन्ध क्रमशः आवेगी।

रस

कड़वे तेल और नमकसे दातौनके पश्चात् जीभको प्रातः सायं रगड़ कर कुल्ला करो। जीभको धीरे-धीरे बाहर खींचकर लम्बी करो। अभ्यासके समय जीभको उलट कर तालूसे लगा लो। कटु, तिक्त, खट्टा, नमकीन, कषैला, मीठा और जलका स्वाद क्रमशः आवेगा।

रूप

जलके छींटे देकर नित्य नेत्र धोओ और नेत्र-व्यायाम दोनों समय करो। एकान्त अन्धेरे कमरेमें रातके समय अभ्यासके लिए बैठो। नेत्रोंको बन्द करके भ्रूमध्यमें ध्यान करते हुए "ॐ सच्चिदेकं ब्रह्म ॐ" इस मन्त्रका जप करो।

पहले प्रकाशके बिन्दु दीखेंगे और फिर नाना प्रकारके दृश्य दीखने लगेंगे। दृष्टि भ्रूमध्यपर स्थिर रक्खें। अन्तमें दृश्योंका लय हो जायगा और केवल रंग आवेंगे। अन्तमें नीला रंग दीखकर वृत्तिका लय हो जायगा।

स्पर्श

गंगारज या चिकनी मिट्टी पूरे शरीरमें मलकर नित्य भली प्रकार स्नान करें। प्रातः मध्याह्न तथा सायं तीन समय नित्य स्नान करें। एकान्त अन्धेरे कमरेमें केवल लंगोटा या लंगोटी लगाकर बैठें। कोई स्पर्श हो चौंकें नहीं। नेत्र बन्द करके केवल यह भावना करो कि एक सुकोमल अदृश्य अरूप तत्व तुम्हें छू रहा है लेकिन यह साधन भयप्रद है, खतरनाक है। कर्कश, कष्टप्रद स्पर्श पहिले होते हैं और चौंक जानेसे पागल होनेका भय है।

फल

नाद, स्पर्श, रूप, रस या गन्ध चाहे जिसका साधक हो, साधन परिपक्व हो जानेपर वह दूसरोंको भी अपने साधनके अनुसार नाना प्रकारकी गन्धों, शब्दों आदिका अनुभव करानेमें समर्थ हो जाता है। लेकिन चमत्कार दिखानेमें पड़ना नहीं चाहिए। परम फल इन साधनोंका वृत्तिलय पूर्वक समाधिकी प्राप्ति है।

त्राटक

लययोगका एक अन्यतम साधन त्राटक है। यह ध्यानयोगकी क्रिया है और इससे मन ध्यानस्थ होता है। साथ ही त्राटककी सिद्धिसे दूसरोंके चित्तकी बात भी जानी जा सकती है। लेकिन जिनके नेत्र निर्दोष तथा बलवान हों और जो कोई भी नशा सेवन न करते हों, उन्हें ही त्राटक करना चाहिए। त्राटकके कुछ अभ्यास यहाँ दिये जा रहे हैं। इनमें एक अभ्यस्त हो जानेपर दूसरेको प्रारम्भ करना चाहिए—

१. एक आसनसे सीधे बैठें। नेत्रोंकी सीधमें तीन फीट दूर शालग्राम या शिवलिंग रखकर अपलक नेत्रोंसे उसे देखें। नेत्रोंमें आँसू आ जानेपर अभ्यास बन्द करके नेत्र शीतल जलसे धो डालें। यह अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ावें।

२. सरसों या घीके दीपकको नेत्रोंके सामने तीन फीट दूर रक्खो। अपलक दृष्टिसे दीपककी लौ देखो। उसमें कुछ दृश्य दीखेंगे। जब दृश्य दीखने बन्द हों जायं तब समझो कि यह अभ्याज पूरा हुआ। तब तीसरा अभ्यास करो।

३. स्थिर आसनपर बैठकर जालन्धर बन्ध करो। दृष्टि नासिकाकी नोकपर जमाओ। इस अभ्यासमें कुछ दिन बाद अद्भुत गन्ध आवेगी। गन्ध आना बन्द हो जाय तब अगला अभ्यास करो।

४ पहिले उच्च मन्दिरके शिखरपर त्राटक करो। वहाँ दृष्टि स्थिर हो जाय तो चन्द्रमापर और वहाँ भी स्थिर हो जाय तो किसी तारेपर त्राटक करो।

५. जलमें पड़े सूर्यके प्रतिबिम्बपर दृष्टि स्थिर करो। वहाँ दृष्टि स्थिर हो जाय तो प्रातःकालके सूर्यपर त्राटक करो।

६. खुली आँखों भ्रू मध्यपर दृष्टि समाओ। नेत्र आधे मुँद जायँगे। यह महान शक्तिवाली शाम्भवी मुद्रा है। पहले नेत्रोंकी नसोंपर जोर पड़ेगा, कपालमें कुछ दर्द होगा, पलकें चंचल होंगी। यह अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ाओ। दो वर्षमें दृष्टि स्थिर हो जायगी और दृष्टि स्थिर होते ही दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जायगी।

नोट—प्रत्येक दिन अभ्यासके पश्चात् मुखमें जल भर कर शीतल जलके छींटे मारकर नेत्र धो डालने चाहिए।

संकल्पसे अर्थ-सिद्धि

मनुष्यके चार पुरुषार्थ माने गये हैं-अर्थ- धन काम और मोक्ष। इनमें भी मुख्य रूपसे दो ही पुरुषार्थ मोक्ष और अधम पुरुषार्थ काम पुरुषार्थ हैं- उत्तम पुरुष जिसे अपना परम प्राप्य माने वही उसका पुरुषार्थ है। जो भोगके लिए धन पाना चाहते हैं, उनका पुरुषार्थ अर्थ नहीं काम है और जो दानादिके लिए धन पाना चाहते हैं उनका पुरुषार्थ धर्म है; लेकिन ऐसे भी लोग बहुत हैं जो धनके लिए धन चाहते हैं। उनका उपार्जन धनकी वृद्धिके लिए ही है, धनके किसी उपयोगके लिए नहीं। ऐसे लोग होते हैं, इसीसे अर्थकी गणना भी पुरुषार्थमें है। इसी प्रकार जो सांसारिक या स्वर्गके सुख पानेके लिए धर्माचरण करते हैं, उनका पुरुषार्थ धर्म नहीं, काम है और धन प्राप्तिके लिए धर्माचरण करते हैं, उनका पुरुषार्थ अर्थ है।

जो धर्माचरण द्वारा चित्त शुद्धि पूर्वक ज्ञान चाहते हैं या भगवत्प्रीत्यर्थ धर्माचरण करते हैं, उनका पुरुषार्थ मोक्ष है। कुछ धर्माचरण केवल धर्मके लिए करते हैं ; युधिष्ठिरकी भाँति धर्माचरण उनका स्वभाव है, अतः उनका पुरुषार्थ धर्म माना गया।

यह अर्थ प्रधान युग है ! इसमें अधिकाँश लोग अर्थ पुरुषार्थी हैं। रुपया चाहिए—निजोरीका भार बैंककी पास बुकके अङ्क या रोकड़ वहीमें जमाकी ओरके अङ्क बढ़ते रहने चाहिए। रात-दिन इसके लिए वे सचिन्त एवं उद्योगशील रहते हैं। इसकी क्या आवश्यकता ? यह सोचनेका उन्हें अवकाश नहीं। इसे वे मूर्खता पूर्ण प्रश्न कहेंगे। वैसे उनकी अपनी आवश्यकता इतनी नहीं कि उसकी पूर्तिमें उनके पास जो धन है, उसका एकांश भी लग सके।

मैं नहीं कहता कि सभी लोग उत्तम प्रकारके अर्थ पुरुषार्थी ही है, किन्तु अर्थ प्रधान युग होनेसे अर्थार्थी तो कम-अधिक सभी हैं। अर्थके बिना आज जीवनकी सामान्य सुविधा प्राप्त नहीं होती और समाजमें अपनी स्थितिको बनाये रखनेके लिए तो सभीको अर्थपर ही निर्भर होना पड़ता है। ऐसी अवस्थामें सभीको अर्थकी आवश्यकता होती है और उसकी पूर्ति न होनेपर कठिनाई भी उठानी पड़ती है।

अर्थकी प्राप्ति कैसे हो ? यह प्रश्न आज केवल व्यक्तिका नहीं है, यह तो पूरे समाज, राष्ट्र एवं विश्वका प्रश्न है। आज विश्वमें परस्पर संघर्ष प्राचीन कालके समान दिग्विजयके लिए-- सम्मान प्राप्तिके लिए नहीं है, आज तो संघर्ष है व्यापारके लिए, सुरक्षित बाजार प्राप्त करनेके लिए, अर्थात् अर्थ प्राप्तिके लिए।

विश्वके अनुभवी लोगोंने इस प्रश्नका उत्तर अपने-अपने ढङ्गसे दिया है। अमेरिकाके सुप्रसिद्ध धनकुबेर रॉकफेलरने अर्थ-सिद्धिके सम्बन्धमें बताया—'समान सङ्कल्पोंका सङ्कलन।' एक कार्यमें एक जैसे विचार रखने वाले जितने व्यक्ति सम्मिलित हो जाते हैं, कार्य उतनी शीघ्रतासे अग्रसर होता है। श्री रॉकफेलरने कहा है 'एक समान विचार रखने वाले दो व्यक्ति जब एक कार्यमें लगते हैं तो एक और एक दोकी शक्तिसे कार्य नहीं प्रगति करता ; एक और एक ग्यारहकी द्रुतगतिसे कार्य प्रगति करता है।

श्रीरॉकफेलरका विश्वास है कि अर्थकी सिद्धि औद्योगिक कुशलताकी अपेक्षा उद्योग कर्त्ताके दृढ़ सङ्कल्पपर अधिक अवलम्बित है और यदि उसीके

समान सङ्कल्पका कोई व्यक्ति उसका सहयोगी बनता है तो कार्यमें एक एक ग्यारहकी गति आजाती है। इस प्रकार जिस कार्यमें समान सङ्कल्प एवं समान विचारके जितने व्यक्ति एकत्र होते जाते हैं, कार्य उतनी ही गतिसे महान सफलताओंकी ओर अग्रसर होता है।'

यह एक ऐसे धनुकुबेरका अनुभव है जिससे अपना व्यवसाय नाम-मात्रकी पूँजीसे प्रारम्भ किया था और अन्तमें ऐसी स्थितिमें पहुँचा कि अनुमान किया गया था कि श्रीरॉकफेलर चाहें तो पूरी पृथ्वीको सोनेके डालर सिक्कोंसे ढक दे सकते हैं।

आप चाहें तो अर्थसिद्धिके लिए संकल्पका प्रयोग करके स्वयं अनुभव कर सकते हैं। एक अनुष्ठानके रूपमें इसका प्रयोग इस प्रकार होगा—

आप कोई असम्भव संङ्कल्प न करें। आप अपनी स्थिति, योग्यता तथा परिस्थितिका पूरा विचार करके, जहाँ आपको सफलताकी पूरी सम्भावना है ; किन्तु सामान्य प्रयत्नसे सफल होनेमें कुछ उलझन होती दीखती है, प्रातःकाल उठते ही अपने आपसे कहें—'अमुक कार्यमें सफल होना ही है। मैं अवश्य सफल होऊँगा।' इसके पश्चात् कोई कुछ कहे, मनमें यह शङ्का न आने दें कि कदाचित् कोई बाधा पड़े। आप निर्बाध सफल होंगे, इस विश्वासपर स्थिर रहें। आप देखेंगे कि आप कितनी सुगमतासे सफल हो जाते हैं।

जब आप इस प्रकार सामान्य कार्योंमें सफल होने लगें, तब ऐसे कार्योंके सफल होनेका सङ्कल्प करें, जिनका सफल होना कुछ कठिन दीखता है। इस प्रकार अभ्यास बढ़ाते हुए आप दृढ़ संकल्प हो जायँगे और जो कार्य सर्वथा अशक्य लगते हैं, उनमें भी सफलताका दृढ़ विश्वास करके सफल हो जायँगे।

अर्थसिद्धिका दूसरा मार्ग है भगवद्-विश्वास। यह भी सङ्कल्प-सिद्धिका ही एक अङ्ग है। भगवान् सर्वज्ञ हैं, वे हमारी इच्छा तथा आवश्यकताको जानते हैं। वे सर्वसमर्थ हैं, अतः वे उस आवश्यकताको पूर्ण भी कर सकनेमें समर्थ हैं। वे दयासिन्धु हैं, अतः हमारी प्रार्थनाकी उपेक्षा भी नहीं करेंगे और वे सबके परम सुहृद हैं, अतः सुहृद होनेके कारण हमारी भलाईके लिए वे स्वयं उद्यत भी रहते हैं। ऐसा दृढ़ विश्वास करके जो अपने अर्थकी सिद्धि भगवान्पर छोड़ देता है उसका सङ्कल्प अवश्य पूर्ण होता है।

अमेरिकाकी एक आत्यात्मिक संस्था है, ईसाई धर्मकी। संस्थामें बहुतसे विद्यार्थी रहते हैं, जिन्हें भोजन वस्त्रादि संस्थाकी ओरसे प्राप्त होता है। संस्थाका कार्य सार्वजनिक सहायतासे चलता है; किन्तु उसके संचालक कभी किसीसे कोई आर्थिक सहायताकी याचना नहीं करते।'

संस्थाके व्यवस्थापकने एक बार संचालकको सूचना दी—'अपना अन्न-भण्डार समाप्त होनेको है।

संचालकने उत्तर दिया—'प्रभुको पता है और वे प्रबन्ध करनेमें समर्थ हैं।'

कहींसे कोई सहायता नहीं आयी। एक दिन सायंकाल व्यवस्थापकने फिर सूचना दी—'कलके लिए हमारे पास कुछ नहीं है ?'

संचालकने कहा—'कल आने दीजिये।'

कल तो आज बनना ही था। प्रातः संचालकसे व्यवस्थापकने पूछा—'आज भोजनालयमें क्या बनेगा, अपने पास तो कोई सामग्री नहीं है।'

उत्तर मिला—'प्रतीक्षा कीजिये।'

भोजनका समय होगया और भोजनालयमें अग्नि जली ही नहीं। व्यवस्थापकने निवेदन किया—'भोजनकी पहिली घण्टी बजानेका समय होगया !'

संचालकने बिना हिचके आदेश दिया—'घण्टी बजवाइये।'

घण्टी बजा दी गयी। सेवकोंने मेज, कुर्सी आदि ठीक रख दिये। दूसरी घण्टी भी आदेश मिलनेपर बजा दी गयी। मेजों पर काँटे, चम्मच और रिक्त प्लेटें सजा दी गयीं।

व्यवस्थापको लगता था कि हमारे संचालक आज पागल होगये हैं। उन्होंने पूछा—'अब क्या किया जाय ? तीसरी घण्टी बजते ही विद्यार्थी भोजनके लिए आ बैठेंगे।'

इस बार सञ्चालकने स्वर कड़ा किया—'आप मुझसे बार-बार क्यों पूछते हैं ? आपका काम है कर्त्तव्यका पालन करना। तीसरी घण्टी ठीक समयपर बजवाइये !'

तीसरी घण्टी बजी और विद्यार्थी अपनी कुर्सियोंपर आकर भोजन करनेके लिए बैठने लगे। इसी समय संस्थाके मुख्य द्वारसे चार बग्घियोंने भीतर प्रवेश किया। उनके साथ आये एक सेवकने निवेदन किया—'मेरे

स्वामीने अमुक प्रधान व्यक्तिको पार्टी देनेका निमन्त्रण दिया था और उनके लिए बहुतसे पदार्थ बनवाये थे। उनका तार आगया कि वे आज नहीं आ सकेंगे। मेरे स्वामीने आज्ञा दी कि सब पदार्थ शीघ्रता पूर्वक आपके पास पहुँचा दिये जावें जिससे विद्यार्थियोंके इसी समय भोजनके उपयोगमें आजावें। कृपया आप इन्हें अपने विद्यार्थियोंको परोस देनेकी आज्ञा दें :

वह बग्घियोंमें आया नाना प्रकारका पकवान विद्यार्थियोंको परोस दिया गया; किन्तु उसी दिन संचालकने अपने आश्रम-व्यवस्थापकको यह कह कर आश्रमसे पृथक कर दिया कि—'जो एक समयके भोजनके लिए भी प्रभुपर भरोसा नहीं करता, उसके लिए इस आश्रममें स्थान नहीं है।'

विना किसी अनुष्ठानके केवल संकल्पसे अथवा केवल दृढ़ भगवद्विश्वाससे अर्थ-सिद्धि होती है—आपको भी हो सकती है। वैसे अर्थ-सिद्धि दिलाने वाले मन्त्रानुष्ठान एवं पाठ आदि बहुतसे हैं; किन्तु उनका विस्तार करना यहाँ शक्य नहीं है। व्यक्तिके अधिकार, परिस्थिति, योग्यताके अनुसार ही उनका उपयोग होता है। एक ही अनुष्ठान न सब कर सकते और न सबके लिए वह लाभप्रद ही हो सकता है। दूसरी बात यह कि ऐसे अनुष्ठान पूरी विधिके साथ हों तभी लाभप्रद होते हैं। विधिमें थोड़ी भी त्रुटि होनेपर वे फल नहीं देते। लेकिन दृढ़ सङ्कल्प अथवा भगवद्विश्वासमें कोई विधि-विधान आवश्यक नहीं है और इसके विफल होनेकी तो कोई सम्भावना ही नहीं है।

संकल्प द्वारा पदार्थ एवं प्राणि-निर्माण

यह सृष्टि सत्य नहीं है, प्रतीति-मात्र है यह तो वेदान्तका उद्घोष ही है। जब प्रतीति एक प्रकारकी है, तो दूसरे प्रकारकी भी हो सकती है और करायी जा सकती है। सिद्धान्त रूपमें यह बात समझमें आजाने-पर भी व्यावहारिक रूपमें ऐसा करनेके लिए अभ्यासकी आवश्यकता होती है।

सत्ता तीन प्रकारकी होती है—१. पारमार्थिक २. व्यावहारिक ३. प्रातिभासिक। इनमें पारमार्थिक सत्ता तो एक ही है। वह निर्गुण निराकार चेतन सत्ता है। व्यावहारिक सत्ता इस नाम-रूपात्मक जगतकी है। इसमें जो पदार्थ जैसा देखा जाता है उसके जैसे गुण हैं, उसके अनुसार उसका व्यवहार होता है। प्रातिभासिक सत्ता केवल प्रतीत होती है, उससे व्यवहार नहीं होता है- जैसे गलीचेमें शेर बनाया गया है या शेरकी मूर्ति बनी है। कोई अज्ञानी भले ही उस शेरको देखकर डर जावे; किन्तु वह शेर दहाड़ या किसीको मार नहीं सकता।

संकल्प द्वारा पारमार्थिक सत्तामें कोई परिवर्तन सम्भव नहीं है, क्योंकि संकल्पकी वहाँ गति नहीं! वह तो निःसंकल्प निर्विकार चित्स्वरूप सत्ता है। संकल्प द्वारा पदार्थ एवं प्राणियोंकी प्रातिभासिक सत्ता उपस्थित की जा सकती है अर्थात् न होनेपर भी उनकी प्रतीति करायी जा सकती है और प्रबल संकल्प द्वारा उनकी व्यावहारिक सत्ता भी निर्मित की जा सकती है अर्थात् पदार्थ या प्राणी वस्तुतः बना दिये जा सकते हैं।

इनमें पहिले प्रातिभासिक सत्ताकी उपस्थितिका अभ्यास करना चाहिये। आपने बाजीगरका खेल देखा होगा। बाजीगर अपने प्रबल संकल्पसे बहुतसी बातोंकी प्रतीति करा देता है।

अभ्यास

१. पहिले आप कोई बहुत सीधी वस्तु लें, एक पत्थरका टुकड़ा। उसे ध्यानसे देखें। स्मरण रखिये कि इसमें सूक्ष्म निरीक्षण ही मुख्य बात है। पत्थरकी आकृति रङ्ग, मोटाई, उसके प्रत्येक बिन्दु एवं रेखाओंको मनमें साफ-साफ बैठा लीजिये। अब पत्थरको सामनेसे हटा कर भावना द्वारा पहले स्थानपर या अपनी हथेलीपर पत्थरको देखनेकी चेष्टा

कीजिये। मानो पत्थर आपकी हथेलीपर रक्खा है और आप उसके रंग, आकार तथा बिन्दु-रेखादिको प्रत्यक्ष देख रहे हैं। प्रतिदिन एक घण्टे यह अभ्यास कीजिये। अन्तमें पत्थर आपको हथेलीपर दीखने लगेगा। तब आप किसी दूसरे व्यक्तिको दिखानेका प्रयत्न करें। स्वयं पत्थरको दृढ़ संकल्पसे हाथपर प्रत्यक्ष देंखते हुए भावना करें कि वह भी उसे वैसा ही देखे। थोड़े समय आप हर किसीको वह पत्थर दिखा सकेंगे।

२. जब पत्थर दिखानेमें सफल हो जाएँ तो कौड़ी लें। उसके रंग-रूप-रेखादिका निरीक्षण करें और फिर उसे हटाकर हथेलीपर कौड़ीको देखनेका प्रयत्न करें।

३. जब कौड़ी भी सबको दिखने लगे तो कोई पुष्प लें। पुष्पकी आकृति, रंग, पंखुड़ियोंकी एक-एक नस, सबके रंग, पंखुड़ियों आदिकी मोटाई, पुष्पकी गन्ध प्रभृति सबका सूक्ष्म निरीक्षण करें। जितना सूक्ष्म निरीक्षण करेंगे, उतनी शीघ्र सफलता होगी। पुष्पको हटाकर अब हथेली पर पुष्पको भावना द्वारा देखें। यदि मनमें पुष्पकी सम्पूर्ण आकृति सब सूक्ष्म विशेषताओंके साथ आगयी है तो हथेलीपर पुष्पको आप बहुत शीघ्र प्रत्यक्ष देखने लगेंगे और दूसरोंको दिखा सकेंगे।

पहले इकहरी पंखुड़ियोंके फूल, पीला कनैर, धतूरा, सदाबहार आदिसे अभ्यास प्रारम्भ करना चाहिए। इसके पश्चात् दुहरी पंखड़ी वाली और अन्तमें गेंदा, गुलाब, कमल आदि सघन दलके पुष्पोंपर अभ्यास करना चाहिए।

४. पुष्पके पश्चात् फलके सम्बन्धमें अभ्यास करें। बेर, अमरूद, आम जैसे फल लेकर निरीक्षण करें। उनका रंग, आकार, गन्ध बनावट, यहाँ तक कि उनके छिलकेपर दीखते रंग-बिरंगे बिन्दु, रेखाएँ आदि सबको पूरी बारीकीसे मनमें बिठा लें। इतनेसे ही आप स्वयं फलका दर्शन कर सकते हैं और दूसरोंको भी करा सकते हैं; किन्तु यदि आप उस फलका स्वाद भी ठीक-ठीक मनमें बैठाकर उस दीखते फलमें भावना कर सकें तो दूसरोंको वह फल चखा भी सकते हैं। अनार जैसे जो फल तोड़े जाते हैं, वे तोड़नेपर कैसे दीखगे, यह भावना स्पष्ट मनमें होनी चाहिए, तभी आप उनका आस्वादन करानेमें सफल होंगे।

५. एक साथ बहुतसे रखे फल, पुष्प, पत्ते या सिक्कोंका आकार मनमें बैठावें और उसे प्रत्यक्ष देखने एवं दिखानेका प्रयत्न करें।

६. जब अचल वस्तुओंको दिखा देनेका अभ्यास पक्का होजाय, तब सचल जीवोंको दिखानेका अभ्यास करें। पहिले खटमल, चींटी आदिके समान रोमहीन छोटे जीवोंका निरीक्षण करें और तब उन्हें हटा कर भावनाके द्वारा उनका प्रत्यक्षीकरण करें।

७. अब बिल्ली, कुत्ते के बच्चे जैसे जीव लें जो आपके पास रह सकें और आप उनका भली प्रकार निरीक्षण कर सकें। उनके अंग-प्रत्यंगकी बनावट, उनके रोम, रंग, कोमलता, नेत्र तथा शरीरकी चेष्टा आदि सबको भली प्रकार देखकर मनमें बैठा लें। अब उस प्राणीको दूर करके भावनाके द्वारा उसे सामने देखें। स्वयं देखनेमें सफल होनेपर दूसरोंको भी दिखा सकेंगे।

८. अब आप गाय, बैल, घोड़े, हाथी, मनुष्यके सम्बन्धमें अभ्यास कर सकते हैं। पक्षियोंके सम्बन्धमें सबसे पीछे अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि पक्षी निरीक्षणका अवसर कम देते हैं। बहुधा उनके रंग, आकार, पंखादिमें भी अत्यन्त सूक्ष्म विशेषता होती है और उनकी चेष्टा तथा स्वरको मनमें बैठा लेना अपेक्षाकृत कठिन होता है।

९. प्राणियोंकी चेष्टा, उनका स्वर, स्वभावादि जितनी स्पष्टतासे आप अपने मनमें अंकित कर सकेंगे, उतनी स्पष्टतासे उन प्राणियोंकी प्रतीति करा सकेंगे। बहुत प्रबल अभ्यास होनेपर एक दृष्टिसे उड़ते पक्षी या दौड़ते प्राणियोंको देखकर उनका स्वरूप आप मनमें अङ्कित करने लग जाएँगे और दर्शकोंको प्राणियोंकी पूरी भीड़ दिखा सकेंगे।

यह सब कुछ केवल इस बातपर निर्भर है कि आप कितना सूक्ष्म निरीक्षण कर सकते हैं और उसे कितनी पूर्णतासे स्मरण रख सकते हैं। फिर तो भावनाके द्वारा अपने पीछे या अपनेसे दूर भी आप लोगोंको प्राणियों एवं पदार्थोंको भली प्रकार दिखा सकेंगे।

यहाँ तक तो पदार्थ एवं प्राणियोंकी प्रतीति करा देनेकी बात हुई। यह इन्द्रजाल है। पदार्थ या प्राणी होते नहीं, उनकी दर्शकोंको केवल प्रतीति होती है। भले उन्हें उसके स्वाद एवं गन्धकी भी प्रतीत होती हो, लेकिन यहाँ पदार्थों एवं प्राणियोंकी प्रातिभासिक सत्तामात्र है। उनका व्यवहार नहीं किया जा सकता।

वास्तविक निर्माण

पदार्थ एवं प्राणी वास्तविक रूपमें भी बनाये जा सकते हैं। ठीक

वैसे ही बनाये जा सकते हैं, जैसे संसारके पदार्थ या प्राणी हैं। उनका सब व्यवहार वास्तविक ढंगसे होगा। वस्तुतः वे वास्तविक होंगे। वास्तविक पदार्थों या प्राणियोंके समान उनमें स्थायित्व होगा।

सच तो यह है कि सम्पूर्ण जगत अपने पदार्थों एवं प्राणियोंके साथ संकल्पज ही है। वह सृष्टिकर्त्ताके संकल्पसे प्रकट हुआ है। उसकी वास्तविक सत्ता है ही नहीं। लेकिन व्यक्तिके संकल्पकी वह रचना नहीं है। व्यक्तिका संकल्प न उसका निर्माण कर सकता और न उसमें परिवर्तन ही कर सकता है।

मनुष्यके व्यक्तित्वका अहंकार अज्ञान है—यह तो जिन्होंने कुछ भी सत्संग किया है, वे जानते हैं। परमार्थतः सत्ता तो एक ही है। अतः अहं चाहे व्यष्टि देहका हो या समष्टि देहका वह उस चिन्मय सत्तामें ही हो रहा है। इसलिए कोई भी व्यष्टि अपने व्यक्तित्व अहंकारका त्याग करके समष्टिके कर्त्तापनेका अहंकार करे तो समष्टिके कर्त्तासे वह एकत्व प्राप्त कर लेगा और तब सृष्टिकर्त्ताकी सम्पूर्ण शक्तिका उसमें आविर्भाव हो जायगा।

व्यष्टि देहमें नाभिस्थानपर शरीरके भीतर चक्रमें ब्रह्माका स्थान है। चतुर्मुख, चतुर्भुज, रक्तवर्ण सृष्टिकर्त्ताको उस नाभि चक्रमें पहले ध्यान करना चाहिए, स्थिर आसनपर बैठ कर खिले हुए षट्दलपद्मपर रक्तवर्ण स्वर्ण कान्ति सृष्टिकर्ताको बैठे देखना चाहिए। भावना प्रगाढ़ होनेपर भगवान् ब्रह्माका नाभि चक्रमें प्रत्यक्ष साक्षात्कार होगा।

साक्षात्कारके पश्चात् 'सोऽहं' का जप करता हुआ साधक अपनेको ब्रह्मामें लीन कर देता है। मैं ही यह हिरण्यगर्भ ब्रह्मा हूँ इस प्रकारकी भावना उसमें बनने लगती है। जब यह भावना दृढ़ हो जाती है, तब वह जो संकल्प करता है, वे पदार्थ एवं प्राणी प्रकट हो जाते हैं और संसारमें बने रहते हैं।

इस प्रकार सृष्टिकर्त्तासे एकत्त्वकी भावनामें जितने क्षण साधक स्थिर रहेगा, उतने क्षण वह किसी पदार्थ या प्राणीकी सृष्टि केवल संकल्पसे कर सकेगा अथवा किसी पदार्थ या प्राणीको- दूसरे पदार्थ या प्राणीके रूपमें बदल सकेगा। उस समय सृष्टि कर्त्तृत्वकी शक्ति उसके संकल्पमें होगी।

—×—

संकल्प-शैथिल्य

'ऋषि ही नहीं, साधारण गृहस्थ, राजा एवं वश्य-शूद्र तक पहिले शाप देते थे और वह शाप सत्य हो जाता था।' एक मित्रने शङ्काकी— 'खेलमें लगे लड़के तक शाप या वरदान दे सकते थे। आज-कल तो ऐसा कुछ देखनेमें नहीं आता। आज तो शाप या वरदान जिसका सत्य होता हो, वह कोई वहुत धर्मात्मा या तपस्वी ही हो सकता है।'

बात ठीक है। इसलिए ठीक है कि आजके मनुष्यका संकल्प निर्बीज हो चुका है—मर चुका है। उसके संकल्पमें अब वल नहीं रहा है। उसे अब अपने संकल्पको जीवित करने—सबल करनेके लिए कठिन साधनाकी आवश्यकता हो गयी है।

पहिले यह दशा थी कि अनेक लोगोंको पश्चात्ताप करना पड़ा है— 'अब तो बात मुखसे निकल गयी।' इसका अर्थ है कि भले असावधानीमें— प्रमादसे बात कही गयी हो, उसको पूरा करनेको वे अपनेको विवश मानते थे और वह पूरी होकर रहेगी, इसपर उनकी दृढ़ आस्था थी।

'६ वजे वाजार चलेंगे!' आज किसीने कहा। ६ बजे तैयार होकर उसके पास पहुँचे तो वही कहता है—'दस मिनट बैठिये! अभी तैयार हुआ जाता हूँ।'

आप उससे कहिये—'आपने तो ६ वजे चलनेको कहा था।'

वह कह देगा—'तो क्या हुआ? दस मिनटमें कहाँ ट्रेन छूटी जाती है।

अब जव वही व्यक्ति अपनी वातको, अपने संकल्पको महत्त्व नहीं देता है तो दूसरा कोई उसकी वातको महत्त्व देगा? जिसकी बातको उसका मित्र, उसका पुत्र, उसकी पत्नी, उसके सेवक ही महत्व नहीं देते, उसकी बातको प्रकृति अथवा ईश्वर महत्त्व देगा, इसकी आशा कैसे की जा सकती है।

प्रकृतिके नियम भी बदलते हैं—ईश्वर भी उसके संकल्पको महत्त्व देता है, जो अपने संकल्पको महत्त्व देता है और उसपर दृढ़ रहता है। जो

अपने साधारण संकल्पको भी छोड़ना चाहता, उसके संकल्प सबीज—सप्राण होते हैं।

'मुझे अमुकसे मिलने जाना है !' एक महात्माने एक दिन कहा। घोर वर्षा हो रही थी और उन्हें ज्वर था। पैदल जाना था पूरे दो मील। कोई सवारी नहीं। कच्चा रास्ता और बीचमें कई नाले। लोगोंने रोकनेका बहुत यत्न किया ; किन्तु वे बोले—'मैंने उसे वचन दिया है।'

वे महात्मा उठे और चढ़े ज्वरमें लठिया लेकर चल पड़े। दो फर्लाङ्ग गये होंगे कि वर्षा बन्द हो गयी। ज्वर बढ़ा नहीं। ऐसे दृढ़ संकल्पके सम्मुख प्रकृति झुकती है।

जब आप एक संकल्प करते हैं और उसे अपूर्ण छोड़ देते हैं तो संकल्प चाहे जितना छोटा हो, आपका मनोबल कुछ न कुछ घट जाता है। इस प्रकार छोटी-छोटी बातोंमें मनोबल घटता रहता है। फिर बड़े अवसरके आनेपर मनमें उसपर डटे रहनेके लिए बल ही नहीं होता।

आपने ६ बजे घूमने निकलनेका संकल्प किया है तो ५-५५ पर क्यों चल पड़े या ६-५ क्यों हो रहे हैं ? आपको क्या शीघ्रता आ पड़ी या ऐसा क्या काम आ गया कि उसे पूरा किये बिना चल नहीं सकते थे।

बात बहुत साधारण लगती है ; किन्तु बहुत अधिक महत्वकी है—आप अपने शब्दोंको, अपने संकल्पको पूरा-पूरा महत्त्व दीजिये। उसपर ठीक-ठीक स्थित रहिये। कुछ कष्ट, कुछ हानि उठानी पड़े तो भी स्थित रहिये। कुछ लोग बुरा मान जाएँ तो भी स्थित रहिये। इसका लाभ आपको व्यावहारिक जीवनमें और साधनमें भी प्रत्यक्ष प्राप्त होने लगेगा।

'क्या करें, मन नहीं लगता !' यह समस्या आज अधिकांश साधकोंकी है और इसलिए है कि मनमें संकल्प बल रह नहीं गया है। छोटी-छोटी बातोंमें संकल्प टूटता-बनता रहता है। कार्यक्रमोंमें मिनटोंका ही क्यों, घण्टोंका परिवर्तन भी कुछ महत्त्वका नहीं माना जाता। इस बुरे अभ्यासको छोड़िये।

आपको प्रातः चार या पाँच बजे उठना है तो उसी समय उठिये। ध्यान-भजन-पूजनके लिए ठीक समयपर, ठीक आसनपर, ठीक उपकरणोंके साथ बैठिये और पूरे समय बैठिये। काम चल जायगा, जैसी बात मनमें मत आने दीजिये। यदि आप सावधान रहेंगे और स्वयं अपने संकल्पका आदर करते रहेंगे तो प्रकृति भी उसका आदर करेगी। ॐ

भगवान और भगवत्प्रेम

भगवत्कृपाका स्वरूप

'त्रैवर्गिकायासविघातमस्मत्, पतिर्विधत्ते पुरुषस्य शक्र ।
ततोऽनुमेयो भगवत्प्रसादो, यो दुर्लभोऽकिञ्चन गोचरोऽन्यैः ।।

भागवतोत्तम वृत्रासुर इन्द्रसे कहता है—'इन्द्र ! अपने जनका अर्थ, धर्म और कामकी प्राप्तिका प्रयत्न मेरे स्वामी नष्ट कर दिया करते हैं । इससे भगवत्कृपाका अनुमान करना चाहिए । उन अकिञ्चन गोचर प्रभुके जो नहीं हैं, ऐसी कृपा उनको दुर्लभ है ।

स्वाभाविक रूपसे मनुष्यकी जहाँ महत्त्व बुद्धि है, जहाँ उसका राग है, उस क्षेत्रमें जब उसे अकल्पित.....कभी-कभी आशाके विपरीत सुरक्षा और सहायता मिलती है तो उसे वह भगवत्कृपा अनुभव करता हैं ।

श्रीमद्भागवतके ऊपर दिये श्लोकमें परमभागवत वृत्रने भगवत्कृपाके दो रूपोंका संकेत दिया है और बड़े दावेसे भगवान्‌को 'अस्मत्पति' अर्थात् 'मेरे अपने स्वामी' कहा है । वृत्रका तात्पर्य है—'भगवान् मेरे अपने स्वामी हैं । मैं उनका स्वभाव जानता हूँ—ठीक-ठीक जानता हूँ ।'

सामान्य संसारी व्यक्तिपर भगवत्कृपाका अनुभव एक रूपमें उतरता है । उसे रोग या शत्रुसे अथवा किसी दुर्घटनासे सुरक्षा अकस्मात् मिलती है । कहीं कोई अकल्पित आर्थिक सहायता या अनुमान न हो सके ऐसी सुख-सुविधा उपलब्ध हो जाती है ।

सबपर भगवत्कृपा

गीता बगीचीमें प्रातःकालीन सत्सङ्गका समय था । उस दिन स्वामी रामसुखदासजीको बोलना था । उन्होंने श्रोताओंसे पूछा—'क्या सुनाऊँ ?'

लोगोंने कहा—'अपने अनुभवकी कोई बात सुनाइये !'

'मेरा कोई विलक्षण अनुभव नहीं है'—स्वामी रामसुखदासजीने बड़ी नम्रतासे यह कहा । लेकिन श्रोता आग्रह कर रहे थे । सत्सङ्गका समय कुल डेढ़ घण्टा था कीर्तन सहित । वह बीता जा रहा था । मुझसे नहीं रहा गया तो मैंने आज्ञा माँग कर कहा—'मेरा विश्वास है और मैंने किसी सन्तसे सुना भी है कि आस्तिक-नास्तिक, पापी-पुण्यात्मा ऐसा कोई वयस्क मनुष्य

संसारमें न कभी हुआ, न है, न होगा, जिसे जीवनमें एक-दो बार ऐसा न लगा हो कि उसे यह कोई अदृश्य शक्तिकी सहायता मिली है । पीछे भले उसे वह भूल जाय या संयोग (बाईचान्स) कहकर टाल दे ; किन्तु उस समय तो उसे लगा अवश्य कि यह सहायता किसी अदृश्य शक्तिकी प्रेरणासे आयी है ।'

अपनी बात समाप्त करते हुए मैंने कहा—'आप कहते हैं कि आपको कोई अनुभव नहीं है । मैं कहता हूँ कि यहाँ जितने लोग बैठे हैं, सबके पास भगवत्कृपाके अनुभव हैं । अब मैं सच हूँ या नहीं, यह आप निर्णय कर दें ।'

स्वामी श्रीरामसुखदासजीने स्वीकार किया कि मेरी बात ठीक है । उन्होंने जानबूझ कर दो एक बहुत साधारण अनुभव अपने सुनाये, क्योंकि वे अपनी विनम्रताके कारण बहुत संकुचित हो रहे थे ।

भगवान् अपार कृपा पारावार हैं । उनकी अनन्त असीम कृपा प्रत्येक क्षण, प्रत्येक प्राणीपर अहर्निश बरस रही है । हम सब उसी कृपा सागरमें उन्मज्जित-निमज्जित हो रहे हैं । भगवान्की कृपा कभी किसीपर होगी, ऐसी कोई बात नहीं है । कृपा तो रात-दिन है ।

'माताका प्रेम अपने इकलौते नवजात बच्चेपर कब उतरेगा ?'—ऐसा प्रश्न कोई आपसे करेगा तो आप उसे पागल समझोगे या नहीं ? माताका वात्सल्य तो उस शिशुपर असीम, अनन्त रात-दिन है ही । प्रश्न यह है कि बच्चा उसे अनुभव कब करेगा ?

बच्चेको जब भूख लगती है, कहीं गिरकर चोट लगती है या गिरनेपर उठानेकी आवश्यकता होती है, कहीं उसे भय लगता है तो अनेक बार उसके पुकारे बिना ही और कभी-कभी रोने पुकारनेपर माँ उसकी सहायता करने आ जाती है । बच्चा उस समय समझता है कि उसपर माँका प्रेम उतरा ।

हम आप भी अबोध बच्चे हैं । निरन्तर जिसकी कृपामें श्वास ले रहे हैं, जिसकी कृपासे जी रहे हैं, उसके सम्बन्धमें कहते हैं—'हमपर भगवान्की कृपा कब होगी ?'

जब कोई अभाव या सङ्कट हमपर आ पड़ता है और उसे पूरा करना या टालना हमारे वशमें नहीं होता तो हमपर सदा स्नेह दृष्टि रखने वाला सर्वज्ञ, सर्व-समर्थ कभी बिना पुकारे बुलाये ही और कभी-कभी पुकारने-बुलाने पर सहायता करने आ जाता है । हमें तब अनुभव होता है कि यह भगवत्कृपा हमपर हुई ।

भगवत्कृपाका अनुभव कब

बच्चा खा-पीकर खेलनेमें लगा है तो उसे माताकी कृपाका कोई अनुभव होगा ?

अपनी सम्पूर्ण व्यवस्था करके, जीवनकी सब आवश्यक सुविधाएँ जुटाकर आप घरमें सुरक्षित बैठे है या सीट सुरक्षित करके, होटलोंमें कमरे पहिलेसे सुरक्षित कराके आप कहीं यात्रा करते हैं तो क्या अवसर है कि आपको भगवत्कृपाका अनुभव हो ? फिर तो कोई आकस्मिक दुर्घटना, कोई रोग, शत्रु या ऐसा ही कोई सङ्कट जो आपकी सावधानीको बचाकर आ टपके और आपके साधनोंके वशका न हो, आपको भगवदीय सहायताका अनुभव करा पाता है।

आप अपने पूरे प्रयत्नसे, सब साधन, शक्ति और बुद्धि लगाकर ऐसे अवसर जीवनमें न आवें, इसमें लगे हैं । फलतः जीवनमें बहुत ही कम अवसर आपको भगवत्कृपानुभवके प्राप्त होते हैं।

जो दुर्गम पर्वतों, ध्रुवीय हिम प्रदेशों, अतल सागरों और गहन अन्तरिक्षकी यात्रा करते हैं, जो साहसिक कार्योंमें उत्साह रखते हैं, वे भले नास्तिक हों, उन्हें एक आश्रममें सुरक्षित रहकर साधन करने वालेकी अपेक्षा भगवत्कृपाके अनुभव कहीं अधिक होते हैं।

जो अनाश्रित हैं, परिव्राजक हैं, अपरिग्रही हैं, उनके जीवनमें तो भगवत्कृपाके अनुभवोंकी राशि होती है । मैं अपनी ही बात करूँ तो जीवनकी सुरक्षा तथा छोटी-बड़ी सुविधाओंके जुटाते रहनेके इतने अवसर आये हैं, आते रहते हैं कि उनमें अधिकांश स्मरण ही नहीं हैं। जो स्मरण हैं, उनको लिखने बैठूँ तो एक बहुत बड़ा पोथा बनेगा।

सच बात यह है कि मेरे लिये अब यह अकस्मात् होने वाली, चौंकाने वाली बात नहीं रही है। मुझे सन्देह नहीं है कि कन्हाई मेरा अपना है और तब वह मेरी व्यवस्थाके प्रति सावधान रहता है तो अद्भुत क्या है ? मैं आपमें-से किसीके घर सूचना देकर आऊँ तो आप मेरे ठहरने, भोजन आदिकी व्यवस्था करोगे, इसमें क्या कोई ऐसी बात है जो स्मरण रखने या चौंकने योग्य हो ? मेरे अव्यवस्थित, एकाकी जीवनने सिखा दिया है कि तेरी व्यवस्था—रक्षाका दायित्व तेरे कन्हाईके हाथमें है। अतः वह अब कृपा नहीं, स्वत्व बन गया है। उसकी चर्चाका कुछ अर्थ नहीं है।

विशेष भगवत्कृपा

वृत्रने दो प्रकारकी भगवत्कृपाका संकेत दिया है। एक कृपा तो सबपर सामान्य रूपसे है। जो जब सङ्कटमें पड़ता है, उसे यह मिल जाती है। अधिकांश इसी कृपाको लोग भगवत्कृपा समझते—कहते हैं। दूसरी विशेष कृपा सर्वसामान्यके लिए दुर्लभ है। वे अकिञ्चन गोचर प्रभु सबपर यह विशेष कृपा करते भी नहीं हैं; अतः आपके डरनेका कोई कारण नहीं। जिसे वे अपना स्वीकार कर लेते हैं, केवल उसीपर अपनी विशेष कृपा करते हैं। उनकी विशेष कृपाको कृपा देखने-समझने वाले महाभाग भी संसारमें थोड़े ही होते हैं।

भगवान्‌की विशेष कृपा क्या है ? यह कि उनका अपना जन जब अर्थोपार्जन, कीर्ति-पद-प्रतिष्ठा या भोग एकत्र करनेमें लगता है तो उसके ऐसे सब प्रयत्न वे नष्ट कर देते हैं।

बात कम समझमें आती है ? तनिक सोचिये ! प्रभु संसारके वन्धन द—बन्धनोंमें जकड़ें तो कृपा या बन्धनोंसे मुक्त करें तो कृपा ? धन-भवन पत्नी-पुत्र, पद-प्रतिष्ठादि रागके बन्धन हैं या नहीं ? बन्धन कटें भी नहीं और आप मुक्त भी हो जाएँ—सम्भव है ?

मुझपर ऐसी विशेष कृपा-दृष्टि मेरे कन्हाईकी जन्मसे रही है और उसकी यह कृपा भूल जाऊँ तो मैं कृतघ्न होऊँगा।

१. बारह-तेरह वर्षका था तब पिताजी मरे। माताजी एक वर्ष पूर्व विदा हो गयी थीं। छोटे भाईका भार भी मुझपर पड़ा। घर गरीब था—यह भी आप ठीक नहीं समझ सकोगे। घर था ही नहीं भी कह सकते हैं। यह प्रथम कृपा थी। बन्धन दिये ही नहीं; बन्धन बनते इससे पहिले ही वे उठा लिये गये।

२. दूसरी महती कृपा—बड़े प्रभावशाली एक सम्बन्धी थे। उच्चपदपर थे। एक हाईस्कूलके सर्वेसर्वा थे। बचपनमें वे मेरे घर रहकर पले-पढ़े थे। उनके पास गया—'फीस माफ करा दो आप, तो अँग्रेजी पढ़लूँ।' उन्होंने टकेसा जवाब दे दिया। शिक्षा अवरुद्ध हो गयी। अब सोचता हूँ—पढ़ाई चली होती तो तेरे बन्धन कितने बढ़ते—तू अब सोच भी नहीं पावेगा।

३. तीन बार अवसर आये—बुद्धि डोली और विवाहकी बात प्रायः पक्की हो गयी। तीनों बार वह ऐसे कटी कि पूछो मत।

४. साहित्य-राजनीतिके क्षेत्रमें कई पुस्तकें लिखीं। लगता है, वे छपतीं तो महत्ता देतीं। आप विश्वास करोगे—कि उन सबकी पांडुलिपियाँ खो जाती रही हैं?

केवल इसलिए ये उदाहरण हैं कि विशेष भगवत्कृपाका रूप कैसा होता है, यह आपके ध्यानमें कुछ आजाय।

—×—

भगवदवतारोंके भेद

भगवान्‌के अवतार कितने प्रकारके होते हैं? यह जाननेसे पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि अवतार किसे कहते हैं। क्योंकि आज समय है कि देशमें बहुतसे लोग अपनेको अवतार बतलाते हैं। कुछ स्वयं अपनेको अवतार कहते हैं और कुछके शिष्य उनको अवतार घोषित करते हैं।

सफेद बाल, सड़े दाँत, पिचके गाल, रोगी देह लोगोंको भी अवतार कहा जाता है और सुन्दर, स्वस्थ, सबल, सजे-बजे हुए, तब तो कहना ही क्या; किन्तु ऐसे सब अवतारोंसे सभीको सावधान ही रहना चाहिए। ऐसे अवतार आपके धनका और महिलाओंके सतीत्वका ऐसा उद्धार करेंगे कि पूछिये मत। जन्म-मृत्युके चक्रसे उद्धार तो उनका स्वयं नहीं—अनुगतोंका वे क्या करेंगे।

बड़ी सीधी कसौटी शास्त्रोंने अवतारकी बतायी है। भगवान्‌का अवतार शरीर पाञ्चभौतिक नहीं होता और वह जन्म-मृत्युसे परे रहता है। लेकिन भ्रम होना सम्भव है; क्योंकि भगवानका शरीर भी पाँच-भौतिक शरीर जैसा ही प्रतीत होता है। उसकी चिन्मयता सर्व साधारण जान नहीं पाते। जन्म-मृत्युका नर नाट्य भी उसमें देखा जाता है। अतः बहुत सीधे, सरल लक्षण स्मरण रखिये—

१—भगवान्‌के अवतार देहमें रोग नहीं होते। अतएव जिसे रोग हों और औषधि आवश्यक हो, उसे भूल कर भी अवतार मत कहिये।

२—भगवान्‌के अवतार देहमें युद्धादिके समय शस्त्र लगनेपर रक्त तो दीखता है; किन्तु न बाण निकालने पड़ते, न मरहमपट्टी आवश्यक होती। दो क्षण बाद वह शरीर स्वतः स्वस्थ दीखता है। उस दिव्य देहपर कोई चोट, कोई घाव चिह्न छोड़नेकी शक्ति नहीं रखता।

३—भगवान्‌का अवतार शरीर शिशुकी अवस्थासे किशोरावस्था तकका ही रहता है। उसके पश्चात् उसमें नित्य कैशोर बना रहता है। उनमें न मूँछ आती, न दाढ़ी और न बाल पकते। किशोरावस्थाकी सुकुमारता उसमें सदा बनी रहती है।

ये तीनों लक्षण मनुष्यमें सम्भव नहीं हैं। अतएव इन तीनों लक्षणोंको स्मरण रखनेवाला धोखेमें नहीं पड़ेगा।

मनुष्य महात्मा हो सकता है, किन्तु हड्डी, मांस, रक्त, चमड़े आदिसे बना पांचभौतिक शरीर अवतार देह नहीं हो सकता। महापुरुषको महापुरुष मान कर उसकी पूजा, उसका सम्मान तथा उसका ध्यान भी आप करें तो आध्यात्मिक लाभ सम्भव है; किन्तु उसे अवतार घोषित करनेपर अनेक अनर्थोंके विस्तारकी सम्भावना रहती है।

भगवानके स्वरूपोंके वर्णन जहाँ शास्त्रोंमें हैं, वहाँ उनके १. पर, २. व्यूह, ३. विभव, ४. अन्तर्यामी, ५. अर्चा, ६. आचार्य—ये ६ भेद बताये गये हैं।

१. **पर**—अपने दिव्यधाम वैकुण्ठ, साकेत, गोलोक, शिवलोक आदिमें भगवानका जो शाश्वत सच्चिदानन्दघन स्वरूप है, वह भगवानका पर-स्वरूप है।

२. **व्यूह**—भगवद्धाममें उनके जो नित्य अभिन्न रूप हैं, वे व्यूह कहे जाते हैं। जैसे वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और संकषर्ण अथवा श्रीरामके साथ भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न। श्रीराधा, सीता, उमा आदि शक्तियाँ भी भगवानसे नित्य अभिन्न होनेसे व्यूह ही हैं।

३. **विभव**—मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंहादि अवतार रूप भगवानके विभव रूप कहे जाते हैं।

४. **अन्तर्यामी**—प्रत्येक प्राणीके हृदयमें वे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान विराजमान हैं। 'द्वासुपर्णा सयुजा सखायो' आदि श्रुतियाँ जीवके साथ उस हृदयस्थ प्रभुका ही वर्णन करती हैं। भगवानका यह हृदयस्थ रूप अन्तर्यामी कहा जाता है।

५. **अर्चा**—जिस प्रतिमाकी आप पूजा करते हैं अथवा जो प्रतिमा मन्दिरमें स्थापित है, वह चित्र हो या पाषाण, धातु, काष्ठादि निर्मित; किन्तु वह जड़ नहीं। वे साक्षात् भगवान हैं।

६. **आचार्य** - इसी प्रकार गुरुदेव सामान्य मनुष्य नहीं हैं। वे साक्षात् भगवान-ही हैं।

शास्त्रकारोंने कहा है कि भगवन्मूर्तिमें जड़ भाव, भगवत्प्रसादमें भोज्य पदार्थ भाव तथा गुरुदेवमें मनुष्य भाव नरक ले जानेका हेतु बनता है।

अवतार—इन सबमें-से अवतारोंपर यहाँ विचार करना है। अवतार-के कई भेद शास्त्रोंने माने हैं। १. पूर्णावतार, २. अंशावतार, ३. कलावतार, ४ युगावतार, ५. अनुकम्पावतार, ६. आवेशावतार, ७. अर्चावतार।

पूर्णावतार—गोलोक, साकेत, वैकुण्ठ या शिवलोकके स्वामी परात्पर पुरुष जब स्वयं पृथ्वीपर पधारें—प्राणियोंके ऊपर कृपा करके जब वे धरा-पर अपने नित्य स्वरूपको व्यक्त करे तो उनका यह अवतार पूर्णावतार कहा जाता है। श्रीराम, श्रीकृष्ण ये दोनों ही पूर्णावतार हैं।

अंशावतार—पूर्णावतारके समय और पृथक भी भगवान्के अंगोंसे उनके व्यूहोंके अवतार होते हैं।

'अंसन्ह सहित मनुज अवतारा।'

श्रीरामावतारके समय भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न तथा कृष्णावतारके समय बलरामजी प्रद्युम्न अनिरुद्ध ये अंशावतार ही माने जाते हैं।

कलावतार—जितने कारक पुरुष हैं-सृष्टिके विभिन्न कार्योंके संरक्षण-के लिए जो कल्पान्त तक रहते हैं, वे सब भगवानके कलावतार हैं।

"ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महोजसः।
कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्तथा॥

—भागवत १।३।२७

युगावतार—प्रत्येक युगमें भगवानका कोई न कोई अवतार होता है। किस युगमें कौनसा अवतार होता है, इसका शास्त्रोंमें व्यापक वर्णन पाया जाता है।

मत्स्य, कूर्म, वाराह, वामन, परशुराम, व्यास, बुद्ध, कल्कि आदि दशावतारोंके अवतार तथा हंस, यज्ञ, नारद, प्रभृति चौबीस अवतारोंके अवतार माने गये हैं। लेकिन दशावतारोंमें ध्रुवके लिए, गजेन्द्रके लिए जो अवतार हुए वे युगावतार नहीं हैं, वे अनुकम्पावतार हैं।

अनुकम्पावतार—जब भगवानके प्रगट होनेका प्रयोजन संसारमें किसी व्यापक अधर्मका निवारण, धर्मकी स्थापना, सुर एवं सन्तोंकी रक्षा नहीं होती और वे किसी एक भक्तकी आराधनासे सन्तुष्ट होकर उसे दर्शन देने या उसकी आर्त पुकार सुनकर विपत्ति दूर करने प्रगट होते हैं तो उसे अनुकम्पावतार कहा जाता है।

ध्रुवके लिए, गजेन्द्रके लिए अनुकम्पावतार हुआ। जिन भक्तोंको भगवदर्शन हुए—सबके लिए यह अवतार हुआ। यह अवतार कब, कहाँ होगा—कोई सीमा नहीं। इस प्रकारका अवतार तो होता ही रहता है। जब कोई प्रेम-प्राण दर्शनके लिए छटपटाता है—भगवान प्रकट हुए बिना रह कैसे सकते हैं।

आवेशावतार—अनेक बार किसी वस्तु या व्यक्तिमें ही भगवानका आवेश हो जाता है। सर्व व्यापक भगवत् सत्ता उस वस्तु या व्यक्तिमें ही अपनेको व्यक्त कर देती है। ऐसी अवस्थामें आवेश रहनेके समय तक उस वस्तु या व्यक्तिमें भगवानकी अनन्त दिव्य शक्तियोंका आविर्भाव हो जाता है।

कौरवोंकी द्यूत सभामें जब दुःशासनने द्रौपदीको नंगी करनेके लिए उसकी साड़ी खींचना प्रारम्भ किया और द्रौपदीने अपनेको असहाय पाकर श्रीकृष्णको पुकारा तो उसकी साड़ीमें ही भगवानका आवेशावतार हो गया। अनन्त हो गयी उसकी साड़ी और खींचते-खींचते थक गया दुःशासन।

श्रीचैतन्य महाप्रभुमें भगवदावेशका वर्णन हम प्रायः पढ़ते हैं। अन्य भी कई महापुरुषोंमें इस प्रकारके आवेशकी बात सुनी जाती है।

अर्चावतार—अत्यन्त भावुक, निश्छल भक्त जिस श्रीमूर्तिकी पूजा करता है, वह मूर्ति चेतन होकर उसके साथ बोलने, चलने, हँसने-खेलने लगती है। मूर्तिमें इस प्रकार भगवानके आविर्भावको अर्चावतार कहते हैं।

नामदेवके आग्रहपर भगवानने मूर्तिमें व्यक्त होकर दूध पिया था। इस प्रकारकी कथाएँ बहुतसे भक्तोंके सम्बन्धमें आती हैं। श्रीनाथजी तो

केवल महाप्रभु वल्लभाचार्यसे ही नहीं, दूसरे भी अपने अन्तरंग प्रियजनोंसे बोलते-हँसते थे। श्रीबाँकेविहारीजी, श्रीराधाबल्लभजी (वृन्दावन) श्रीकनक-भवन विहारीजी (अयोध्या) श्रीजगन्नाथजी (पुरी) श्रीपाण्डुरंग (पण्ढरपुर) तथा ऐसे और भी शतशः श्रीविग्रह हैं जिनमें अनेक बार अर्चावतार हुआ। साक्षीगोपालजी वृन्दावनसे चलकर उत्कल पहुँचे यह प्रसिद्ध ही है।

———

भौतिक प्रेम एवं दिव्य प्रेम

आरम्भमें ही यह बात स्पष्ट कर देनी है कि बात केवल प्रेमकी करनी है, वासना या मोहकी नहीं।

"कैतव रहितं प्रेम नहि भवति मानुषे लोके।"

यह बात तथ्य नहीं है। यह तो प्रेमकी अटपटी बोली है। अपने प्रेम-को सदा ही प्रेमी अपूर्ण और दोषपूर्ण मानता है। उसे अनुभव ही नहीं होता कि उसमें प्रेम है भी। इस बातका प्रमाण इसी श्लोकका उत्तरार्ध है :--

"यदि भवति कस्य विरहो, विरहे सत्यपि को जीवति।"

यह तो प्रेमीकी अनुभूति है कि प्रेष्ठके विरहमें वह जीवित है, इसका अर्थ ही है कि उसमें प्रेमका लेश भी नहीं है। यह अनुभूति उलटे उसके प्रेमका उत्कर्ष सूचित करती है।

लोकमें प्रेम होता है। न होता हो तो फिर प्रेमकी चर्चा ही क्यों की जाय। प्रेम होता है और वह भौतिक रूपमें तथा दिव्य-भगवत्प्रेमके रूपमें, इन दोनों रूपोंमें ही होता है।

मातामें पुत्रके प्रति जो वात्सल्य होता है, उसमें प्रायः मोह और भविष्यमें पुत्रसे सुख-सम्माम सेवा-प्राप्तिकी कामना भी होती है; किन्तु सर्वत्र यही बात नहीं होती। पुत्रसे सचमुच प्रेम करने वाली माताएँ भी हुई हैं और कुछ न कुछ है। पुत्रका हित, पुत्रका उत्कर्ष, पुत्रका परमश्रेय ही उनकी दृष्टिमें रहता है।

इसी प्रकार जो अनुरागमयी पत्नियाँ हैं—कर्कशा एवं प्रतिकूल स्वभाव वालियोंकी चर्चा व्यर्थ है, पुरुष जिन्हें सर्वथा अपनेमें एक समझता है, उनमें भी बहुत अधिक अपने सुख, अपनी सुविधा, अपनी प्रियताके कारण ही अनुकूला हैं। सर्वथा विपरीत अवस्थामें—अर्थात् पति दरिद्र हो जाय, कुष्ठादि जैसे किसी भयंकर रोगका रोगी हो जाय, क्रोधीहो जाय—क्या व्यवहार रहेगा उन स्त्रियोंका कहना कठिन है; किन्तु पतिप्राणा पतिव्रताएँ भारतमें घर-घर हुई हैं—रही हैं और इस गये-गुजरे युगमें भी उनका नितान्त अभाव नहीं हो गया है।

इसी प्रकार सच्चा भ्रातृप्रेम, सच्ची मैत्री, सच्ची स्वामिभक्ति भी लोकमें पाई भी जाती है। ये सब भौतिक प्रेमके उदाहरण हैं। भौतिक प्रेमका अर्थ ही है कि किसी इसी लोकके व्यक्तिसे, इसी जगतके किसी सम्बन्धसे हमारा अनुराग है और वह राग सच्चा है। उसमें स्वार्थकी कोई गन्ध नहीं। उसमें प्रेष्ठके भी परमहितकी ही जागरूकता है। उसकी चाटुकारी या उसकी मानसिक तृप्तिका प्रयत्न वहीं तक, जहाँ तक वह उसे पतनकी ओर न ले जाय।

इस प्रकारका भौतिक प्रेम भी परम पवित्र है। किसी भी तप,साधन या भोगसे उसका महत्व कम नहीं है। प्रेम भले भौतिक हो, वह सदा भगवती भागीरथीके समान शुद्ध है। वह जिस हृदयमें आया, वह लोक वन्दनीय हो गया और अपने प्रेमास्पदको भी उसने पवित्र कर दिया।

पतिव्रताओंकी महिमा शास्त्रोंमें भरी पड़ी है। सेवकोंकी सच्ची स्वामि-भक्ति जहाँ, जिस समाजमें मिली—गौरवान्वित हो गया वह पूरा समाज। सच्चे प्रेमका गौरव सदा संसारने माना—माननेको नित्य विवश है।

प्रेमोपासकोंका एक सम्प्रदाय है सूफी मत और उसका कहना है कि 'लौकिक प्रेमके बिना ईश्वरीय प्रेम हुआ नहीं करता। लोकमें किसीके प्रति जिसने ठीक प्रेम करना नहीं सीखा, परमात्मासे वह कैसे प्रेम कर सकता है।' अतः इस समुदायका बहुत अधिक बल है पहिले लोकमें किसीसे जी हां, किसीसे भी प्रेम करना चाहिए और जब वह प्रेम सचमुच आपको पागल बना दे, तब आप समझिये कि आप भगवत्प्रेमके अधिकारी हुए। ऐसी अवस्थामें अवश्य कोई पहुँचे हुए महापुरुष आपको मिल जायेंगे और आपकी हृदयधाराको वे लौकिक आधारसे भगवत्प्रेममें मोड़ देंगे।

अन्ततः प्रेमकी धाराको मोड़नेकी आवश्यकता ? यह आवश्यकता मैं अन्यत्र स्पष्ट कर चुका हूँ। परिछिन्न व्यक्तित्वसे प्रेम होगा तो जब तक आपका प्रेम उस प्रेष्ठको भी पविश्र करके मोक्षका अधिकारी न बना दे, आपको उसके साथ ही रहना होगा। इसमें एक और अनेक जन्म भी लग सकते हैं। लेकिन यदि प्रेमास्पद परमात्मा हो जाता है, आपका प्रेम उसीके समीप तो ले जायगा आपको और तब आप ऐसे अनन्त शक्ति केन्द्रसे एक हो जाते हैं कि आपका सम्बन्ध तो बड़ी बात, आपका स्मरणकर्ताको पवित्र करनेवाला हो जायगा।

लेकिन मुझे इस प्रेमियोंके समुदायकी यह बात स्वीकार नहीं है कि लौकिक प्रेम किये बिना भगवत्प्रेम होता ही नहीं। इस समुदायका मुख्य तर्क है कि हृदयमें प्रेमांकुर उत्पन्न होनेके लिए कोई प्रत्यक्ष व्यक्ति होना चाहिए। परमात्माको हमने देखा तो है नहीं, अतः उससे प्रेम प्रारम्भ नहीं हो सकता।

यह तर्क बहुत तथ्यपूर्ण नहीं है। पहिले तो ऐसा होता ही था, अब भी अधिकांश घरोंमें होता है कि माता-पिता योग्य वर देखकर लड़कीकी सगाईकर देते हैं। कन्याने उस वरको देखा नहीं, उसका फोटो भी न देखा हो, यह भी हो सकता है; किन्तु उस सुने हुए व्यक्तिमें उसका चित्त लग जाता है या नहीं ? परमात्माको हमने देखा नहीं है, यह ठीक है; किन्तु उसके गुण, उसका माहात्म्य और जो साकार ईश्वर मानते हैं, उन्होंने उसके चरित और रूपका वर्णन भी सुना ही है। इस सुने हुए ईश्वरमें श्रद्धा करके उससे प्रेम करना है और ऐसा हो सकता है। अब आप कहें कि यह कठिन है तो भाई! प्रेम सरल कब रहा है। लोकमें ही किसीसे सच्चा प्रेम कर लेना सरल लगता है आपको तो कर देखिये।

"प्रेम न बाड़ी उपजै, प्रेम न हाट बिकाय।"

यह तो वह सौदा है, जिसके लिए कहा गया है—

"सीस उतारै भुइं धरै, तापर राखै पायँ।"

अतएव सरलताकी बात मैं नहीं करता। जिसके हृदयमें प्रेम करनेकी क्षमता है, वह लौकिक आधारमें भी प्रेम कर सकता है और सुने हुए ईश्वर-से भी प्रेम कर सकता है।

आप किसी लकड़ीको पत्थरपर रगड़ने लगें तो अन्ततः अग्नि उससे भी निकल ही सकती है; किन्तु माचिस घिसनेमें कितनी शीघ्रतासे अग्नि प्रकट होती है, आप जानते हैं। आप एक लौकिक व्यक्तिसे प्रेम करते हैं। वह व्यक्ति कितना शुद्ध—श्रेयोन्मुख है, इसपर निर्भर है कि आपका प्रेम आपके और उसके मायाके बन्धन कब तक समाप्त कर सकेगा। आपका प्रेमास्पद जितना ही भोगासक्त, विषयी, लोक निरत व्यक्ति होगा, उतनी ही देर लगेगी आपको। यहाँ आपके प्रेमको ही सब कुछ करना है और उसीकी शक्तिपर सब कुछ निर्भर है।

जब आप भगवानसे प्रेम करते हैं, स्थिति सर्वथा दूसरी हो जाती है। यहाँ प्रेमास्पद तो शुद्ध-स्वरूप है। आपका प्रेम आपको उस शक्ति केन्द्रसे सम्बन्धित कर देता है, जहाँसे अनन्त पावनताका प्रवाह आपकी ओर उमड़ पड़ता है। आपका प्रयत्न अल्प भी है तो भी वह प्रेमास्पदके प्रभावसे अनन्त हो जाता है और आपकी शुद्धिमें विलम्ब नहीं होता।

बात यों समझने योग्य है कि आपके पास प्रेम रूपी प्रकाशकी एक छोटी मोमबत्ती है। आप लौकिक व्यक्तिसे प्रेम करते हैं तो अवस्था यह भी हो सकती है कि वह इतना शुद्ध हो जैसे दूसरी मोमबत्ती जलाना और इतना मलिन भी होसकता है जैसे लोहेकी छड़। प्रेम क्योंकि अविनाशी है, आपकी मोमबत्ती तभी पिघलेगी, जब वह छड़ भी पिघलने लगे; किन्तु छड़ तो छड़ है लोहेकी। वह तो गरम होगी धीरे-धीरे और तब पिघलेगी। दूसरी ओर यदि आप भगवानसे प्रेम करते हैं तो क्या स्थिति होती है? तब ऐसी अवस्था होती है जैसे मोमबत्तीको आपने किसी अत्यन्त प्रचण्ड ज्वालामुखीके मुखपर धर दिया। कितने पल लगेंगे उसे पिघलनेमें? वह प्रकाश स्वरूप उसे अपनेसे एक करले, इसमें कोई श्रम होता है?

मैं इसलिए इस पक्षमें हूँ कि प्रेम दिव्य ही होना चाहिए। भौतिक प्रेममें एक भय और है। सम्भव है कि वासनाने आपको ठग लिया हो। आपने कामको या मोहको अथवा सम्मानके लोभको ही प्रेम समझ लिया है क्योंकि भौतिक प्रेम एवं वासनाके सूक्ष्म अन्तरको पकड़ लेना बड़ा कठिन है। नारी सचमुच पतिव्रता है, पतिप्राणा है या पतिसे जो सुख-सुविधा एवं सम्मान मिल रहा है, उसीकी वासना प्रेम बनी बैठी है, कैसे पता लगे? जब तक पति रोग, अयश, दारिद्र्य आदिका आखेट हो—लेकिन न ऐसी

स्थिति अभीष्ट हो सकती और यदि उस समय पता लगे कि प्रीति घट गयी, तब ?

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

गीता १६-२१

लौकिक प्रेममें इनसे बचे रहना कितना कठिन है। यह बहुत अधिक सम्भव है कि वासना ही प्रेम प्रतीत हो और तब वासना तो ले जायगी पतनकी ओर ।

दिव्य-प्रम भगवत्प्रेममें ऐसी कोई आशंका नहीं। अच्छा आपका प्रेम सच्चा नहीं है। भगवानसे आपने स्वार्थवश-सकाम प्रेम ही किया है। वह प्रेम नहीं—वासना ही है। कोई भयकी बात यहाँ नहीं है। आपमें वासना सही, भगवान तो प्रेम स्वरूप हैं। उन प्रकाश स्वरूपके सम्मुख अन्धकार रूपी वासना जीवित रहेगी ? उसे प्रेम बनना पड़ेगा। उनसे सम्बन्धित होकर—किसी भी प्रकार उनसे सम्बन्ध करके किसीका कभी पतन शक्य नहीं, आपने मोमबत्तीके धोखे सफेद पत्थर हाथमें ले रखा है तो भी हानि क्या है ? आप उसे ज्वालामुखीके मुखपर रखिये—वह भी पिघल कर प्रकाश रूप हो जायगा।

दिव्य-प्रेम इसलिए सर्वथा निरापद है। सर्वथा मंगलमय है और सर्वथा वांछनीय है सबके ही लिए। जीवके श्रेयका सर्वसुगम साधन यह दिव्य प्रेम ही है।

————

देवताओंका भगवत्प्रेम

देवता क्या ? आपको यह प्रश्न अटपटा तो नहीं लगता ? यह प्रश्न मैंने इसलिए उठाया कि आजके नये पढ़े-लिखे लोगोंको सनक है, मनुष्य-की ही जाति विशेषको देवता माननेकी और यह सनक दुराग्रहकी सीमा तक पहुँची हुई है।

देवता, पितर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत-प्रेत, पिशाच, किन्नर, अप्सरा, सिद्ध जनलोकादिके ऋषि ये सब देव योनिके अन्तर्गत हैं। इनमें जाति-भेद है, स्वभाव भेद है, भोग भेद है, जैसे मनुष्यमें ब्राह्मण तथा चाण्डालादि अथवा महापुरुष तथा कसाई भी, किन्तु हैं ये एक दिव्य योनि-के अन्तर्गत।

आपने स्वप्न देखा ही है। आपका स्थूल शरीर निष्क्रिय पड़ा रहता है, नेत्र बन्द रहते हैं, जीभ स्थिर पड़ी रहती है और दूसरी इन्द्रियोंके गोलक भी किसी बाह्य पदार्थके सम्पर्कमें नहीं होते; किन्तु आप स्वप्नमें चलते हैं, देखते हैं, छूते हैं, सूँघते हैं, खाते-पीते हैं, बोलते तथा काम करते हैं। सुख-दुःख, थकावट, विश्राम, रोष-प्रसन्नतादि सबका अनुभव करते हैं। जागृत दशामें जितने कार्य एवं अनुभव हैं, वे सब स्वप्न दशामें होते हैं या हो सकते हैं। अतः आप उन कार्योंके करने एवं उन विषयोंकी अनुभूतिके सम्बन्धमें यह समझ सकते हैं कि इसके लिए वर्तमान स्थूल शरीरकी अनि-वार्य आवश्यकता नहीं है।

एक बात और स्वप्नमें आपकी रुचि, स्वभाव राग-द्वेष, पक्ष-विपक्ष कुछ अद्भुत नहीं हो जाता वह सब आपके जागृतके समान ही रहता है; क्योंकि आपका सूक्ष्म शरीर वही रहता है जो जागृतमें था।

अब जितने देव-वर्गकी योनियाँ गिनायी गयी हैं, उन सबके पास भी आपके समान ही सूक्ष्म शरीर होता है, यह मत भूलिये। इससे आप समझ सकेंगे कि उनमें भी सभी विषयोंको अनुभव करनेकी शक्ति है और हर्ष-शोक, राग-द्वेष, पक्ष-विपक्ष, भय-स्नेह आदि भी उनमें आपके समान ही है। जैसे मनुष्योंमें रुचि भेद होता है, जैसे हममें क्रोधादि किसीमें कम,

किसीमें अधिक होते हैं, वैसे ही रुचि भेद एव स्वभावका तारतम्य देव-वर्ग-के प्राणियोंमें भी होता है। दो शब्दोंमें वे भी जीव हैं।

अब अन्तर जहाँ होता है वहाँकी बात। आप दस मन भार क्यों उठा नहीं सकते ? इसलिए कि आपके शरीरमें इतनी शक्ति नहीं। आप पचास मील पैदल क्यों वायुयानकी गतिसे नहीं चल सकते अथवा आकाशमें क्यों उड़ नही सकते ? इसलिए कि आपके शरीरमें वैसी शक्ति नहीं। आप क्यों मन दो मन स्वादिष्ट भोजन नहीं कर सकते या हाथीसे क्यों कुश्ती नहीं लड़ सकते ? इसलिए कि आपके शरीरमें इतनी शक्ति नहीं।

आप देखते हैं कि जितनी विवशता एवं असमर्थता है, सब शरीरसे स्थूल शरीरसे सम्बन्धित है। इस शरीरमें कोई परिवर्तन हो जाय तो बहुत कुछ सम्भव है। देव वर्गके प्राणियोंके पास सूक्ष्म शरीर तो आप जैसा है, किन्तु उनका स्थूल देह आप जैसा नहीं है। इसलिए उनकी कार्य-शक्ति, गति, भोग-शक्ति, आपके समान अल्प नहीं है। वैसे उनकी शक्तिकी भी सीमा है। उनकी भी कहीं असमर्थता और विवशता है; किन्तु वह उनके शरीरके अनुसार है।

हमारा आपका और पृथ्वीके समस्त चर-अचर प्राणियोंका शरीर पार्थिव शरीर कहलाता है। अर्थात् हम सबके शरीरमें पृथ्वी तत्वकी प्रधा-नता है। शरीर तो सबके पंचभौतिक ही होते हैं; किन्तु जिस शरीरमें जिस तत्वकी प्रधानता है, उसे उस तत्वके नामसे कहा जाता है देववर्गके सभी प्राणियोंको तैजस देह वाला कहा जाता है। इसका अर्थ यह उनका स्थूल पंचभौतिक शरीर ऐसा बना है, जिसमें अग्नि तत्त्व प्रधान है।

हम लोगोंके नेत्र गोलक पार्थिव-पृथ्वी तत्त्व प्रधान हैं। अतः हम कोई भी यन्त्र लेलें केवल वे ही पदार्थ देख सकते हैं, जो पृथ्वी प्रधान हैं। जल हमें तब तक दीखता है, जब तक द्रव या वाष्प रूपमें वह पृथ्वी तत्त्व-को प्रधान रूपसे आश्रय बनाये हैं। अग्नि हमें तभी तक दीखती है, जब तक स्थूल पृथ्वी तत्त्वके आश्रयको अपना ले। इसी प्रकार देववर्गके प्राणी भी हमें नेत्र या किसी भी यन्त्रसे तभी दीख सकते हैं जब स्वेच्छासे या किसी परिस्थिति विशेषसे वे पार्थिव तत्त्वका आश्रय करें; अन्यथा हम किसी प्रकार उन्हें देख नहीं सकते। लेकिन वे हमें सदा अप्रयास देखते रहते हैं; क्योंकि हमारा शरीर उनकी अपेक्षा बहुत स्थूल है।

इस विवरणसे आप इतना समझ सकते हैं कि देववर्गके सभी प्राणी सामान्यतः अदृश्य हैं और हम सबको देखते रहते हैं। उनकी शक्ति हमसे बहुत अधिक है। लेकिन उनके पास भी हमारे समान ही सूक्ष्म शरीर अर्थात् इन्द्रियाँ तथा मन है अतः उनमें भी इच्छाएं, राग-द्वेष, हर्ष-शोक तथा सुख-दुखादिके अनुभव हैं।

एक बात अत्यन्त गौरवपूर्ण विशेष है मनुष्यके पास और वह कर्म स्वातन्त्र्य। केवल मनुष्य योनि ही कर्म योनि है। शेष सभी भोग योनियाँ हैं।

देवताओंमें मन है और उस मनमें राग है तो उनमें प्रेम होनेकी सम्भावना तो पूरी ही है। लेकिन देवताओंमें यदि भगवत्प्रेम हुआ तो वह उस जन्मके संस्कारके रूपमें होगा, जिसमें वह देवता होनेसे पूर्व मनुष्य थे, क्योंकि देव-योनि भोग-योनि हैं। उसमें भगवत्प्रेमका उदय सम्भव नहीं।

देवताका भगवत्प्रेम उसे भगवानके धाम नहीं लेजायगा, क्योंकि देवयोनि अथवा भोग-योनिका कोई कर्म या भाव जीवके प्रारब्धको प्रभावित नहीं करता। अवश्य देवताका भगवत्प्रेम उसे परमात्मा देगा। उसे भगवत्स्मरणका आनन्द तो प्राप्त ही होगा और अपने हृदयमें अथवा प्रत्यक्ष भी वह भगवदर्शन प्राप्त कर सकता है।

देवता शब्दसे हमारे आपके मनमें देवयोनिके केवल एक वर्गका स्मरण आता है। देवता तथा गन्धर्व, किन्नर, अप्सराएं—इनमें भी गन्धर्व, किन्नर, अप्सराएं उपदेव हैं। ये देव तथा उपदेव सात्त्विक योनियाँ हैं। जनलोकादिके मुनिगण इनसे भी श्रेष्ठ हैं और पितर भी देवता ही हैं एक श्रेणीके। इनसे भिन्न राक्षस, यक्ष, दानव, दैत्य आदि देववर्गमें होकर भी राजसिक योनिके प्राणी हैं। प्रेत, भूत, पिशाच, कूष्माण्ड, बैताल, योगिनी आदि तामसिक योनिके हैं।

इन सब देववर्गके प्राणियोंमें तामसिक योनियोंमें तो भगवत्प्रेम अपवाद रूपमें ही पाया जा सकता है। राजसिक योनियाँ रजोगुण प्रधान होनेसे क्रियामें रुचि रखनेवाली हैं, अतः उनमें भगवत्प्रेमका भी प्राचुर्य मिलता है। यहाँ सात्त्विक योनिके देववर्गके भगवत्प्रेमका ही विचार करना है।

सत्वगुणमें क्रियाकी प्रेरणा नहीं है अतएव देवताओंमें केवल सुखोप-भोगकी वृत्ति है । वे तभी कुछ करते हैं जब उसे करनेमें या तो उन्हें प्रसन्नता होती हो या उसे न करनेसे उनके सुखमें बाधा पड़ती हो ।

सत्वगुण प्रधान होनेसे देवताओंको भगवान विष्णु,शिव एवं ब्रह्माजी-का साक्षात्कार एवं सहायता सरलतासे मिल जाती है । ब्रह्मलोक अथवा शिवलोकमें वे चाहे जब जा सकते हैं और भगवान विष्णु तो उपेन्द्र-वामन रूपमें इन्द्रके छोटे भाई बनकर स्वर्गमें विराजते ही हैं ।

यह सब होनेपर भी देवताओंमें कुछ अपवादों तथा कुछ विशिष्ट देववर्गके सदस्योंको छोड़कर भगवत्प्रेम पाया नहीं जाता । भगवानके अव-तार कालमें वे बार-बार आते हैं दर्शन करते हैं, सेवा भी करते हैं और अवसर विशेषपर बाजे बजाना तथा पुष्प वर्षा करना तो उनका काम ही है; किन्तु यह सब प्रेम तो नहीं है । इस सबमें स्वार्थ है । भगवानका अव-तार विशेषतः देवताओंके कष्टको समाप्त करनेके लिए उनकी प्रार्थनापर लोक व्यवस्थाका अपना कर्तव्य जब पूरा करनेमें देवता किसी महान बाधा-के कारण असमर्थ होगये तब प्रभु आये । उन देव-देव-सर्वेश्वरके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन मात्रको तो आप प्रेम नहीं कह सकते । इसीसे गोस्वामी तुलसीदासजीने लिखा—

"आये देव सदा स्वारथी, वचन कहहिं जनु परमारथी ।"

लेकिन यहाँ मैं त्रिदेवोंको देव वर्गमें नहीं ले रहा हूँ और दिव्य ऋषियोंको भी नहीं । अन्यथा—

"वैष्णवानां यथा शम्भु"

इसे भूला नहीं जा सकता और भगवान ब्रह्मा, शेष भगवान, श्रीलक्ष्मीजी, पार्वतीजी, सनकादि कुमार, देवर्षि नारद आदि ऋषिगण तो परम भगवत-भक्ताचार्य हैं । इनकी कृपासे ही लोकमें भगवद्-भक्तिभी किसी-को प्राप्त होती है ।

शंकरजी, ब्रह्माजी तथा विष्णु भगवान तो परस्पर अभिन्न हैं । सृष्टि निर्वाहके लिए ही परम तत्त्वने ये तीन रूप धारण कर रखे हैं । भग-वान शेष लक्ष्मीजी एवं अन्य भगवत्पार्षद भी भगवानसे नित्य अभिन्न हैं । देवर्षि नारद और सनकादि कुमार भगवानके अवतार ही हैं अतः इन्हें

देवता न गिनना ही ठीक है। इनकी भक्ति तो सहज स्वरूप है। लोक कल्याणकी वही साधिका है।

ऋषिगणोंमें ज्ञान, कर्मनिष्ठा एवं भगवत्प्रेमकी पूर्णता है, इसीलिए उन्हें नित्य ऋषित्व प्राप्त हुआ है। वे कारकपुरुष हैं, वे भी नित्य सिद्ध हैं भगवदनुग्रह रूप ही हैं।

देवताओंमें भगवान सूर्य साक्षात् नारायण ही हैं। संयमिनीपुरीके अध्यक्ष लोक नियामक दण्डधर यमराज ही देवताओंमें ऐसे हैं जो भगवत्-प्रेमके आगार हैं। भक्तिके जो द्वादश मूलाचार्य महाभागवत शास्त्रोंने माने हैं, उनमें धर्मराजकी गणना है।

भोग और प्रेमका विरोध है। प्रेममें स्व-सुख भोगकी इच्छा ही नहीं है। देवताओंको देवत्व प्राप्त हुआ है सुखोपभोगके लिए। यमराज ही ऐसे हैं कि उनका कार्य सुखोपभोगसे सर्वथा भिन्न है। अतः उनमें ही भगवत्प्रेम-का परिपाक हो सका। देवताओंमें भोग प्रवणता होनेसे भगवत्प्रेमका प्रकर्ष नहीं पाया जाता, यह सर्वथा स्वाभाविक स्थिति है। जैसे देवता सात्विक हैं, अतः उनमें आस्तिकता, श्रद्धा आदि गुणोंका उत्कर्ष तो है तो और ज्ञान ही भी उनमें-से अनेकमें होनेका वर्णन शास्त्र करते हैं।

दास्य-प्रेम

मूल सम्प्रदाय चार ही हैं। अर्थात् भगवानसे प्रेम चारमें-से एक भाव सम्बन्धको लेकर हो सकता है १. दास्य, २. सख्य, ३. वात्सल्य, ४. माधुर्य या दाम्पत्य। इन चारोंमें भी दास्य सार्वभौम भाव है। सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्यमें भी यह भाव व्यापक रहता है।

मेरे एक परिचित सम्मान्य विद्वान एवं महात्माने विनोदमें कहा था—मैं 'जीव ईश्वरका दास है; किन्तु जब वह अपने दासत्वको समझ लेता है, ईश्वर उसे अपना मित्र बना लेता है। यह सख्य इतना प्रबल है कि सखा जीव ईश्वरपर स्नेह करने लगता है—उसकी सुरक्षाकी चिन्ता करने

लगता है और ईश्वर भी उस स्नेह-सुरक्षाको स्वीकार करके छोटा बन जाता है। लेकिन जब यह वात्सल्य प्राप्त भाव प्रगाढ़ हो जाता है, ईश्वर-को यह पूरी पसन्द नहीं आती और वह जीवको अपनेसे अभिन्न सा कर लेता है—माधुर्यका यह परिपाक है।'

बात यह विनोदकी ही है क्योंकि दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य ये चारों भाव नित्य हैं। वे एक भावसे दूसरेमें परिवर्तित हो तो सकते है; किन्तु अनिवार्य नहीं है। वे उसी रूपमें शाश्वत रह सकते हैं—रहते हैं।

दास्य सार्वभौम भाव है—दो दृष्टियोंसे सर्वसामान्य आस्तिक जनोंके मनमें ईश्वर स्वामी है, संचालक है, पालक है जगतका और जीव उसका सेवक है—आज्ञानुवर्ती है। आस्तिकता मात्रमें यह दास्यभाव होता है। भगवानके उन्मुख जीव पहले इसी भावसे होता है। विश्वके प्रायः सभी धर्मों में प्रार्थना एवं उपासनाकी जो विधियाँ हैं, वे जीवको सेवक एवं ईश्वरको स्वामी—शरण्य स्वीकार करके ही चलती हैं।

दूसरी दृष्टि यह कि सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्यमें भी दास्य भाव व्यापक है। सखा भले लड़-झगड़ लें, भले पीठपर चढ़ो कसलें, किन्तु वे हृदयसे सेवा करना ही पसन्द करते हैं और आपत्तिका त्राता उन्हें अपना वह परम सखा ही दीखता है। प्रेयसी एवं पत्नीमें—यदि वह सचमुच प्रेमिका या पतिव्रता है, दास्यभाव असीम होता है। वह अपनेको किंकरी ही मानती है। गोपियोंने स्वयं कहा—'श्यामसुन्दर ते दास्यः।' बात वात्सल्यकी तनिक टेढ़ी लगती है; किन्तु टेढ़ी नहीं है। माता-पिताका तो सबसे प्रिय कार्य है शिशुकी सेवा और इस सेवामें वास्तविक दास्य भी होता है—आपत्तिके समय जब उस शिशको त्राताके रूपमें पुकारा जाता है तो दास्यका वह प्रच्छन्न रूप खुल कर सामने आजाता है।

जीवका वास्तविक स्वरूप क्या है ? विश्वके दूसरे सब धर्म तो इसे ईश्वरका दास ही मानते हैं। जहाँ तक जीवके सत्य—जीवकी अनुभूतिकी बात है, वह यही अनुभव करता है। हम सबकी दुर्बलता, अज्ञान,असमर्थता एक सबल, समर्थ, सर्वज्ञ शरणदाता ही तो चाहती है। ईश्वर हमारा स्वामी है, यह जीवका सत्य।

जीवका सत्य ठीक सत्य है या ईश्वरका सत्य ? ईश्वरका सत्य क्या है ? ईश्वर क्या अनुभव करता है, कोई उपाय नहीं हमारे पास जानने का; किन्तु श्रुति उसकी वाणी है और श्रुति ईश्वरको जीवका सखा कहती है—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ ।' क्या यह ईश्वरका सत्य—वस्तु सत्य नहीं है ?

लेकिन हम यहाँ दास्य प्रेमकी बात कर रहे हैं। यह एक मात्र ऐसा है, जो सगुण साकार और सगुण-निराकर दोनों ही प्रकारकी मान्यतामें चल सकता है। निर्गुण-निराकारके साथ तो प्रेम सम्भव नहीं और किसी प्रकार हो भी जाय तो उसका कुछ फल नहीं। क्योंकि निर्गुणमें न तो कोई क्रिया होगी, न प्रेमीके प्रेमकी अनुभूति। सखा, पुत्र और पति या प्रेमास्पद सगुण-साकार ही बन सकता है; किन्तु स्वामी, पालक, शरणदाताको साकार सम्मुख रहनेकी आवश्यकता नहीं है। वह साकार भी हो सकता है और निराकार रह कर भी यदि सगुण है—प्रार्थना सुन सकता है। प्रार्थी सेवक पर कृपा कर सकता है।

यहूदी, ईसाई, मुसलमान तथा विश्वके अधिकांश अन्य धर्मावलम्वी ईश्वरको सगुण तथा निराकार मानते हैं। हिन्दू धर्मके भी अनेक सम्प्रदाय-आर्यसमाज आदि ऐसी ही मान्यता रखते हैं। सगुण-निराकार ईश्वरको जो भी स्वीकार करेंगे, उनके लिए ईश्वरकी सेवाका अर्थ सदाचार, योग, तप तथा जन-सेवा होगा और प्रार्थना उनका मुख्य साधन होगा। 'अपनेको—अर्थात् अपने आचरणको, चित्तको तथा देहको पवित्र बनाओ, आर्त-असहाय-पीड़ित जनोंकी सेवा करो और उस सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ, दयासिन्धुसे प्रार्थना करो !' वह संक्षिप्त सार है सगुण-निराकार मान कर चलने वाले धर्मोंकी साधनाका। यह सम्पूर्ण साधना नित्य दास्यभाव प्रधान है।

जो लोग सगुण-साकार तत्त्व स्वीकार करते हैं, उनमें श्रीनारायण, मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, परशुराम, वामन, हयग्रीव, हंस, यज्ञ-आदि भगवद्रूपोंके आराधकोंका आश्रय दास्यभाव ही होता है। मैं कोई नियम बनानेका साहस नहीं कर सकता। वामन, परशुराम, कपिल जैसे भगवद्-रूपोंमें किंचित वात्सल्यको अवकाश है और सम्भव है कोई अद्भुत हृदय मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह जैसे रूपोंमें से किसीका मित्र, माता-पिता या-प्रेयसी बननेको भी लालायित हो उठे; किन्तु यह बात अपवाद ही होगी।

ये सब भगवद्‌रूप सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्यके आश्रय नहीं हैं। आश्रय तो ये एकमात्र दास्यभावके ही हैं।

भगवान शंकर, भगवती दुर्गा तथा भगवान-गणेशकी उपासना विशेष-में भले किसी अन्य भावके आश्रय होते हों और कृपा पूर्वक भले किसीको मित्र मान लें; किन्तु सामान्य भाव उनमें स्वामीका ही हो सकता है।

इस प्रकार भी आप देख रहे हैं कि दास्यभाव सार्वभौम है और वह भगवानके सभी साकार रूपों एवं निर्गुण-निराकार रूपको भी लेकर चल सकता है।

बहुत सरल एवं स्पष्ट बात है कि सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य भाव ऐश्वर्यकी अनुभूतिको विस्मृत करके ही चल सकते हैं। अतएव जिन भग-वान्‌के रूपोंमें ऐश्वर्य नित्य अभिव्यक्त है, उनमें इन भावोंकी पुष्टि नहीं हो सकती। लेकिन दास्यभाव तो ऐश्वर्यकी अनुभूतिसे पुष्ट होता है। अपना स्वामी जितना समर्थ, जितना शक्तिशाली और जितना व्यापक प्रभाव रखेगा, सेवककी गौरवबुद्धि उतनी बढ़ेगी। अतः दास्य भाव सभी भगवद् रूपोंको आश्रय करके होता है।

दास्यभाव क्योंकि सार्वभौम भाव है; उसके अग्रणी, महापुरुषोंकी संख्या भी बहुत बड़ी है। उनका नामोल्लेख कर पाना भी यहाँ सम्भव नहीं है। केवल एक संकेत दिया जा सकता है। पैगम्बर मूसा, ईशुक्राइस्ट, मुहम्मद साहब आदि सभी अभारतीय धर्मोंके प्रवर्तक तथा स्वामी दयानन्द जी जैसे उन भारतीय धर्मोंके प्रवर्तक भी जो सगुण-निराकार ईश्वर मानते हैं, दास्यभावके उत्कृष्ट भगवत्प्रेमियोंमें हैं।

भगवान्‌के जितने सगुण-साकार स्वरूप हैं, उनके भी प्रमुख आरा-धक हैं और वे दास्यभावके ही आदर्श हैं। जैसे भगवान् नृसिंहके परमा-राधक प्रह्लाद जी। लेकिन लोकमें श्रीराम एवं श्रीकृष्णकी आराधना ही अधिक प्रचलित हुई अवतार रूपोंमें। भगवान शंकर, गणपति एवं देवीके भक्तोंमें जिनके भी नाम आप स्मरण कर सकें—वे सभी दास्यभावके भगवत्-प्रेमी मिलेंगे। इसीसे उनका उल्लेख मैं यहाँ नहीं कर रहा हूँ।

भगवान श्रीरामके प्रमुख सेवक श्री हनुमान जी। वैसे आप देखें तो श्री भरतलाल, लक्ष्मणजी, श्रीशत्रुघ्नकुमारके भ्रातृ-प्रेममें भी आपको सख्य-के स्थानपर दास्य ही प्रधान दिखलाई पड़ेगा। श्रीभरतलाल तो कहते हैं—

"सिर भर जाऊँ उचित अस मोरा।
सबते सेवक धर्म कठोरा॥"

अयोध्याके समस्त प्रजाजनोंका अपने सम्राटके प्रति उचित दास्यभाव है। उनकी अभिलाषा किसी भी धन्य हृदयके लिए स्पृहाकी वस्तु रहेगी—

"जेहि जेहि जोनि करम बस भ्रमहीं।
तहँ तहँ ईस देउ यह हमहीं॥
सेवक हम स्वामी सिय नाहू।
होउ नाथ यहि भाँति निबाहू॥"

निषादराज और वनके कोल-किरातोंका तो परम सौभाग्य कि वे श्रीअयोध्यानाथके सेवकोंमें अपनेको खड़ा पाते हैं; किन्तु जिन्हें श्रीरघुनाथ सखा सकते हैं—

"ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे।"

उन सबकी बात क्या की जाय, उनके नायक सुग्रीव-विभीषणके अन्तरमें श्रीरघुनाथ उनके नित्य स्वामी हैं। विभीषणने आते ही पुकार लगायी थी—

'श्रवण सुजस सुनि आयऊँ, प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन, सरन सुखद रघुवीर॥'

यह भाव उनका कभी परिवर्तित नहीं हुआ और सुग्रीवने ही 'नाथ! प्रभु!' को छोड़कर दूसरा कोई सम्बोधन कहाँ उपयुक्त माना।

इतना सब है; किन्तु श्रीरामके प्रमुख सेवक तो हनुमानजी हैं ठीक एवं मुख्य सेवक वह जिसे स्वामी अपना सेवक स्वीकार करले। मर्यादा पुरुषोत्तम परम संकोचीनाथ श्रीरघुनाथ किसीको अपने श्रीमुखसे सेवक स्वीकार करेंगे, ऐसी सम्भावना आप देखते हैं? अपने महामन्त्री सुमन्तको तो पिताके समान मानते हैं। सब 'कपियों' को अपना सखा कहते हैं और निषादराजको तो महर्षि वशिष्ठ तकने 'रामसखा' कहकर स्वीकार किया।

एक व्यक्ति हैं ऐसे परम धन्य जिन्हें श्रीरघुनाथने अपने श्री मुखसे सेवक स्वीकार किया। वे परम धन्य है श्रीपवनकुमार।

'सो अनन्य जाकी अस, मति न टरै हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर, रूप राशि भगवन्त॥'

कोई सम्मानका सम्बोधन नहीं । सीधे सादे स्वरमें 'हनुमन्त' कहकर 'सो अनन्य' की परिभाषा बता दी । दूसरे शब्दोंमें कहा गया -'तुम मेरे सेवक तो हो; किन्तु अनन्य सेवक वह नहीं जो मेरे इस रूप तक ही सीमित रहे । 'सचराचर रूप रासि आराध्य दीखे तुम्हें, इसमें अनन्यताकी पूर्णता है ।'

'सुनु कपि तोहि उरिन मैं नाहीं ।'

इतना सीधा सम्बोधन और किसीको वे परमोदार मर्यादा पुरुषोत्तम करेंगे ?

बात श्रीकृष्णचन्द्रकी रही जाती है, किन्तु ये परम चपल-इन्हें दास्य-भाव बहुत प्रिय नहीं है । द्वारिकेशके रूपमें आप इनके सेवक भले ढूँढ़ लें; किन्तु श्री नन्दनन्दनके सेवक—सेवक हैं तो सही और बहुत हैं, किन्तु ये कहाँ स्थिर सिंहासनासीन बैठनेवाले गम्भीर स्वामी हैं । इनमें तो दास्य भी सख्यकी सीमामें चला जाता है । घरके बड़े-बूढ़े सेवक-सेविकाओंका वात्सल्य उमड़ पड़े—श्रीकृष्णका आकर्षण ही कुछ ऐसा है । अतः दास्यभावके बहुत उत्तम आश्रय श्रीकृष्ण नहीं हैं ।

भगवान श्रीनारायण, भगवान शंकर, भगवती दुर्गा तथा दूसरे सब भगवानके अवतार एवं नित्य रूप विशेषतः मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राघवेन्द्र दास्यभावके उत्तम आश्रय हैं, किन्तु श्रीकृष्णचन्द्र नहीं । दास्यभाव श्री-नारायण, भगवान शंकर, भगवती दुर्गा तथा मर्यादा पुरुषोत्तमके आश्रयमें परमतुष्ट होता है ।

सख्य-प्रेम

जहाँ दास्यभाव या दास्यप्रेम भगवान्‌के सभी स्वरूपोंमें हो सकता है, वहाँ सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य परिपाक केवल श्रीराम एवं श्रीकृष्णमें ही पूर्णता प्राप्त करता है । भगवान्‌के दूसरे रूपोंमें भी भाव हो सकते हैं, किन्तु उन्हें अपवाद ही कहना पड़ेगा । भगवान् नारायणमें मधुर-रतिके उदाहरण तो प्रकृष्टतम हैं । आण्डालको कैसे भूला जा सकता है—दक्षिण भारतमें वे लक्ष्मीकी अवतार ही मानी जाती हैं; किन्तु अपवादके अतिरिक्त समाधान

नहीं है; क्योंकि ऐश्वर्य जहाँ नित्य प्रकट है, सख्यादिके लिए अत्यल्प स्थान रह जाता है।

सम्पूर्ण अवतार-चरित श्रीराम एवं श्रीकृष्णचन्द्रका ही है। इन्हें पूर्णावतार इसलिए कहा जाता है कि ये मनुष्यकी सम्पूर्ण भावनाओंके पूर्ण आधार बन सकते हैं। शक्ति, प्रभाव आदिकी दृष्टिसे तो भगवानके सभी अवतार समान है। अंशावतार हम उन्हें इसलिए कहते हैं कि उनमें हमारी भावनाका एक अंश ही सार्थक होनेका अवकाश पाता है। श्रीरघुनाथ इसलिए मर्यादापुरुषोत्तम हैं कि उनमें भावनाको मर्यादामें रहना पड़ता है। श्रीकृष्ण इसलिए लीलापुरुपोत्तम पूर्णावतार हैं कि उनमें हमारी भावना निर्वाध लीलाका आधार पाती हैं।

श्रीकृष्णचन्द्रमें दास्यभावको पूरी सुविधा नहीं है, यह दास्यप्रेमके विवरणमें कह आये हैं। इसका यह अर्थ नहीं हैं कि नन्दभवनमें या मथुरा-द्वारिकामें सेवक नहीं थे और आज दास्यभावसे श्रीकृष्णोपासना नहीं हो सकती। वह सदासे होती थी—होती रहेगी। तात्पर्य इतना ही था कि श्यामसुन्दरमें दास्य स्वतः सख्य एवं वात्सल्यमें जा पहुँचता है। ये हैं ही ऐसे ठाकुर कि दासकी दीनताको मुखर बनाये बिना नहीं छोड़ते। स्वामीका गाम्भीर्य स्वयं इनमें नहीं हैं।

इसी प्रकार श्रीराघवेन्द्रमें सख्य एवं माधुर्यको पूरी सुविधा नहीं। सख्य एवं माधुर्यके सर्वश्रेष्ठ आधार श्रीकृष्णचन्द्र ही हैं। श्रीरघुनाथजीके सखाओंकी अपार संख्या थी और रामोपासकोंमें 'श्रीराम-सखाजी' का एक सम्प्रदाय ही है श्रीरामानन्द सम्प्रदायके अन्तर्गत और माधुर्योपासना तो आज श्री रामानन्द सम्प्रदायमें अत्यन्त प्रमुख रूपमें चल रही है। इस उपासनाके परमरस प्राप्त-सन्त-श्रेष्ठ श्रीरूपकलाजीको मैं भूल नहीं रहा हूँ। इतनेपर भी मैं जैसे कहता हूँ कि श्रीकृष्णोपासनामें दास्यको पूरी सुविधा नहीं है वैसे ही कहता हूँ कि श्रीरामोपासनामें सख्य एवं माधुर्यको पूरी सुविधा नहीं है।

श्रीरामकी ओरसे तो कोई दास है ही नहीं। वे तो सभी कपियोंको 'ये सब सखा' कहते हैं। उन शीलनिधान परम संकोची प्रभुकी ओरसे सख्यके निर्वाहमें कहीं तनिक भी शैथिल्य आयेगा—सोचना भी मूर्खता है। उनके सख्यका तो भरतजी चित्रकूट तक स्मरण करते हैं—

"मैं प्रभु कृपा रीति जिय जोही।
हारेहु खेल जितावहिं मोही॥"

यह तो रघुनाथका अपना स्वभाव है। श्रीभरतजी अपना अनुभव सुना रहे हैं—

"सिसु पनतें परिहरेउँ न संगू ।
कबहुँ न कीन मोर मन भंगू ॥"

लेकिन बन्धु ! इसमें सख्य पुष्ट हुआ या वात्सल्य यह आप सोच देखें। कभी 'मेरा मन भंग नहीं किया, सदा मेरी रुचि ही रखते आये।' यह तो वात्सल्यकी सीमा है। श्रीराम लड़े-झगड़ेंगे, रूठे-रुठावेंगे, दाव न देकर भागेंगे—उन मर्यादापुरुषोत्तमसे है आपको ऐसी आशा ? और सख्य तो यह सब चाहता है।

दूसरी ओर सगे भाई भरतलालजीका भाव शैशवसे क्या दास्य नहीं है। श्रीरामकी गरिमा, उनका वात्सल्य—वे श्री चक्रवर्ती महाराजके युवराज न भी होते—उनका अपना ही गौरव क्या सखाओंको उनसे रूठने-लड़ने दे सकता है। उनसे झगड़ा नहीं जा सकता। उनकी पीठपर चढ़ी लेनेकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। वे नित्य महान और उस परसे सम्राटके युवराज। सखाओंके साथ वे खुलकर खेलते हैं; किन्तु सखाओंके हृदयमें वे खेलके समय भी परम सम्मान्य हैं, स्वामी हैं। इसलिए उन मर्यादापुरुषोत्तममें सख्य शुद्ध सख्य न रह कर दास्य समन्वित हो ही जाता है।

अब माधुर्यकी बात। लोग क्या करते हैं, कैसी भावनाएँ बनाते हैं, यह सब छोड़ दीजिये। मुझे ऐसे सज्जन मिले हैं जो नित्य ब्रह्मचारी श्रीहनुमानजीको सखी मानते हैं अपनेको और ऐसे सज्जन भी मिले हैं जो श्रीहनुमानजीको ही मधुर भावोपासक मानते एवं बड़े आग्रहसे इसका प्रतिपादन करते हैं। प्रभु वांछा कल्पतरु हैं। भाव वत्सल हैं। उनसे सम्पृक्त होकर कोई भावना असफल नहीं रहती। भले भगवती लक्ष्मी भगवान् नृसिंहको देखकर डर गयी हों; किन्तु कोई उन नरहरिको ही माधुर्यरतिका आश्रय बना ले तो उसकी भावना निश्चय सफल होगी। अतः होता क्या है और उसमें सफलता कितनोंने पायी—यह भिन्न बात है। आश्रयका जो स्वरूप है, उसमें उस भावकी मर्यादानुसार कितना अवकाश है, यही यहाँ विचारणीय है। नहीं तो वे प्रभु तो प्रेमवश हैं और प्रेमी उनसे अपनी प्रेमशक्तिसे बलपूर्वक चाहे जो करा ही सकते हैं।

श्रीरघुनाथ मर्यादा पुरुषोत्तम हैं और उनका एक नारी-व्रत शास्त्रप्रसिद्ध है। वे स्वयं जनकपुरकी फुलवारीमें अनुज से कहते हैं।

मोहि अतिसय प्रतीति जिय केरी।
जेहि सपनेहु परनारि न हेरी॥

स्वप्नमें भी परस्त्रीकी ओर उनकी दृष्टि लीला-विलाससे उठ नहीं सकती। हास-परिहासकी चर्चा दूर चली गयी। अब ऐसे मर्यादा-धनीमें माधुर्यको कहाँ अवकाश मिलेगा ? श्रीरामकी प्रेयसीका क्या अर्थ ? श्री जनकनन्दनीको छोड़कर दूसरी नारी उनकी प्रेयसी बन सकेगी, इसकी सम्भावनाकी गन्ध भी कहाँ है ?

श्रीजानकीकी सहेलियाँ और सेविकाएँ—यहाँ तक अवकाश है; किन्तु महारानीकी सेवा दास्य है, यह आप क्यों नहीं मानते ? इस दास्यमें मर्यादा पुरुषोत्तमसे परिहासका भी अवकाश कहाँ है ? और राजमहल कोई लता-कुञ्ज तो नहीं है कि कोई दूरसे ही अन्तःपुरके रसालयका श्रवणदर्शन पाकर कृतार्थ होता रहेगा।

थोड़ासा अवकाश है जनकपुरमें, वहाँ ऐसे सम्बन्ध हैं जिनमें परिहासका अधिकार है; किन्तु मर्यादापुरुषोत्तमसे अत्यल्प मर्यादाकी सीमाके भीतर ही उत्तरकी आशा की जा सकती है। अतः माधुर्यकी पूर्ण परिपक्वता को वहाँ भी कोई अच्छा आधार नहीं है।

श्रीकृष्णचन्द्रमें सख्य तथा माधुर्य दोनों सम्पूर्ण सुविधा पाते हैं। माधुर्यकी चर्चा तो यहाँ करनी नहीं, सख्यकी बात करें। श्रीकृष्णचन्द्रने स्वयं अपने सखाओंसे अधिक महत्व कभी किसीको दिया, मुझे तो स्मरण नहीं। एक उच्चकोटिके सन्तने एक बार मुझसे कहा था—"भगवान श्याम-सुन्दरने किसीका मान नहीं रखा। वे सबका मान-भङ्ग ही करते हैं; किन्तु किसी सखाका मान-भङ्ग उन्होंने कभी नहीं किया।

"मानदः स्वसुहृदां वनमाली।"

अपने सुहृदोंको वे सदासे सम्मान देते आये हैं। दूसरी एक विशेषता और—श्रीकृष्णचन्द्रको ऐश्वर्य प्रकट करनेमें कभी संकोच नहीं हुआ। कोई राक्षस-असुर आया तो उसे झटसे मार दिया। उन्हें कभी क्रोध नहीं आया। उन्हें क्रोध नहीं आया बाबानन्दको निगलने वाले अजगरपर और गोपियों-को रात्रिमें उठाकर भागने वाले यक्षपर भी। उनको बिना किसी रोषके उन्होंने मार दिया; किन्तु दो बार श्रीकृष्ण क्रुद्ध हुए और दोनों ही बार सखाओंकी विपत्तिने उन्हें अपने आपमें नहीं रहने दिया।

पहली बार उन्हें क्रोध आया व्रजमें। मयका पुत्र व्योमासुर जब सखाओंमें बालक बन कर मिल गया और उन गोकुमारोंको एक-एक करके गुफामें बन्द करने लगा। श्रीकृष्णने जब उसे पकड़ा तो झटसे मार नहीं दिया। श्रीमद्‌भागवत कहती है—

'पशुमारतमारयत् ।'

क्रोधविष्ट होकर लात, थप्पड़, घूँसेसे उसे मारते गये--मारते चले गये, जैसे पशुको मार रहे हों और शवको भी पीट-पीट कर लोथड़ा बना दिया।

दूसरी बार श्रीकृष्णके रोषका वर्णन महाभारतमें है। अभिमन्युकी मृत्युके बाद अर्जुनने प्रतिज्ञा करली—'कल सूर्यास्तके पूर्व जयद्रथको न मार सका तो अग्निमें जल मरूँगा।' उस रात्रिमें अपने शिविरमें अपने सारथी दारुकको पास बैठा कर श्यामसुन्दर रात्रिभर जो कहते रहे—रोष एवं क्षोभमें जो प्रलाप करते रहे, उसका वर्णन महाभारतमें ही पढ़ने योग्य है। उसका केवल एक वाक्य यह है—दारुक ! कल यदि मेरा अर्जुन नहीं रहा तो मैं चक्र उठा कर पूरे कौरव पक्षका संहार कर दूँगा। कौरवोंका पक्ष लेने लोकपाल आवेंगे तो उन्हें भी कल मरना पड़ेगा। धर्मराजको सिंहासन-पर बैठाकर श्रीकृष्ण उसी चितामें जलेगा जिससे अर्जुनका शरीर भस्म होगा।'

यह तो हुई श्यामसुन्दरकी बात और सखाओंकी बात लें—मोहन उनका प्राण। लेकिन कन्हाईसे भी कहीं किसीको संकोच हो सकता है। यह तो लड़ेगा, झगड़ेगा, रूठेगा, रुठायेगा और मान करो तो हाथ जोड़ कर, पैर पड़ कर मना लेगा। झगड़ा हो गया तो—

दूरि करो हरि आपनो गैयाँ।
ना हम चाकर नन्दबाबाके,
ना हम बसत तुम्हारी छैयाँ॥

सखा रुष्ट होगये हैं--,खेलमें हारनेपर दाव नहीं दोगे, यह भी कोई बात है। नहीं रखते तुम्हें हम अपने साथ अपनी गाएँ हमारे समूहसे अलग करलो। हम तुम्हारे बापके नौकर नहीं और तुम्हारी भूमिमें भी रहते नहीं कि तुमसे दबेंगे।' लेकिन इन मित्रोंके बिना अलग तो रहा नहीं जा सकता। कन्हाईको हाथ जोड़ कर, अनुनय विनय करके इन्हें मनाना ही है।

श्रीकृष्णकी सख्य-क्रीड़ा देख कर भ्रम हो गया सृष्टिके निर्माता ब्रह्मा-जीको, 'यह परात्पर परम पुरुष, निखिल ब्रह्माण्ड नायक और इन ग्रामीण गोपोंके मध्यमें बैठा यह इनका जूठा खा रहा है। जिसके मनमें आता है वही अपना दाँतसे कटा आधा ग्रास इसके मुखमें डाल देता है। जिनके प्रसादके कणको मैं तरसता रहता हूँ, वह स्वयं अपना उच्छिष्ट देनेको हाथ बढ़ाता है तो अनेक बार झिड़क दिया जाता है—"मैं नहीं खाता तेरा जूठा" और इतनेपर भी हठ करके झिड़कने वालेके मुखमें वह प्रसाद बलात् ठूस कर ही मानता है।'

> **"यत्पादपांसुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो-**
> **धृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः।**
> **स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः**
> **किं वर्ण्यते दिष्टमतो व्रजौकसाम्॥**
>
> —श्रीमद् भा १०-१२-१२

अनेक जन्मों तक बहुत कष्टसे प्राणोंको वशमें करने वाले योगियोंको भी जिनकी चरणरज दुर्लभ है, वे स्वयं जिनके नेत्रोंके सम्मुख हैं, उनके सौभाग्यका कोई क्या वर्णन कर सकता है।

गोपकुमारोंके सख्य प्रेमके सम्बन्धमें केवल एक बात कहना पर्याप्त होना चाहिए। श्यामसुन्दर व्रज छोड़ कर मथुरा चले गये। उनका सन्देश लेकर मथुरासे उद्धव व्रजमें आये। उन्होंने नन्दबाबा और यशोदा मैयाको समझाया। गोपियोंको समझाने तो आये ही थे; किन्तु गोपकुमारोंसे उन्होंने दो शब्द भी कहे हों, ऐसा कोई वर्णन कहीं नहीं है। ऐसा क्यों? बात दो ही सम्भव हैं—गोपकुमारोंका वियोग देख कर उद्धवका साहस ही नहीं हुआ अथवा गोपकुमारोंको वियोग था ही नहीं। श्यामसुन्दर उनके लिए सदा उनके मध्य ही उन्हें दीखते रहे। दोनों ही अवस्थाएँ उनके प्रेमकी अचिन्त्य महिमा सूचित करती हैं।

———

वात्सल्य-प्रेम

वामन, परशुराम, कपिल जैसे भगवान्‌के अवतारोंमें वात्सल्य प्रेमके लिए अत्यल्प अवकाश है; किन्तु श्रीराम एवं श्रीकृष्णमें तो भरपूर अवकाश है। वात्सल्य भाव इन दोमें-से किसीका आश्रय करके पूर्णता प्राप्त कर सकता है।

वत्सका अर्थ है बछड़ा और वत्सलाका अर्थ है सद्योजात बछड़ेको चाटने वाली गौ। वात्सल्यका अर्थ हुआ उस सद्योजात गौमें जो बछड़ेके प्रति उमड़ता स्नेह है, वह स्नेह। गौ जैसे बछड़ेके शरीरमें लगे रक्त, पीव, मूत्र, मल आदिसे घृणा न करके उलटे उन्हें चाट लेती है और बछड़ेको स्वच्छ बना देती है, उसमे घृणा या उसपर रोष नहीं करती। उसी प्रकार वात्सल्य जिसके प्रति होता है, उसे स्वस्थ, स्वच्छ, गुणागार बना देता है। उसके अभाव, उसके दोष, उसका दौर्बल्य अपने आनन्दका साधन बना लेता है।

बच्चा धूलि कीचड़में लिपटा आया—माताको उसका यह रूप भी भाता है। माता स्नान कर चुकी है—बहुमूल्य वस्त्र हैं उसके; किन्तु वह कीचड़ सने शिशुकी उपेक्षा कर सकेगी? पिता ही उसे गोदमें लेना अस्वीकार कर देंगे।

धूसर धूरि भरे तन आये।
भूपति बिहँसि गोद बैठाये॥

अयोध्याके राज-सदनकी यह अवस्था है तो नन्द-भवनकी तो बात भला क्यों पूछते हैं। वह तो ठहरा ही गोपराजका निवास और वहां गोष्ठमें किलकने, घुटनों सरकने वाले राम-श्यामकी चपलताकी कोई सीमा है।

'पङ्काङ्क लिप्त सकलावयवं विलोक्य दामोदरं वदति कोप वशाद् यशोदा।
त्वं सूकरोऽसि गत जन्मनि पूतनारे इत्युक्त सस्मित मुखो हरि शंतनोतु॥'

मैयाने उबटन-तेल किया। केश सजाये और तनिक छोड़ दिया आँगनमें। दो क्षणमें देखती है तो उसके लाड़लेने एक स्नान कर लिया है—कीचड़ स्नान। अलकोंसे लेकर चरण तक लथपथ और किलक रहा है प्रसन्नतासे तनिक रोष आ गया मैयाको और बोली—'तूने पूतनाको मार

दिया पलनेमें ही तो मैंने समझा था कि तू कोई देवांश होगा, पर तू तो पिछले जन्ममें अवश्य शूकर रहा है।' अब बताइये, मैयाके इस अनजाने सत्यपर कन्हाई अधिक किलक ही तो सकता है।

वात्सल्यकी अद्‌भुत शक्ति है। मुझे लगता है, प्रेमके समस्त भावोंमें यह सर्वश्रेष्ठ, सबसे शक्तिमान है। यहाँ वह सर्वेश्वर न समान रहता, न श्रेष्ठ। वह असमर्थ, पाल्य, पूजक बन जाता है। उसकी सब शक्तियाँ धरी रह जाती हैं। वात्सल्य उस सर्व-शरण्य, सर्व-समर्थ, सर्वज्ञ, सर्व-त्राता-पोषकको शरण देता है, उसको असमर्थ बनाकर उसकी सहायता करता है। वात्सल्यकी गोदमें तो उसे अक्षरज्ञान भी सीखना है और अपनी रक्षाकी भी अपेक्षा है। वात्सल्यका पोषण उसे नित्य प्रिय है—अत्यन्त अभीष्ट है।

सबसे बड़ी बात यह कि वात्सल्य नित्य निष्काम भाव है। दास्यमें सेवक अपनी समस्त आवश्यकताओंके लिए स्वामीपर ही निर्भर है। वह माँगे न माँगे; किन्तु स्वामीको उसका ध्यान होगा ही। सख्यमें आदान-प्रदान दोनों हैं। सखाको अपने सखासे कुछ माँगने कुछ करानेमें हिचक कैसी? माधुर्यमें तो पूरी ही निर्भरता है। पत्नी अपनी आवश्यकता पतिसे कहेगी। तो कहेगी किससे! प्रेयसीको प्रेमास्पदके सुखके लिए ही वस्त्राभरण आवश्यक हैं; किन्तु आवश्यक तो हैं ही। माँगका अभाव यहाँ है नहीं।

वात्सल्यमें माँगको स्थान नहीं। माता-पिता अपने शिशुसे क्या मागेंगे करेंगे क्या जीवनमें उनकी आवश्यकता—अभाव आदि हैं; किन्तु यह उनकी बात है। इसके लिए उनसे जो जैसा बनेगा, करेंगे। शिशुको तो उन्हें देना ही देना है। अपने नंगे-भूखे रहकर भी उस स्नेहपात्रकी आवश्यकता पूर्ण करनी है। इस प्रकार वात्सल्य सर्वथा उत्सर्गका—निष्कामताका परिपाक है।

सच्ची बात यह है कि वात्सल्य प्रेम अपने वास्तविक रूपमें तो भगवानमें ही है। उन आत्माराम, पूर्णकाम, अनन्त सुखस्वरूपको भला कोई जीव क्या देगा? क्या अपेक्षा हो सकती है उन्हें किसीसे? लेकिन सबके रक्षण-पोषणकी सदा सतर्क उनकी व्यवस्था, उनकी यह प्राणिमात्रपर निरन्तर कृपावृष्टि, उनके इस वात्सल्यकी ही छाया जब किसी हृदयमें आ जाती है, वे स्वयं उसके स्नेहका रसास्वादन करनेके लिए लालायित हो उठते हैं और उसके शिशु बन जाते हैं।

श्रीराम अथवा श्रीकृष्ण किसीके वीर्यसे किसीके उदरसे तो उत्पन्न हुए नहीं, न होते। जिसने सच्चे हृदयसे उनके माता-पिता बननेकी कामना की, उनके वे पुत्र बन गये। उन्हें कोई जो चाहे—सच्चे हृदयसे जो बनाना चाहे, बननेको वे नित्य समुद्यत हैं।

यहीं एक बात पूछनेको मन करता है। श्रीराम या श्रीकृष्ण आपके भी तो कुछ बन सकते हैं। कभी सोचा है इसे आपने ? पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक, मित्र-पति अथवा और कोई सखा-सम्बन्धी वे आपके बन सकें—आप उन्हें बनाना चाहें, इस योग्य वे हैं या नहीं ? वापने कभी उन्हें किसी अपनेके रूपमें पानेका मन किया है? अव सोचिये यदि अब तक न सोचा हो।

जब इस प्रकार किसीकी आन्तरिक कामना उस अनन्तको शिशु बना लेती है—शिशु ही तो हो गया वह। फिर उसकी अल्पता, असमर्थता, चपलता—यह सब आनन्द वर्धन करते हैं माता-पिताका। अयोध्याके राजसदनकी एक झाँकी देखेंगे—

'भोजन करत चपल चित, इत उत अवसर पाइ ।
भाजि चले किलकात मुख, दधि ओदन लपटाइ ।।'

और इसी छविपर काकभुशुण्डिने अपनेको अर्पित कर रखा है। वे शिशु रामके समीप मँडराते रहते हैं—

जूठन गिरइ अजिर महँ, सो उठाइ मैं खाउँ।'

यहाँ राजसदनमें धृष्टता अच्छी नहीं लगती। मर्यादा पुरुषोत्तम इतनी ही कृपा क्या कम करते हैं कि—

'दूर जाउँ तब पूप दिखावहिं'

लेकिन नन्दसदनमें तो वह मयूरमुकुटी आया ही छीना-झपटीको प्रोत्साहन देने। उनके लिए—उसके साथ संकोच क्या ? अतः यहाँ काकभुशुण्डिके साहसपर मियां रसखानकी जीभसे पानी टपक पड़ता है—

'काग को भाग कहा कहिये, हरि हाथसे लै गयो माखन रोटी।'

दूसरी ओर लीलाशुकको आश्चर्य हो रहा है—

यद्रोमरन्ध्र परिपूर्ति विधावदक्षा वाराहजन्मनि बभूवुरमी समुद्राः।
तं ना मनाथमरविन्ददृशं यशोदा पाणिद्वयान्तर जलैःस्नपयां बभूव ।।

ये समस्त समुद्र वाराहावतारमें जिनमें जिनके रोमकूपको भर देनेमें भी समर्थ नहीं हुए थे, आज उन्हीं कमललोचनको मैया यशोदाने अपनी अञ्जलि भर जलसे स्नान करा दिया है।

मैया स्नानमात्र करा दे, यह क्या आश्चर्यकी बात है। वह तो इस निखिल लोक नायकको हाथमें छड़ी लेकर धमकाती है और तब यह भयके मारे हिचकियाँ ले लेकर रोता है। इसके बड़े नेत्रोंसे आँसूकी बूँदें काजल लेकर गिर-गिर कर कपोलोंको रंग देती हैं।

मैया धमकाकर ही छोड़ दे तो भी कुशल। वह आप सबके इस अनन्त आप सबके इस अनन्त अपरिमेयको हाथमें रस्सी उठाकर ऊखलसे बाँध देतीहै। देवर्षि इसीसे तो कहते हैं—

'...........निगम वनेषु नितांत चार खिन्ना।'

विचिनुत भवनेषु बल्लवीनां उपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम्।'

वेद-शास्त्र रूपी वनमें भटकते थक गये बन्धुओ! लौटो इधरसे! अरे, तुम्हें उपनिषद प्रतिपाद्य परब्रह्म ही तो चाहिए? तब यहाँ क्यों भटक रहे हो। उस परब्रह्मको ब्रजकी गोपियोंके घरोंमें ढूंढो। लेकिन वहाँ वह सिंहासनासीन, सुपूजित नहीं मिलेगा कहीं ऊखलमें बंधा हुआ।

जितना विवश, उतना ही भोला यह परब्रह्म आप कहते हैं कि यह सर्वज्ञ है और वह नन्द-भवनमें क्या कर रहा है।—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।

किती बार मोहि दूध पियत भइ यह अजहूँ है छोटी॥'

मैयाका यह लाल दूध नहीं पीना चाहता। मैयाने फुसला दिया है— 'दूध पीले तो तेरी दाऊ दादा जितनी लम्बी हो जाय।' अब श्यामसुन्दर दूध पीता जाता है और हाथसे चोटी टटोलता जाता है—'यह बढ़ भी रही है या नहीं।' लेकिन चोटी बढ़ती नहीं पड़ती तो मैयासे खीजता है—'यह चोटी कब बढ़ेगी। मुझे दूध पीते उतनी देर होगयी; किन्तु यह तो अब भी छोटी ही बनी है।'

सर्वज्ञताकी यह दशा है और समदर्शिताको भी कहीं वैकुण्ठ-गोलोकमें धर आये हैं। यहाँ तो बड़े भाई तकसे झगड़ पड़े हैं और मैयासे उलाहना देने रोते हुए दौड़े आये हैं—

'मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायौ।

मोते कहत मोल को लीन्हों, तोहि जसुमत कब जायौ॥'

बात बहुत अनुचित है। कन्हाई भला यह आक्षेप कैसे सहले और ऊपरसे तर्क तथा सारे सखाओंका परिहास—

गोरे नन्द जसोदा गोरी, तू, कत श्याम सरीर।
तारी दै दै हँसत गोप सब सिखई देत बलबीर॥'

मैया मुस्करा जाती है। गोदमें लेकर पुलकित हो उठती है। ग्वालिनकी सबसे बड़ी शपथ गायोंकी शपथ और मैयाका वात्सल्य उमड़ कर वही शपथ करा लेता है—

सूर श्याम मोहि गोधनकी सौं, हौं जननी तू पूत।'

अनन्त जब शिशु बन गया—अनन्त कथा है उसके इस शैशवकी। उसका चापल्य, उसकी परवशता और उसका वह अपरिमित माधुर्य कि—

ताहि अहीरकी छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं

लेकिन कागजके ये पृष्ठ अत्यन्त सीमित हैं। इस कथाको अब छोड़ना ही पड़ेगा।

वात्सल्य प्रेमके परमादर्श महाराज दशरथ और श्रीनन्दराय और मैया यशोदा। महाराज दशरथका वात्सल्य तो अपना उदाहरण ही नहीं रखता। श्रीरामका वियोग उनसे सह्य नहीं हुआ और शरीर छूट गया।

'भूरि भाग दसरथ सम नाहिं।'

दूसरी ओर श्री नन्दबाबाका अनुराग भी अतुलनीय है। वे मथुरासे लौटे हैं। क्रन्दन करती, अस्तव्यस्त मैया यशोदा शोकार्ता पूछती हैं—'कन्हाई नहीं आया तो उसे मथुरा छोड़ कर आप व्रज कैसे आसके ?'

बाबाने नेत्र पोंछे और भरे गलेसे बोले—'भद्रे ! किसी प्रकार प्राण रोक रखे हैं और तुम्हें भी रोकने हैं। प्राण चले जाँय, यह तो बड़ी सुखद बात इस असीम कष्टसे मुक्ति; किन्तु कन्हाई यहाँ आवेगा और हम दोनोंको जब नहीं पावेगा—कितना दुख ! उसके लिए जीना तो पड़ेगा ही हमें।'

कुछ सीमा है बात्सल्यकी। यह वात्सल्य यह भक्ति और इसीलिए परमहंस शिरोमणि शुकदेवजीने घोषणा की है—

नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिका सुतः।
ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह॥

श्रीम.भा. १०-९-२१

ये गोपिका नन्दन भगवान श्यामसुन्दर आत्मानुभव प्राप्त ज्ञानियों के लिए भी वैसे सुखसाध्य-सुखप्राप्य नहीं हैं जैसी सुगमतासे ये भक्तिके आश्रितोंको मिल जाया करते हैं।

※

प्रेमोपासनाकी सिद्धियाँ

सिद्धि क्या है वस्तु ? आप इस बातको समझ लें तो किसी भी आराधना या योगके सिद्धि तत्वको समझना कठिन नहीं होगा।

जो कार्य मनुष्य अपने शरीर एवं बुद्धिकी शक्तिसे निपुणता होने-पर भी न कर सके, उस कार्यको बिना किसी यंत्र या औषधिकी सहायताके संकल्प शक्ति, मन्त्र-शक्ति या देव-शक्तिसे सम्पन्न कर देना सिद्धि है।

जब कोई कार्य औषधि या मन्त्रके सहारे सम्पन्न होता है; किन्तु उस मन्त्र या औषधिके प्रयोगका ज्ञान दर्शकोंको नहीं होता तो वे उसे सिद्धि मान लेते हैं; किन्तु यह भ्रम है। इसे आप छल कहें, हाथकी सफाई कहें, पाखण्ड कहें—कुछ भी कहलें; किन्तु यह सिद्धि नहीं है।

सिद्धि मन्त्र-शक्तिसे आती है, तपस्यासे आती है, मनकी एकाग्रता-से आती है, प्रबल संकल्प बलसे आती है और देवाराधनासे आती है। यहाँ देवतासे मेरा तात्पर्य समस्त अपार्थिव प्राणियोंसे है। इनमें भूत, प्रेत, यक्षिणी, गन्धर्व, सिद्ध-पितर, देवता आदि सब आ जाते हैं।

भगवानकी आराधनासे सिद्धि नहीं आती यह बात तो कोई बज्रमूर्ख भी नहीं कहेगा। क्योंकि—

'सर्वेषामेव सिद्धीना मूलं तच्चरणार्चनम्।'

सम्पूर्ण सिद्धियोंका मूल तो उन परम प्रभुके श्रीचरणोंकी आराधना ही है। ऐसी कोई सिद्धि नहीं है जो भगवानकी आराधनासे प्राप्त नहीं होती।

आराधना एक वस्तु है और प्रेम दूसरी वस्तु है आराधना प्रेमका साधन बन सकती है, क्योंकि उससे चित्त शुद्ध होता है। लेकिन आराधना-के बिना प्रेम होगा ही नहीं ऐसी बात नहीं है। प्रम सर्वतन्त्र स्वतन्त्र साधन साध्य उभय रूप है। उसे अन्य किसी साधनकी अपेक्षा नहीं है। कोई साधन उसे उद्‌बुद्ध करनेका हेतु बन जाय तो स्वयं वह साधन धन्य हुआ। अत: आराधनासे जो सिद्धि प्राप्त हुई, उसे प्रेमकी सिद्धि सर्वथा नही कहा जा सकता।

प्रेमोपासनाकी कोई सिद्धि नहीं। उसकी सिद्धि प्रेमास्पदमें प्रेमकी निरन्तर अभिवृद्धि है। यहां तक कि प्रेमास्पदकी प्राप्ति एवं प्रेमास्पदका प्रेमीके सर्वथा वश होजाना भी प्रेमोपासनाकी सिद्धि नहीं।

ऐसा कोई सिद्ध नहीं—सिद्धियोंके आगार सिद्धि लोकोंके अधिदेवता की बात छोड़िये, निखिल ब्रह्मांड नायक अनन्त अप्रेममय शक्ति परमात्मा-के पास भी ऐसी कोई सिद्धि नहीं जो प्रेमोपासकके पैरोंके नीचे लुढ़कती न हो।

आप कहेंगे कि सर्वथा विरोधी दो बातें एक साथ आप कैसे कहते हैं? लेकिन दोनो बातें प्रेमोपासकके लिए ठीक हैं। प्रेम है ही अटपटा कि उसमें सम्भव-असम्भवके दोनों छोर एक हो जाते हैं।

प्रेमीकी दृष्टि न संसारपर होती, न संसारके वैभव शक्तियोंपर उसकी॰दृष्टि प्रेमास्पदपर होती है। उसमें न तपःशक्ति है, न मन्त्रशक्ति न आराधना शक्ति और न उसका संकल्प बल; किन्तु अपने प्रेष्ठसे हटकर उसका संकल्प अन्यत्र कहाँ स्थिर होता है। प्रेमी तो एक अबोध शिशुके समान है उनके पास न अपना कोई बल है। न अपनी कोई सिद्धि न अपनी शक्ति, अपने संकल्प बलका जहाँ तक प्रश्नहै—उसके पास कोई विशेष शक्ति नहीं। कोई सिद्धि नहीं उसके समीप। वह सामान्य मनुष्योंके समान ही है और वैसे ही सामान्य कार्य ही वह कर सकता है।

शिशुमें कोई शक्ति नहीं–यह बात माननेमें आपको कोई आपत्ति नहीं है। साथ ही यह बात भी आप समझ सकते ही हैं कि वह सब शक्ति शिशुकी है--शिशुके लिए नित्य प्रस्तुत है जो शिशुके माता-पिताके पास है। अब आपको यह समझनेमें कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि प्रेमोपासक-को कोई सिद्धि प्राप्त नहीं होती और समस्त सिद्धियां उसकी सेवामें नित्य सन्नद्ध रहती हैं, यह दोनों बातें सत्य हैं।

प्रेमोपासनाकी सबसे महान सिद्धि यह है कि प्रेष्ठ उसका है वह सर्वेश्वर नित्य प्रेमके हाथों परतन्त्र है। प्रेमके मूल्यमें यह खरीद लिया जाता है और तव उस अनन्त शक्तिकी समस्त शक्तियाँ उसकी अपनी हैं, जिसका स्वयं है।

प्रेमोपासकके पास एक ही शक्ति है, वही शक्ति जो शिशुके पास होती है। वह मचल सकता है, हठ कर सकता है और रूठ सकता है।

उसका अनन्त प्रेमसिन्धु प्रियतम उसके हठका सम्मान करेगा और तब इससे क्या वहस कि वह हठ कैसे है और उसे पूर्ण करनेके लिए सृष्टिके नियमोंमें कितने परिवर्तन होते हैं । यही प्रेमोपासनाका परम सिद्धि तत्त्व है ।

सिद्ध पुरुषकी सिद्धियोंकी एक शक्ति सीमा है । उस सीमामें भी अनेक प्रतिबन्ध हैं । किसी सिद्धका संकल्प जहाँ अपनेसे बलवान संकल्पसे टकरा जाता है या सृष्टि संचालक ईश्वरके किसी महत्त्वपूर्ण विधानसे टकराता है, वहाँ वह व्यर्थ हो जाता है । वहाँ सिद्धकी सिद्धि काम नहीं आती । वहाँ वह दुराग्रह करे तो स्वयं हानि उठाता है । उसकी मृत्यु तक ऐसे दुराग्रहसे हो सकती है ।

प्रत्येक सिद्धिकी सीमा है । जसे एक संत ईंटके टुकड़ोंको मिश्री बना देते थे, रेतको चीनी बना देते थे । बहुतसे वर्तमान जीवित व्यक्तियोंने उनके दर्शन किये हैं । दुर्भाग्यवश गत कई वर्षोंसे उनका कोई पता नहीं है । उन्होंने वताया कि मैं कुछ भी कर लूँ ईंटके पूरे भट्ठे को मिश्री नहीं बना सकता और न गंगाकी एक गाँवके पासकी सब रेतको चीनी ही बना सकता हूँ ।

तीसरी बात यह है कि सिद्ध पुरुष अपनी सिद्धिके प्रयोगका स्वय उत्तरदायी होता है । उस सिद्धिके प्रयोगसे उसकी तथा दूसरोंकी जो हानि होगी उसके पाप-पुण्यका वह स्वयं भागी है । उससे उसका पतन सम्भव है । मुझे एक अच्छे सिद्ध महापुरुषने कहा था—'एक बार भी जीवनमें जिसने सिद्धिका प्रयोग किया, इस जन्ममें उसकी मुक्ति नहीं हो सकती । क्योंकि सिद्धिका प्रयोग व्यक्तित्वके अहङ्कारको पकड़ कर ही होगा और एक बारके प्रयोगमें वह इतना दृढ़ हो जायगा कि यदि सिद्ध अपनी शक्तिका दुरुपयाग करके नरक भागी न भी बने तो भी उसे सिद्ध लोक जाना पड़ेगा और वहाँके कालको समाप्त करके जब पुनः मनुष्य योनि मिलेगी तब कहीं उसे मुक्तिके पथपर जानेका सुयोग प्राप्त होगा ।

प्रेमोपासकके पास अपनी कोई शक्ति, कोई सिद्धि होती ही नहीं । अतएव उसके सम्बन्धमें ऊपरकी कोई बात सङ्गत नहीं बैठती । शिशुके समान प्रेमी भी कभी आग्रह कर सकता है ; किन्तु न उसके आग्रहकी सीमा है और न उसके प्रेमास्पदकी शक्तिकी सीमा ।

यहाँ कोई सिद्धकी बात तो है नहीं । वे परम प्रियतम सर्वज्ञ हैं, सर्वसमर्थ हैं, दयामय हैं । अपने अज्ञानवश शिशु कोई अनुचित हठ करे,

कोई ऐसा दुराग्रह करे जिसमें उसकी हानि हो, उसे चोट लगनेका भय हो—माता उस हठको पूरा करेगी ? जिस आग्रहके पूर्ण होनेमें प्रेमीके पतनकी तनिक भी सम्भावना हो, उसके लौकिक-पारलौकिक हितकी हानि होती हो—वह आग्रह तो पूर्ण होनेसे रहा । फिर शिशु कितना रोता-चिल्लाता, हाथ-पैर पटकता है, इससे होता क्या है ? मातासे अनजाने भूल हो सकती है ; किन्तु वह सर्वज्ञ तो भूल किया नहीं करता । अतएव ऐसी दशामें प्रेमीका आग्रह सदा असफल रहता है ।

प्रेमोपासकका कोई आग्रह—कोई बहुत अद्‌भुत आग्रह पूर्ण होता है । वह नरसी भगतकी हुण्डी स्वीकारना हो या मीराका विष-पान—चमत्कार कितना बड़ा हुआ, इसकी चर्चा अकारण है यह चमत्कार किसने किया ? प्रेमीके व्यक्तिगत अहंमें तो शक्ति है नहीं और जब चमत्कारका हेतु सर्वेश्वर सर्वात्मा है, प्रेमोपासकको कोई बन्धन या बाधा हो कैसे सकती है ?

अनेक बार प्रेमोपासकका कोई सङ्कल्प—कोई आग्रह कोई इच्छा तक नहीं होती और अद्‌भुत चमत्कार हो जाते हैं । प्रायः ऐसा होता है । लोग समझते हैं कि यह उसकी सिद्धि है और वह चौंकता है । जैसे माता बिना माँगे भी बच्चेको खिलौने देती है, उसे बहुमूल्याभरण पहिनाती है, उसकी सुरक्षाकी व्यवस्था करती है—अपने प्रिय प्रेमीके लिए वह प्रेमास्पद भी यह सब करता रहता है । वह रक्षा करता है अद्‌भुत ढङ्गसे और अद्‌भुत ढङ्गसे उसके सुख-यश आदिको बढ़ाता है । यह सिद्धियाँ नहीं—प्रेष्ठके स्नेहका आशीर्वाद है ।

अब सङ्घर्षकी बात लीजिये । आप एक बालकसे रुष्ट होकर उसे पीटनेको उद्यत होते हैं । बालक निश्चय आपसे अत्यन्त दुर्बल है; किन्तु आपने यह भी सोचा है कि बालकके पीछे जो उसका पहलवान पिता खड़ा है वह आपके हाथको उठते ही तोड़ दे सकता है । कदाचित बालकको पता भी न लगे कि आप रुष्ट हैं और उसे पीटने जा रहे थे ; किन्तु आप अपनी सोचिये ?

एक प्रेमोपासक और एक महासिद्ध अथवा देवराज इन्द्र या यमराजमें ठन ही जाय—हारेगा कौन ? प्रमोपासक निश्चय अत्यन्त दुर्बल है अपनी शक्तियोंकी दृष्टिसे वह अत्यन्त सामान्य मनुष्य है ; किन्तु कदाचित उसे पता भी न लगे कि कोई महाशक्ति या सिद्ध उसे हानि पहुँचाने जा

रहा था। उसका जो संरक्षक है, वह न प्रमाद करता है और न विलम्ब। सबसे बुरी बात विपक्षके लिए यह है कि उस दयामय, क्षमासिन्धुको ऐसे समय दया-क्षमा सब भूल जाती है। वह अपनी प्रेमी-अपने भक्तके अपराधी-को इच्छा करनेवाले तकको क्षमा नहीं करता। इस प्रकारकी क्षमा उसने सीखी ही नहीं।

यह सब तो प्रेमोपासनाकी सिद्धियाँ नहीं हैं। यह तो प्रेष्ठके स्नेह—वात्सल्य आत्मीयताके उपहार हैं। प्रेमोपासनाकी अपनी कुछ सिद्धियाँ भी हैं और उनकी चर्चा होनी चाहिए। भाव-विकार तथा भाव भूमियोंकी प्राप्ति प्रेमोपासनाकी सिद्धियाँ आप मान सकते हैं।

प्रेमकी अभिवृद्धिके साथ प्रेमास्पदका रूप हृदयमें आता है—आने लगता है और वहीं बस जाता है।

दिल के आइनेमें है तस्वीर यार। जब जरा गर्दन झुकाई देखली॥

उस सौन्दर्य घनकी देह एवं माला-चन्दन आदिकी सुरभि आने लगती है। उसके नूपुर-कंकण-किंकणीकी ध्वनि सुनाई पड़ती है। उसका अङ्ग स्पर्श मिलता है। क्रमशः वह नेत्रोंके सम्मुख प्रत्यक्ष होने लगता है। उसके साथ बात-चीत, खाना पीना, उठना-बैठना—सब व्यवहार होता है।

वह प्रेमास्पद सर्वथा अपना हो जाता है। उसमें और अपनेमें एकत्व हो जाता है। बाहर भीतर जहाँ दृष्टि जाती है। वही-एक मात्र वही रह जाता है।

इस प्रकार प्रेमोपासनाकी ये सिद्धियाँ हैं। प्रेमास्पदके क्रमशः मानसिक साक्षात्कारसे लेकर बढ़ते हुए उसके अभेदकी प्राप्ति प्रेमके द्वारा होती है। प्रेम ही प्रेम रह जाता है—केवल प्रेम।

× × ×

प्रेम-पथके रोड़े

बहुत रोड़े हैं इस पथमें, यह बात ठीक है। यह सहज-सरल, सुगम सुचिक्कन और खूब चौड़ा राजपथ नहीं है।

'प्रेम गली अति साँकरी, तामें द्वै न समायँ।'

बहुत संकीर्ण मार्ग है। इसमें आप साथी बनाकर नहीं चल सकते। प्रेमास्पदके पास अकेले जाना पड़ता है उसे प्रतिद्वन्दी सह्य नहीं। अतः हृदयसे जब तक सबको एकदम अर्धचन्द्र न दे दिया जाय वह उसमें आनेसे रहा।

'जो मैं ऐसा जानती, प्रीत किये दुख होय।
नगर ढिंढोरा पीटती, प्रीति करै जनि कोय॥'

यह प्रेम-दीवानी मीराका उद्‌घोष है और संतश्रेष्ठ कबीरदासजी तो इस मार्गमें पद रखनेकी प्रथम शर्त ही बहुत बीहड़ बताते हैं—

सीस उतारै भुईं धरै तापर राखै पावं।

मेरा तात्पर्य आपको डरा देने या हताश कर देनेमें नहीं है। मैं तो यह बताने चला हूँ कि वे कौनसे रोड़े हैं, जिनके कारण इस पथको इतना बीहड़ कहा जाता।

१— सबसे बड़ा और महान रोड़ा—रोड़ा नहीं, मार्गका अवरोधक पर्वत है काम।

'जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहुँक रहि सकहि, रवि रजनी इक ठाम॥'

अपने सुख, अपनी इन्द्रियतृप्ति, अपने सम्मानकी जहाँ कामना है, वहाँ प्रेम अभी बहुत दूर है। प्रेमास्पदसे अपने लिए कुछ नहीं चाहिए और कुछ चाहिए भी तो इसलिए कि उससे उसे प्रसन्नता होगी। इस प्रकार कामना-मात्र प्रेमके पथको अवरुद्ध करने वाली है।

२—दूसरा रोड़ा है—यह भी पथका महापर्वत ही है—लोकापवादका भय। लोग क्या कहेंगे—यह शंका न जप करने देती, न कीर्तन। न पूजा करने देती, न सदाचारका पालन और जहाँ यह दूसरे रूपमें आती है—जप,

कीर्तन, पूजन आदि दम्भ बनने लगता है। घरपर पूजा होगी पाँच मिनटमें तो लोगोंके बीच पहुँचनेपर घण्टे-पौन घण्टे लगने लगेंगे।

लोग प्रशंसा करें, सम्मान करें, श्रेष्ठ समझें महात्मा समझें और प्रेमी समझें तथा लोग पुजारीजी, भगतजी कहकर परिहास न करें, असभ्य-अशिष्ट न मानें, यह दोनों ही प्रकार एक ही यशेच्छाके दो रूप हैं ये दोनों रूप प्रेमके बाधक हैं। लोग पागल समझें या पुजारी, लोग दम्भी समझें या महात्मा—लोग कहते और समझते क्या हैं, इससे दृष्टि जब तक हटेगी नहीं, प्रेमास्पदपर वह कैसे स्थिर होगी। प्रेम और लोकेषणका भला क्या साथ ?

३—तीसरा बड़ा रोड़ा है प्रमाद–प्रेमीके लिए शौचाचारकी क्या आवश्यकता ? वह संध्या-पूजन, पूजा, पितर-देवताका पूजन और दूसरे कर्मकाण्डके झगड़ोंमें क्यों पड़े ? अरे—

'सन्ध्यावन्दन भद्रमस्तु भवतां भो स्नान तुभ्यं नमः।
भो देवाः पितराश्च तर्पणविधौ नाहं क्षमः क्षम्यताम् ॥
यत्र क्वापि निषद्य यादवकुलोत्तंसस्य कंस द्विषः।
स्मारं स्मारमघं हरामि तदलं मन्ये किमन्ये न मे ॥'

हे सन्ध्या-वन्दन! आपका कल्याण हो। हे स्नान ! तुमको नमस्कार। हे देवता और पितरो ! तुम्हारा पूजन-तर्पण करनेमें मैं समर्थ नहीं हूँ, मुझे क्षमा करो। चाहे जहाँ कहीं बैठकर यदुकुल शिरोमणि कंसारि श्यामसुन्दर-को बार-बार स्मरण करके मैं अपने पापोंको नष्ट कर देता हूँ—इतना ही मेरे लिए मुझे पर्याप्त लगता है और उपायोंसे मुझे क्या प्रयोजन ?

धन्य है वह जिसकी ऐसी अवस्था होजाय। जिसका हृदय निरन्तर प्रियतमके चिन्तनमें लगा रहे, उसे सचमुच कोई दूसरी क्रिया अपेक्षित नहीं है ; किन्तु निरन्तर प्रियतमका चिन्तन तो चले नहीं चिन्तन चले संसारका, गप-शप ; टहलना घूमना और दूसरे काम चलते रहें एवं प्रेमका नाम लेकर सन्ध्या-पूजादि छोड़ दिया जाय तो इसे प्रमाद कहते हैं और यह प्रेमके पथका महाविघ्न है।

लाख-करोड़ मनुष्योंमें एक-दो ऐसे अपवाद योगी महात्मा मिल सकते हैं, सुने-देखे जाते हैं जो कभी स्नान नहीं करते। शरीरको स्वच्छ करनेका कोई उपाय नहीं करते ; किन्तु उनके शरीरसे दुर्गन्धिके स्थान पर उत्तम गन्ध आती है और वे स्वस्थ रहते हैं। लेकिन इस बातको आदर्श बनाकर

जो स्नान छोड़ देगा उसका क्या होगा ? उसका जप, कीर्तन क्या उसे चर्म-रोगसे बचा लेगा ?

सन्ध्या, पूजन, शौचाचार, देवता-पितर आदिके विहित तर्पण—ये सब आन्तरिक शुद्धताके साधन हैं। एक प्रकारके ये आन्तरिक साधन हैं। प्रेममें अहर्निशि डूबे महापुरुष तो स्नान न करनेवाले महापुरुषों जैसे अपवाद हैं ; किन्तु जब कोई साधक इन आन्तरिक शुद्धताके कार्योंको भजन-कीर्तनादिके नामपर छोड़ देता है तो यह प्रमाद होता है। इस प्रमादसे चित्तकी मलिनता बढ़ती जाती है और तब भजन-कीर्तनमें भी अरुचि होने लगती है। वासनाएँ बलवान बनती हैं, आलस्य बढ़ता है, कीर्तनादिसे मन ऊबने लगता है और अनन्तः वे भी या तो छूट जाते हैं या नाममात्रको रह जाते हैं।

४—तीसरा रोड़ा है अभिमान। प्रेमीमें किसी प्रकारका कोई बड़प्पनका अहंकार आया और बेड़ा डूबा ; क्योंकि अहंकार तो उसे प्रेष्ठको अच्छा लगता ही नहीं।

जन्मैश्वर्यश्रुत श्रीभिरेधमानमदः पुमान्।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चन गोचरम् ॥

—श्रीम० भा० १-८-२६

उच्च वर्ण एवं जातिमें उत्पन्न होनेका अहंकार, बहुत विद्या तथा वेद शास्त्रके अध्ययनका अहंकार बहुत साधन-भजन, तपस्याका अहंकार और धन-जन-पद आदिका अहंकार—इनमें-से कोई अहंकार जिनका बढ़ गया है, हे प्रभु ! आप अकिञ्चनोंको दर्शन देनेवाले हैं, ऐसे अहंकारी तो आपका नाम लेने तकके अधिकारी नहीं।

हम ब्राह्मण हैं, बाजपेयी या और उच्च ब्राह्मण अथवा हम विरक्त, त्यागी, सन्यासी, ब्रह्मचारी हैं—यह जाति और वर्णका अभिमान। हमने इतना अध्ययन किया, इतने वेद-शास्त्र पढ़े, इतना कण्ठ है इतने बढ़े विद्वान मुझे श्रेष्ठ मानते हैं, अभी अमुक विद्वानको मैं दस वर्ष पढ़ा सकता हूँ—यह विद्याका अभिमान। मैंने इतने पुरश्चरण किये, इतना जप किया, इतनी लम्बी समाधि हम लगा लेते हैं, इतना साधन-भजन करते हैं, ये दूसरे सब तो विषय-लिप्त पामरप्राणी हैं, तुच्छ हैं—यह सब तपका अहंकार और धनका, बलका, जनशक्तिका, पदका अहंकार लक्ष्मीका अहंकार है। ये सबके सब अहंकार प्रेमके विपरीत ले जाने वाले हैं। प्रेमके बाधक हैं ये।

'तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥

प्रेमके पथिकका स्वरूप एवं कर्तव्य बतलाते हुए श्रीचैतन्यमहाप्रभुने यह आदेश किया है। मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतंगकी चर्चा छोड़िये—तृणसे भी अत्यन्त तुच्छ-हीन अपनेको माने, इतनी विनम्रता होनी चाहिए। वृक्षकी भाँति सहिष्णु—सर्दी-ग्रीष्म-वर्षा कुछ आवे, कोई पत्थर मारे, कोई काट डाले ; किन्तु उस अपकारीको भी छाया, पुष्प, फल या काष्ठ ही देगा—रोष, क्षोभ, उद्वेगका नाम नहीं, इतनी सहिष्णुता होनी चाहिए। स्वयं कभी, कहीं, किसीसे सम्मान न चाहे ; किन्तु दूसरोंका सम्मान करनेमें तनिक भी उपेक्षा न दिखाने वाला—इस प्रकार अपनेको रखते हुए सदा-निरन्तर श्रीहरिका कीर्तन-स्मरण करने योग्य है।

५—प्रेम-पथका पाँचवाँ रोड़ा है, प्रेममें सन्तोष, प्रेमका भान और कथन। वह प्रेमी नहीं है, जिसको यह लगता है कि उसमें कुछ प्रेम है! प्रेममें अनन्त प्यास है। उसमें परितृप्ति है ही नहीं। प्रेमीको कभी लगता नहीं कि उसमें प्रेमका लेश भी है। प्रेमकी परम साम्राज्ञी श्रीराधाके सम्बन्धमें कहा गया है—

प्यास ही को रूप मानौ प्यारी जो को रूप है।

अतएव प्रेममें सन्तोष नामकी कोई वस्तु ही नहीं। श्रीभरतलालजी कहते हैं—

चातक रटनि घटे घटि जाई।
बढ़े प्रेम सब भाँति भलाई ॥

प्रेमका कथन तो सर्वथा ही उसका बाधक है। वह हृदयकी निधि तो हृदयमें सुरक्षित रहती है, तभी तक हृदयको प्रकाशित करती है।

प्रेमाद्वयं रसिकयोरिव दीप एव
हृद्व्योम भासयति निश्चलमेव भाति।
द्वारावयं बदनतश्च बहिर्गतं चेद्—
निर्वाति दीपमथवा तनुतामुपैति ॥

आद्वय प्रेम तत्व जो रसिकजनोंके हृदयमें रहता है, निश्चय दीपककी भाँति है। जब तक हृदयरूपी घरमें यह प्रेम-दीप है तब तक स्वयं सुस्थिर रहता है और हृदयाकाशको प्रकाशित करता रहता है ; किन्तु यदि मुखरूपी द्वारसे इस दीपकको बाहर किया गया तो यह दीपक या तो बुझ ही जायगा अथवा क्षीण-चंचल होजायगा।

प्रेम-पथके ये पाँच महा बाधक पर्वत हैं । इन पर्वतोंकी शिलाएँ रोड़े असंख्य हैं इनमें-से प्रत्येककी सहस्रश: शाखायें हैं । जैसे कामके कोटि-कोटि रूप आप जानते ही हैं ।

'गृह कारज नाना जंजाला ।'

ये सब काम-शैलके ही विस्तार हैं । कामके साथ ही क्रोध-लोभ-मोह-को भी गिन लेना चाहिए । क्योंकि यह सब कामके ही भाई तथा परिवार हैं । कामनाकी पूर्तिमें बाधा पड़नेपर क्रोध होता है और पूर्ति हो जाय तो उस प्राप्तिको अधिकाधिक पानेका लोभ बढ़ता जाता है । क्रोध और लोभ दोनों बुद्धिकी विवेक शक्तिको नष्ट करके मोह उत्पन्न करते हैं ।

लोकापवादके भयके कितने रूप हैं, इसकी संख्या कर पाना भी कठिन है । लोकापवादका भय जप करनेकी प्रेरणा भी दे सकता है और जप छोड़नेकी प्रेरणा भी । सच्ची बात यह है कि निन्दा-प्रशंसाके लिए अमुक कामका निर्धारण नहीं हो सकता । चोरी निन्दित कर्म है ; किन्तु चोरोंके समूहमें वही प्रतिष्ठा पाता है जो निपुण चोर हो । देश काल, समाज तथा अपनी रुचिके अनुसार निन्दा-प्रशंसाके कार्य एवं उनके स्तर बनते हैं । अत: आप स्वयं ही जान सकते हैं कि आपका कौनसा कार्य स्वाभाविक है और किसमें कितना अंश दूसरोंकी दृष्टिमें अच्छा कहलाने अथवा बुरा न कहे जानेसे बचनेके प्रयत्नके रूपमें है ।

प्रमादकी तो बात पूछिये ही मत । उसके तो असंख्य रूप हैं । आप निरन्तर जागरूक नहीं रहेंगे, तो कहीं न कहींसे वह घुस पड़ेगा । आज जरा शीघ्रता है—तनिक जल्दी-जल्दी पाठ या पूजा करलें । यह बीमार मरा तो जाता नहीं, दूकानसे लौटकर दवा दिला देंगे । आज वर्षामें इस समय मन्दिर जानेका नियम रुक सकता है, शामको चले जायँगे—प्रमादके रूपोंका कोई ठिकाना नहीं है ।

यही बात अहंकारके सम्बन्धमें कही जा सकती है । हमारा अहंकार पद-पदपर हमें दूसरोंसे श्रेष्ठ दिखाता है और कार्यसे न सही, मनसे हम उनका तिरस्कार करते हैं उन्हें छोटा मानते हैं । 'सीयराम मय सब जग' की भावना दृढ़ हुए बिना यह अहंकार जाता नहीं है ।

इस प्रकार प्रेम-पथके बाधक ये पाँच महापर्वत हैं और इनके खण्डो-पखण्ड रूप रोड़े असंख्य हैं । इन पाँच, पर्वतोंको पार करके ही प्रेमका पथिक अपने पुण्य पथपर प्रगति कर पाता है ।

प्रेमकी भाव-भूमियाँ

जैसे ज्ञानकी सात भूमिकाऐं शास्त्र बताते हैं, वैसे ही प्रेमकी भी कुछ भूमिकाऐं अथवा भाव-भूमियाँ हैं। इसका अर्थ है कि प्रेमोपासककी प्रारम्भसे चरमावस्था तक कुछ विशिष्ठ चित्तकी दशाऐं होती हैं। उन विशेष अवस्थओंको ही भाव-भूमि कहा जाता है।

यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक चित्त सभी भाव-भूमियोंमें होकर ही प्रगति करे। प्रेमकी तीव्रता-मन्दताके अनुसार तथा पूर्व जन्मके संस्कारोंके अनुसार किसीमें कुछ अवस्थाए नहीं भी आ सकती हैं। यह भी हो सकता है कि कोई एक अवस्था आनेके पश्चात् मध्यकी कई अवस्थाओंको छोड़ कर अत्युच्चावस्था प्रकट होजाय।

कोई चित्त किस भाव भूमिमें कितनी देर रहेगा, :आगेकी अवस्था कव-कितने समय बाद प्रकट होगी—इसका कुछ निश्चित् नियम नहीं है। प्रेमकी आवेगावस्था शिथिल हो तो पीछेकी अवस्थाओंमें भी चित्त लौट सकता है। 'प्रेममें नेम नहीं' वाली बात सर्वथा सत्य है। अतः अमुक क्रम, अमुक समय आदि कोई भी नियम यहाँ है नहीं।

भगवत्प्रेमका मूल श्रद्धा-विश्वास है कि क्योंकि लौकिक प्रेममें व्यक्ति-प्रेष्ठ प्रत्यक्ष होता है, अतः वहाँ श्रद्धा या विश्वासका प्रश्न नहीं उठता। लेकिन भगवत्प्रेम तो सुने हुए भगवान्में विश्वास एवं श्रद्धा होनेपर ही होगा। अतः उपासना तथा प्रेमके लिए प्रारम्भमें ही ये विश्वास अनिवार्य रूपसे आवश्यक हैं—

१ – भगवान् है।

२—भगवान् मनुष्यको प्राप्त होते हैं।

३—भगवान मुझे भी प्राप्त हो सकते हैं।

४—मैं इस जन्ममें भगवानको प्राप्त कर सकता हूँ।

इन चारमें-से यदि एक भी शिथिल हुआ तो प्रेममें बाधा पड़ेगी और उपासना शिथिल होजायगी। उपासना इन चतुर्धा विश्वासोंके रहने पर चलती है; किन्तु प्रेम इतने हीसे अंकुरित नहीं हुआ करता। वह ये निश्चय भी प्रारम्भमें ही चाहता है।

१—भगवान सर्वत्र हैं। सर्वज्ञ हैं, सर्व समर्थ हैं।

२—भगवान मंगलमय हैं। दयामय हैं। सबका कल्याण ही करते हैं।

३—सबपर भगवानकी नित्य असीम कृपा है।

४—किसीकी उपेक्षा भगवान कभी नहीं करते।

पहिले चतुर्धा विश्वासोंके होनेपर उपासनाकी भूमि प्रस्तुत हो जाती है और दूसरे चतुर्धा विश्वासोंके होनेपर उपासना पुष्ट होती है तथा चित्त-भूमि प्रेमके अंकुरित होनेके योग्य होजाती है।

१—भगवान सदा मेरे समीप हैं। वे मुझसे दूर कभी नहीं रहते।

२—भगवान सदा मुझे देखते रहते हैं। मैं उनकी दृष्टिसे ओझल कभी नहीं हो सकता।

३—भगवानकी मुझपर सब समय, सब अवस्थाओंमें असीम कृपा है।

४—भगवान मुझे अपना जानते हैं। मेरे मंगलका विधान सदा करते रहते हैं।

जैसे ही दूसरी श्रेणीके चतुर्धा-विश्वास पुष्ट होते हैं, उनके निश्चित परिणामके रूपमें ये तृतीय श्रेणीके चतुर्धा विश्वास हृदयमें स्वतः जागृत होने लगते हैं। सबके लिए, सबके सम्बन्धमें भगवान जैसे हैं, अपने लिए भी तो वे वैसे हैं। अतः अपने प्रति भगवानकी कृपा एवं मंगलमयताका विश्वास हृदयमें आने लगता है और इन विश्वासोंके साथ ही भगवत्प्रेमका ज्योतिर्मय दिव्य अंकुर हृदयमें प्रकट होता है। यह प्रेमकी प्रथम भाव-भूमि है।

भगवत्कृपा अपनेपर है और भगवान् नित्य समीप हैं, सदा अपने लिए मंगल-विधान करते हैं; जैसे जैसे यह विश्वास दृढ़ होता है भगवत्कृपाकी अनुभूति होने लगती है। विश्वाससे अनुभव होता है और अनुभवसे प्रेम पुष्ट होता है।

१—भगवान मेरे हैं।

२—केवल भगवान ही मेरे अपने हैं।

३—भगवान ही मेरे सच्चे हितैषी हैं।

४—मैं एक मात्र भगवानपर ही आश्रित हूँ।

आप कह सकते हैं कि प्रेमकी दूसरी भाव-भूमि हो गयी । इस अवस्थामें आकर भगवत्कथा, भगवन्नाम जप-कीर्तन प्रिय लगने लगता है। भगवान्के भक्त अपने स्वजन जान पड़ते है। सांसारिक विषयोंके प्रति उपेक्षा होने लगती है और कोई भी कष्ट, कोई भी विपत्ति, कैसी भी विपन्नावस्था चित्तको क्षुब्ध नहीं करती ।

१—मैं भगवानका हूँ ।

२—मैं एक मात्र भगवानका ही हूँ।

३—मुझे भगवानका केवल प्रेम चाहिए ।

४—भगवानके अतिरिक्त मुझे कुछ नहीं चाहिए ।

प्रेमकी यह तृतीय भाव भूमि होगई । यहाँ 'तदीयत्व' पूर्णताकी ओर बढ़ जाता है। वैराग्य पुष्ट हो जाता है। लौकिक कर्मोंसे, लौकिक चर्चासे, लौकिक सम्बन्धसे अरुचि हो जाती है। इन्द्रिय भोगोंकी वासना लुप्त तो हो ही जाती है, भोगोंमें वितृष्णा हो जाती है, वे दुःखद जान पड़ते हैं। उनमें एक प्रकारकी दुर्गन्धि आने लगती है ।

१—भगवानको पाये विना जीवन व्यर्थ है ।

२—प्रभु कब कृपा करेंगे, कब मिलेंगे ।

३—कितने दिन बीते प्रभुके विना ।

४—भगवानको देखे विना अब जीवन नहीं ।

यह चतुर्थ भाव भूमि हुई । प्राण तड़प उठे । जीवन जैसे अब एक क्षण नहीं रहेगा, यदि वह प्राणधन न आया । तीव्र उत्कण्ठा "असीम अभीप्सा, प्रचंडतर प्यास । कैसे विषय, कहाँका संसार-शरीरकी सुधि नहीं । रुदन-प्रलाप, मूर्छा । न जल अच्छा लगता, न भोजन । नींद भाग गयी और जैसे प्राण भाग जानेको उद्यत हैं। भगवान ! भगवान ! भगवान ! और इसी अवस्थामें—इस चतुर्थभाव भूमिके पुष्ट होने पर ही भगवद्दर्शन होता है। जीवन धन्य होगया कृतकृत्य हो गया प्राणी ।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना है कि इस चतुर्थ भाव-भूमिसे पूर्व भी अनेक प्रकारसे भगवद्दर्शन होता है; किन्तु सच पूछिये तो वह दर्शनकी भ्रान्ति ही होती है ।

भगवद्दर्शनके पश्चात् भगवत्भक्त अपने प्रभुके हाथका यन्त्र हो गया । उसकी अहंता समर्पित हो गयी । अब उसकी क्या अवस्था रहेगी, वह क्या करेगा, कैसे रहेगा, यह सब उसका प्रेष्ठ जाने ।

१—बड़े दुःखी हैं संसारके नश्वर भोगोंमें लिप्त प्राणी।

२—अज्ञानवश ये अपने परम हितैषीसे विमुख हैं और सुखकी आशासे ऐसे कर्म करते हैं जो बराबर इनके दुःख एवं बन्धनको बढ़ा रहा है।

३—इनको सुपथ प्राप्त होना चाहिए।

४—इनको भी भगवत्प्रीतिकी उपलब्धि होनी चाहिए। यह करुणा भगवत्प्रेमीमें भगवद्दर्शनके पश्चात् जागृत हो सकती है, यदि भगवानको उसके द्वारा लोकोद्धारका कार्य लेना है। आवश्यक नहीं है कि यह करुणा सभी भगवद्दर्शन प्राप्त भक्तोंमें जागृत हो। प्रायः अधिकांशमें नहीं जागृत होती। क्योंकि वे जानते हैं कि लोक संचालक भगवान सर्वसमर्थ हैं और मंगल उनकी इच्छासे सहज हो सकता है। लेकिन कुछ महापुरुषोंमें यह करुणा जागृत होती है और वे उसके अनुसार प्रयत्न करते हैं। यह आचार्यत्वकी पाँचवीं भावभूमि है।

एक बात यहाँ स्पष्ट कर देनी है कि लोकमंगलका संकल्प एवं प्रयत्न भगवद्दर्शन प्राप्त महापुरुषके लिए ही उपयुक्त है। जो साधक है-भगवत्प्रेमके पथका पथिक है, वह लोकमंगलके प्रयत्नमें लगता है तो भटक जायगा। उसको आगे जाकर यशेच्छा, भोगेच्छा एवं व्यक्तित्वका अहंकार अपने भीतर जकड़ लेगा। उसकी दृष्टि लोकपर नहीं, अपने आराध्यपर रहनी चाहिए। यह भी आराध्यकी सेवा है—यह उसके लिए झूठा प्रलोभन है। अणु अणुमें—समस्तलोकमें जब तक उस प्रियतमका प्रत्यक्ष दर्शन न होने लगे—लोक सेवा, भगवत्सेवा बन नहीं पाती, यद्यपि है वह भगवत्सेवा ही। अतः साधकको इस प्रवञ्चनासे बचना है।

प्रायः पाँचवीं और सातवीं भावभूमियाँ क्रमसे नहीं आतीं। जिनमें पाँचवीं आती है, उनमें प्रायः वही स्थिर हो जाती है। छटवीं भावभूमि प्रायः उनमें आती है चतुर्थके पश्चात् जिनमें लोकमंगलकी वृत्ति नहीं होती। जो आचार्यत्व ग्रहण नहीं करते।

१—भगवान मेरे हैं। मेरे अपने हैं। उनपर मेरा स्वत्व है।

२—अणु-अणुमें वही हैं। प्रत्येक प्राणि-पदार्थ वही हैं।

३—ये मेरे प्रियतम मुझे प्रसन्न करनेको यह सारा अभिनय कर रहे हैं।

४—मुझपर असीम प्यार है उनका और मैं उनसे भिन्न हूँ ही कहाँ।

ये भाव नहीं—अनुभव होते हैं। इन्हें प्रत्यक्ष साक्षात्कार होता रहता है। दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्यमें-से जो भाव प्रेमीका हो, उसके भावके अनुसार भगवान उससे प्रत्यक्ष व्यवहार करने लगते हैं।

शरीरकी सुधि कभी रहती है, कभी रहती ही नहीं। देहकी विस्मृति बढ़ती जाती है। दिव्य-भाव विकार बार-बार आते हैं। संसारकी प्रतीति कभी-कभी होती है। भगवत्-लीला, भगवत्-लोक बार-बार प्रत्यक्ष होता रहता है।

भगवत्प्रेमकी यह छटवीं भाव भूमि है। इस अवस्थामें भगवद् भक्त कभी इस संसारका अनुभव करता है और सामान्य व्यवहार करता है और कभी इस शरीर एवं संसारको विस्मृत हो जाता है। उसे भगवत्-लोला प्रत्यक्ष दीखती है। वह उसका दर्शक नहीं, उसमें सम्मिलित है। उसके अनुसार वह व्यवहार करने लगता है।

रुदन-क्रन्दन, हास्य-नृत्य, रूठना, मनाना आदि अद्भुत बातें इस अवस्थामें चलती हैं। सामान्य जनोंको वह महापुरुष उन्मत्त लगता है। उसकी चेष्टा एवं क्रियाको पागलपन कहनेके अतिरिक्त और कोई समाधान लोगोंके पास नही है।

अन्तिम सप्तम भावभूमिका वर्णन सम्भव नहीं है। वह कब आयी—जनता भी कठिन है। इसमें-से उत्थान नहीं होता। अधिकसे अधिक २१ दिन इसकी प्राप्तिके पश्चात् शरीर रहता है, फिर देह गिर जाता है। इस अबस्थाकी प्राप्तिके पश्चात् इस दृश्य जगतका स्मरण होता ही नहीं। अपने प्रियका नित्य साक्षात्कार-अखण्ड मिलन ! शब्द इसके आगे कुछ बतानेमें असमर्थ हैं।

—×—

प्रेमके भाव विकार

एक बात प्रारम्भमें ही स्पष्ट कर देनी है कि जो भी भाव विकार हैं, सब जड़ हैं; क्योंकि उनका सम्बन्ध केवल शरीर और मनसे है। शरीर जड़ है—केवल स्थूल शरीर ही नहीं, स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों ही शरीर और मन सूक्ष्म शरीरका ही अंश या कारण हैं।

दूसरी बात यह है कि जिन भाव-विकारोंका वर्णन कहीं भी मिलता है, वे मनके भाव-विकार हैं। उन्हें प्रेमके भाव-विकार कहनेकी प्रथा हो गयी है। अन्यथा मनमें जो भी प्रबल भाव आते हैं—आ सकते हैं उनमें-से किसी भी शरीरमें वे विकार प्रकट हो सकते हैं। प्रेमके सभी भाव विकार काम, क्रोध, मोह, शोकसे भी शरीरमें प्रकट हो सकते हैं। अतः शरीरमें कोई विकार देख कर यह नहीं कहा जा सकता कि यह व्यक्ति प्रेमी ही है।

भाव-विकारका अर्थ समझ लीजिए। मनमें कोई प्रबल भावना आती है तो स्थूल शरीरपर उसका प्रभाव पड़ता है। उस प्रभावसे शरीरमें कुछ चिह्न प्रकट होते हैं। क्योंकि स्वस्थ सामान्य दशामें वे चिह्न शरीरमें नहीं रहते, अतः उन चिह्नोंको विकार कहते हैं। किसी भावनाने उन्हें प्रकट किया है इसलिए उनको भाव-विकार कहा जाता है।

मुख्य भाव-विकार छः माने गये हैं। १. अश्रु, २. स्वेद, ३. कम्प, ४. रोमाञ्च, ५. मूर्छा, ६. मृत्यु। अब इनपर पृथक-पृथक विचार करना ठीक होगा।

१ अश्रु—यह सर्व प्रथम विकार है। मनमें प्रेम, काम, द्वेष, शोक आदि आनेपर नेत्रोंमें आँसू आ जाते हैं। जो अधिक भावुक हैं, उनके नेत्रोंसे अश्रु बहुत साधारण बातपर धारा प्रवाह चलने लगते हैं। लेकिन अश्रु धोखा बहुत देते हैं। नेत्रोंमें कड़वा तेल, लालमिर्च, धुआँ लग जाय या लगा लिया जाय तो धारा-प्रवाह अश्रु चलने लगेंगे। कुछ लोग बिना कुछ नेत्रोंमें लगाये भी किञ्चित इच्छा मात्रसे नेत्रोंसे अश्रुधारा गिरानेमें सफल होते हैं। हिचक-हिचक कर रोना, पछाड़ें खा खाकर क्रन्दन करना और देर तक धारा बहाना आँसूकी, यह केवल अभिनय हो सकता है। मैंने स्वयं ऐसे झूठे स्वांग देखे हैं, जिनमें लोग धोखेमें आकर रुदन करनेवालेको

उच्चकोटिका प्रेमी या भक्त मान लेते हैं। अतः आँसुओंको महत्ता नहीं देना चाहिए।

२. **स्वेद**—आपने क्रोधसे या भयसे शरीरके पसीनेसे भीग जानेका अनुभव न भी किया हो, तो भी इस बातको जानते होंगे। इसी प्रकार काम तथा प्रेमके वेगमें भी शरीरसे पसीना निकलने लगता है। शरीरसे स्वेद निकल सकता है गर्मी अधिक होनेसे। कोई अत्यन्त उष्ण वस्तु या औषधि खालेनेसे या श्रम करनेसे। अभिनय पूर्वक कोई स्वेद नहीं निकल सकता; किन्तु छल किया जा सकता इस विकारके सम्बन्धमें भी। गर्मीके दिनोंमें या कथा-कीर्तनमें अधिक हाथ-पैर हिलाने अथवा श्रम करने, जोर-जोरसे स्वेद होने लगेगा। छिपा कर कोई औषधि ऐसी खा ली जा सकती है, जिससे स्वेद बहने लगे शरीरसे। कुछ लोगोंको अत्यन्त सहज श्रममें या विना श्रम भी पसीना आता है स्नायविक दौर्बल्यादिसे। अतएव इस विकारको भी महत्त्व देनेमें ठगे जानेका भय है।

३. **कम्प**—क्रोध या भयसे शरीरके थरथर काँपनेका अनुभव भी होगा। काम-प्रेम आदि भाव प्रबल होजायँ तो भी कम्प होता है। कम्प कई प्रकारका होता है। पूरे शरीरको जैसे एक झटका लगा और मनुष्य जैसे चौंक गया। दूसरे भी आश्चर्यसे पूछते हैं—'क्या हुआ आपको ?' शरीरके अंग विशेष काँपने लगते हैं। सबसे श्रेष्ठ कम्प वह है जिसमें शरीरकी प्रत्येक पेशी अलग-अलग फड़कने लगती है। पूरे अंग पीपलके पत्तेके समान काँपते हैं। लेकिन दीर्घाभ्याससे कम्पका भी अभिनय हो सकता है। एक परिचित कीर्तनके समय बुरी तरह दोनों पूरे पैर हिलाते हैं बैठे-बैठे और मैं मानता हूँ कि वह केवल कम्पका नाट्य है। रोग विशेषमें भी कोई अंग या पूरा शरीर काँपता है और ऐसा रोग भी होता है, जब शरीर सदा काँपता न रहे, समय-समयपर उसमें कम्प हो।

४. **रोमाञ्च**—आपको कभी भय लगा है? भय अधिक हो तो शरीरका रोम-रोम वैसे ही खड़ा हो जाता है, जैसे पौष-माघकी सर्दीमें शीतल जलमें स्नान करके विना बस्त्र पहिने हवामें खड़ होनेपर। सर्दीके दिन न हों, ज्वर न आ रहा हो तो रोमाञ्चका अभिनय नहीं किया जा सकेगा। यही एक भाव-विकार है, जिसमें धोखा नहीं दिया जा सकता; क्योंकि सर्दीके दिन हैं या नहीं, यह तो प्रत्यक्ष होता है और ज्वर आ रहा होगा तो छिपा नहीं रहेगा। ये कारण न होनेपर मनमें प्रबल प्रेम, काम

या कोई और भाव आनेपर ही रोमाञ्च होगा । रोमाञ्च वह जिसमें रोम-रोम खड़ा होजाय पूरे शरीरका ।

५. मूर्छा—सबसे अधिक अभिनय मूर्छाका होता है और सबसे अधिक लोग इस अभिनयसे ठगे जाते हैं । कथा-कीर्तनमें हाथ पैर बचा कर धड़ामसे गिर पड़ना साधारण बात होगयी है । लोग सम्हालने लगते हैं, पखा करने लगते हैं और एक तमाशा बन जाता है । दाँत दबाकर, हाथ-पैर कड़े करके मूर्छित पड़े रहने या फिर निःश्वास लेने, बीच-बीच पुकार उठने आदिके सब प्रकारके अभिनय मैंने देखे हैं ।

मृगीमें, हिस्टीरियामें मूर्छा आते आपने देखी है । क्रोध या शोक प्रबल हो तो मूर्छा आ सकती है । प्रेम या काममें विरहकी तीव्रानुभूति या मिलनकी उत्कट लालसा होनेपर मूर्छा आ सकती है ।

मूर्छा ठीक है या अभिनय है ? बड़ी सरलतासे आप पहिचान सकते हैं । प्रेमावेशसे जो मूर्छित होगा, उसके नेत्रोंसे अश्रुधारा चलेगी, शरीर पसीनेसे भीग जायगा—लेकिन ये दोनों विकार भी अभिनय पूर्वक और श्रमसे लाये जा सकते हैं । अतः ध्यान देनेकी बात रोमाञ्च है । मूर्छितके पूरे देहमें रोमाञ्च बार-बार होता है या नहीं ? होता है तो मूर्छा ठीक है और नहीं होता तो दम्भ है । तब मजेसे आप चाहें तो उसके ऊपर एक बर्र (बतैया) बिच्छू आदि डाल कर परीक्षा ले सकते हैं और यह क्रूरता लगे तो नेत्रोंपर दो बूँद अमृतधारा मल कर देख सकते हैं—बिना कोई क्रूरता किये । वैसे नेत्रोंमें कड़वा तेल या लालमिर्च लगा देनेसे भी नेत्रोंमें कोई स्थायी हानि नहीं हुआ करती ।

६. मृत्यु—क्रोध, शोक या भयकी अधिकतासे जैसे हृदयकी गति बन्द हो जाती है, उसी प्रकार हर्ष, काम या प्रेमका चरमोत्कर्ष भी हृदयकी गति बन्द कर देता है और आप समझ सकते हैं कि इस भाव-विकारका अभिनय कर पाना किसी प्रकार सम्भव नहीं है—यदि कोई विष खाकर आत्महत्या करनेपर ही उतारू न हो जाय ।

आप यह न सोचें कि मृत्यु अन्तिम भाव-विकार है । जहाँ तक जड़-भाव विकारोंकी बात है, यह अन्तिम ही है । क्योंकि यहाँ तकके सभी विकार काम-क्रोधादिसे भी आते हैं ; किन्तु प्रेमके दिव्य भाव-विकारोंकी यह सीमा नहीं है । प्रेमके भाव-विकारके रूपमें मृत्यु आनेपर वह ठीक मृत्यु नहीं होती । मृत्युके समान शरीर शीतल, निश्वास रहित हो जाता

है; किन्तु जीवन फिर लौट आता है, बन्द हृदय स्वतः चलने लगता है। अतः प्रेममें मृत्यु भाव विकारका दूसरा नाम है और वह है प्रेम समाधि। समाधिसे उत्थान समझना आपके लिए कठिन नहीं है।

जिस महाभागवत लोकधन्य भगवद्भक्तमें मृत्युका भाव विकार या प्रेम समाधि आयी, उसमें इससे आगे भाव-विकार आ सकते हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभुके चरितमें उनके श्रीअंगमें इन सभी भाव-विकारोंके आनेका वर्णन है। संक्षिप्त रूपमें उनकी चर्चा यहाँ कर देना उपयुक्त होगा—

१. **उन्माद**—प्रेमी पागलके समान हो जाता है। उसका व्यवहार सर्वथा असंगत होता है। वह कभी हँसता, कभी रोता, कभी नाचता, कभी गाता, कभी हर किसीको दण्डवत् करता, कभी शान्त बैठा रहता है और कभी सिर पटकता, भूमि या दीवारोंमें मुख घिसता, कपड़े फाड़ता और क्रन्दन करता है।

२. **आत्म विस्मृति**—वह भूल जाता है कि मैं कौन हूँ? कहाँ हूँ? अपनेको कोई दूसरा ही व्यक्ति मान कर बोलने या व्यवहार करने लगता है।

३. **प्रेष्ठरूपत्व**—वह अपनेको ही अपना आराध्य मान लेता है और उस प्रियतमके समान आचरण करने लगता है। कभी-कभी तो उसका देह रूप धारण कर लेता है।

४. **प्रेष्ठ दर्शन**—संसार दीखता ही नहीं। जहाँ, जिधर दृष्टि जाती है, प्रियतम ही दीखता है।

५. **एकत्व**—प्रेमीका शरीर रह नहीं जाता। उसका स्थूल देह या तो अदृश्य हो जाता है या किसी मूर्तिमें लीन हो जाता है।

इन पाँच मानसिक भाव-विकारोंके अतिरिक्त कुछ दिव्य दैहिक भाव-विकार भी प्रकट होते हैं—

१. **कृशत्व**—योगी या रोगीके समान प्रेमीका शरीर भी अत्यन्त दुर्बल हो जाता है।

२. **वैवर्ण्य**—जैसे शरीरमें रक्त रहा ही न हो, ऐसा फीका रक्तहीन चेहरा हो जाता है।

३. **क्षुधानाश**—भूख-प्यास जैसे लगते ही नहीं। भोजन अत्यल्प हो जाता है और वह भी दूसरोंसे ग्रहण किया जाता है।

४. **रक्तस्राव**—शरीरके रोम कूपोंसे स्वेदके स्थान पर चाहे जब रक्त निकलने लगता है।

५. **दाह**—पूरे शरीरमें जैसे लालमिर्च लगी हो अथवा प्रज्वलित अग्नि भीतर भड़क उठी हो, ऐसी-जलन भीतर-बाहर।

६. **आकुञ्चन**—हाथ-पैर शरीरके भीतर घुस जाते हैं। पूरा देह इस प्रकार भीतर खिंच जाता है कि पहिचानना कठिन हो उठता है कि मानव देह है या माँस पिण्ड। कछुएके समान आकृति बन जाती है।

७. **प्रसारण**—शरीरके जोड़ खुल जाते हैं। हाथ-पैर जैसे बलात् खींच कर लम्बे कर दिये गये हों। पूरा देह कई गुना लम्बा हो जाता है और हिल नहीं सकता।

८. **जड़त्व**—जैसे शरीरमें माँस है ही नहीं। लोहे या लकड़ीसे शरीर बना हो, इतना कठिन-कड़ा और चेष्टा-शून्य होजाता है। मुर्दे जितनी कोमलता भी नहीं रह जाती।

इनके अतिरिक्त कुछ अप्रमुख भाव-विकार भी हैं जो प्रेमीको उसके साधन-कालमें ही प्राप्त होते हैं। इन सब अप्रमुख भाव-विकारोंकी संख्या करना तो शक्य नहीं है; केवल कुछका निर्देश मात्र किया जा सकता है।

१. **नर्तन**—वह नृत्य जानता नहीं। नृत्य करनेमें अत्यन्त संकोचकी परिस्थिति है; किन्तु प्रियका नाम-गुण आदि श्रवण करके शरीरमें स्वतः नृत्यकी मुद्राएँ प्रकट होती हैं और वह ऐसी मुद्राओंमें नृत्य करने लगता है, जैसे कुशल नर्तक हो।

२. **आलस्य**—अकारण शरीर टूटता है, बार-बार जम्हाई आती है। कोई क्रिया शरीरसे करना बहुत कष्टकर प्रतीत होता है।

३. **स्तब्धत्व**—जैसे कोई मूर्ति बैठी या खड़ी हो। नेत्र खुले हैं अपलक; किन्तु कुछ देखता नहीं कुछ सुनता नहीं। पुकारने और हिलाने तकका कोई प्रभाव नहीं पड़ता उसपर।

अप्रमुख भावविकारोंका अभिनय तो हो ही सकता है, होता भी है, दिव्यभावोंमें-से भी उन्माद, आत्मविस्मृति, प्रेष्ठरूपत्व तथा प्रेष्ठ-दर्शनके अभिनय हो सकते हैं—अतः इनके सम्बन्धमें सावधान रहना चाहिए।

—※—

भक्तका वेश

क्या भक्तका—प्रेमीका कोई निश्चित् वेश होता है ? क्या चिन्ह हैं जिससे यह पहिचान लिया जा सके कि यह भक्त है ?

दूसरे शब्दोंमें यह प्रश्न इस प्रकार है—भक्त सफेद पहिनता है या पीले ? अथवा गेरुआ, केशरिया, नीले, हरे, काले—किस रंगके कपड़े वह पहिनता है ? वह लुंगी लगाता, अचला-लंगोटी पहिनता है या धोती अथवा पाजामा पहिनता है ? कहीं वह पतलून तो नहीं पहिनता या केवल लंगोटी ही लगाता हो अथवा दिगम्बर रहता हो ?

भक्त चद्दर ओढ़ता है, बगलबन्दी पहिनता है, कुर्ता पहिनता है, कोट-कमीज अपनाता है या और किसी ढङ्गके कपड़े पहिनता है ?

वह कण्ठी बाँधता है या नहीं ? बाँधता है तो एक लड़ीकी तुलसीकी कण्ठी, दो लड़ीकी, तीन लड़ीकी या चार लड़ीकी ? गलेमें सटी हुई या लटकती हुई ? गोल मनियोंकी या मृदंगों ? तुलसीकी हो या रुद्राक्षकी या स्फटिककी कण्ठी बाँधता है या कण्ठमें एक दो बड़े दाने पहिनता है और वह भी तुलसीके या रुद्राक्षके ?

भक्त माला रखता है या सुमिरनी ? खुले हाथ रखता है या जप-झोलीमें अथवा गोमुखीमें ? कहीं वह हजारा माला ही तो नहीं रखता ? उसकी माला तुलसीकी, रुद्राक्षकी, चन्दनकी; कमलगट्टेकी, स्फटिककी या सूतकी होती है ?

कमसे कम इतना तो बताना ही चाहिए कि वह तिलक कैसा लगाता है ? लगाता भी या नहीं और लगाता है तो ऊर्ध्वपुण्ड या त्रिपुण्ड अथवा केवल बिन्दी ? ऊर्ध्वपुण्ड लगाता है तो उसकी श्रीका रंग लाल है, सफेद है या काला है ? उसका तिलक नाककी नोक तकका, आधी नाक तक या भ्रूमध्यसे प्रारम्भ होता है ? वह किस रंगका तिलक करता है ?

इस प्रकारके सैकड़ों प्रश्न हैं। अर्जुनने तो श्रीकृष्णचन्द्रसे पूछा था कि वह खाता क्या है ? कैसे बैठता है ? कैसे चलता है ? क्या बोलता है ? आप मेरे प्रश्नोंसे ही झुँझला रहे थे और ये धर्मराजके छोटे भैया तो पूछ रहे है कि भक्त शाकाहारी हो या मांसाहारी भी और वह अन्नाहारी या

केवल फलाहारी ? अथवा दुग्धाहारी या निर्जलव्रती ? वह कैसा खाता है ? अर्थात् खड़े खड़े या बैठकर ? छोटे ग्रास लेता है या बड़े-बड़े ? धीरे-धीरे चबा कर पौन घण्टेमें खाने वाला या पांच-सात मिनटमें ? हाथ या काँटे चम्मचसे ?

वह बैठता कैसे है ? जहाँ जाय वहाँ आसन चलता है या नहीं ? बैठता भी है या खड़ेश्वरी है ? अपने ही आसनपर बैठता है या दूसरेके आसनपर भी ? खाटपर बैठता है या नहीं ? 'चैलाजिन कुशोत्तरम्' ही बैठता है या दरीपर, चटाईपर, शिलापर या भूमिपर भी यदा-कदा वैठ जाता है ?

चलता कैसे है ? बहुत तेज या भूमि देख कर धीरे-धीरे । गजगति है या हंस-गमन ? कहीं कपियोंसा उछलता-कूदता तो नहीं चलता नीचे दृष्टि किये चलता है या श्यामसुन्दर ! तुम्हारी भाँति इधर-उधर सीधे-तिरछे देखता, भौहें मटकाता है ?

क्या बोलता है ? अरे बोलता भी है या मौनी बाबा है ? केवल भगवन्नाम बोलता है या कुछ काम-काजकी बात भी ? संस्कृत ही बोलता है या कोई दूसरी भाषा भो ? उपदेश ही देता है या कभी हँसी-मजाक भी कर लेता है ? कहीं अक्खड़ोंकी भाँति गालीके बिना बात करनेवाला तो नहीं होता है ।

ये प्रश्न व्यर्थ नहीं हैं । आप ऊब चुके हैं; अतः मैं प्रश्न बन्द किये देता हूँ; किन्तु प्रत्येक प्रश्न किसी न किसी सम्प्रदाय विशेष या साधु-सन्तोंके आचरण विशेषसे सम्बन्ध रखता है और तब प्रश्न आवश्यक है कि भक्त होनेके लिए वह आचरण आवश्यक हैं या नहीं ? भक्तिसे उसका क्या सम्बन्ध है ?

बिना संकोच आप कहेंगे और ठीक कहेंगे कि इन बातोंसे भक्ति या भगवत्प्रेमका कोई सम्बन्ध नहीं है । प्रेम हृदयकी वस्तु है । उसमें शारीरिक वेश अथवा रहन-सहनके किसी ढंगकी कोई अपेक्षा नहीं है । भक्तका न कोई अमुक निश्चित वेश है, न रहन-सहन, आचार-व्यवहार । सभी देशोंमें, सभी समाजोंमें, सभी प्रकारके आचार-व्यवहारमें रहने वालोंके समुदायमें भगवद्भक्त हो सकते हैं ।

तब ये जो वेश हैं ? यह अचला-लंगोटी, ये सफेद-पीले या गेरुए वस्त्र ? ये त्रिपुण्ड और ऊर्ध्वपुण्ड ? यह कण्ठी और माला ? इनके पीछे

जो युगान्त व्यापी विवाद है. अत्यधिक आग्रह है, प्रत्येकके पक्ष-विपक्षमें जो शास्त्रीय प्रमाण हैं ? सब व्यर्थ हैं ? सब मूर्खता है ? क्या कहना चाहते हैं आप ?

न सब व्यर्थ हैं और न मूर्खता ही। सबके पीछे अच्छी समझदारी है। केवल विवाद एवं आक्षेप ना-समझीके कारण चलते हैं। इतना होनेपर भी भक्तका कोई वेश नहीं, यह बात एक सौ पच्चीस नये पैसे ठीक है।

भक्तका वेश नहीं, वेश सम्प्रदायका। आचार-व्यवहार समाजका। अमुक सम्प्रदाय एवं उपासना परिपाटीका परिचायक एक वेश होता है। उस वेश उस सम्प्रदायके सामान्य जिज्ञासु साधक, साधु और महापुरुष सभी रहते हैं। अधिकसे अधिक गृहस्थ एवं विरक्तके वेशका अन्तर हो सकता है; किन्तु विरक्त वेशमें भी साधक-सिद्ध-प्रेमी होते हैं और साधन-च्युत विकार ग्रस्त भी होते ही हैं। कोई सम्प्रदाय इतना दुःसाहसी नहीं है जो कहे कि उसके निश्चित वेशमें सब भगवद्भक्त ही हैं अथवा उसके सम्प्रदायको छोड़कर भगवद्भक्त हो ही नहीं सकते।

आपको यहाँ हिन्दू-वैदिक धर्म तथा अवैदिक मतोंका स्पष्ट भेद बतला दूँ। वैदिक हिन्दू धर्मकी मान्यता है कि अधिकार भेदसे साधनमें भेद होता है। जो जिस साधनका अधिकारी है, उसके लिए वही साधन कल्याणकारी है। दूसरी ओर विश्वके प्रायः सब अवैदिक मतोंका कहना है—'हमारे धर्मसे ही कल्याण होता है। जो इस धर्ममें नहीं, वह भूला हुआ है। वह नरकके मार्गपर है, अब आप समझ लें कि जो भी यह दुराग्रह करे कि हमारे सम्प्रदायमें आये बिना, हमारे वेशको स्वीकार किये बिना भक्ति या, भगवान नहीं मिलेंगे, वह वैदिक हिन्दू रहा नहीं और चाहे जो कुछ वह रहे।'

वेश व्यर्थ नहीं है। वह संयम एवं भजनका सहायक होता है। जब कोई साधु वेश धारण कर लेता है, किसी सम्प्रदायका तिलक लगा लेता है तो कमसे कम दूसरोंके सम्मुख उसे एक सीमा तक अपने असंयमपर, अपने आहार एवं आचारपर अंकुश रखना पड़ता है। उसे भले संकोच वश करना पड़े-कुछ भजन-साधन भी करना ही पड़ता है। इस प्रकार वेशसे सहायता मिलती है संयममें, भजनसे, सदाचारमें।

आप उत्तेजित न हों। वेशको लेकर जो दम्भ-पाखण्ड आज चल रहा है, उससे मैं अपरिचित नहीं हूँ। सहायता तो उसे मिलेगी जो सहायता

लेना चाहेगा। जो दुरुपयोगके लिए ही उसे अपनावेगा, उसे कहीँसे सहायता मिलेगी। लेकिन इसमें वेशका दोष? लाठी सहायक है एकाकी मात्रामें और सुरक्षाका साधन भी। उसका कितना दुरुपयोग होता है, आप जानते हैं? उस दुरुपयोगमें लाठीका दोष? क्या अच्छा होगा कि पूरे समाजके लिए कानून बना दिया जाय कि कोई कहीं लाठी लेकर न चले और लाठी न रखे? उचित होता है दुरुपयोगको रोकना। किसी अच्छाईका बहुत दुरुपयोग होरहा है, इसलिए उस अच्छाईको ही प्रतिबन्धित करनेका विचार समझदारीसे बहुत दूर है।

यहाँ हम सम्प्रदाय या साधुवेशपर विचार नहीं कर रहे हैं। विचार करना है भक्तके वेशपर और आप यह देख चुके हैं कि कपड़ोंसे, माला-तिलक-कण्ठीसे, भोजनसे, उठने-बैठने, खाने-पीने, बोलने-चालनेके ढंगसे भक्तकी पहिचान नहीं हो सकती।

तब भक्तका कोई वेश नहीं? उसकी पहिचानका कोई उपाय नहीं है? क्यों नहीं; लेकिन इतनी बात अवश्य है कि भक्ति-मार्गके साधक और भगवदनुग्रह-प्राप्त भक्तके वाह्य लक्षण समान होते हैं। अतः अमुक व्यक्ति साधक है और अमुक भगवान्को प्राप्त कर चुका, ऐसा भेद जान लेना किसी प्रकार किसी ऐसे व्यक्तिके लिए सम्भव नहीं है, जो स्वयं भगवान्को प्राप्त नहीं कर चुका है।

साधक भक्तका लक्षण ही सही। दूसरा उपाय भी नहीं है। लेकिन साधकका लक्षण भी वाहरी वेश नहीं हो सकता है उसके लक्षण भी आन्तरिक होंगे, यह बात स्मरण रखनेकी है।

१. **अभय**—यह सर्वप्रथम लक्षण है भक्तका। कहीं भी, किसी परिस्थितिमें भी उसे भय नहीं, लगता। उसके प्रेमास्पद सदा, सर्वत्र, उसके साथ हैं। सभी परिस्थितियाँ उनके ही सृजन हैं। अतः वह डरेगा क्यों?

२. **निर्भरता**—एकमात्र अपने प्रेमास्पदपर ही वह निर्भर रहता है। उसे जो कुछ अपेक्षा है वह उस प्रेमास्पदसे ही है, दूसरे किसीकी कृपा उसे अपेक्षित नहीं।

३. **सहज शुद्धता**—उसमें काम, क्रोध लोभादि नहीं ही आवेंगे ऐसी बात तो नहीं है, इनके आवेग आ सकते हैं—पूरे वेगसे आ सकते हैं और वह इनमें डूब गया भी लग सकता है; किन्तु उसमें स्थिर नहीं रह सकते।

वेग समाप्त होनेपर उसके चित्तमें इनका संस्कार शेष नहीं रहता। वह शत्रुताकी गाँठ नहीं बाँधता, कामके संस्कारके चिन्तनमें घुलता नहीं, कौड़ी-कौड़ीके संग्रहमें पड़ नहीं सकता।

४. **सहज चिन्तन**—उसका चित्त अप्रयास अपने प्रेमास्पदके चिन्तन-में लगा रहता है। तनिकसे भी निमित्तसे उसका चिन्तन जागृत दीखता है। भय, आतंक, चोट, चौंकना या ऐसे किसी आकस्मिक समय अपने प्रभुकी स्मृति अप्रयास आती है।

५. **निश्चिन्तता**—अपना क्या होगा ? यह चिन्ता उसे कभी नहीं होती। न इस लोककी किसी परिस्थितिमें और न परलोकके संबन्धमें ही। उसके प्रभु समर्थ हैं, सर्वज्ञ हैं, दयाधाम हैं, फिर वह क्यों चिन्ता करे ?

व्यवहारमें भी भक्तके या साधक भक्तके कुछ विशेषता हुआ करती है। उसमें नम्रता, क्षमाशीलता, दया, अहंकारका अभाव, परदुःख कातरता जैसे सद्गुण अवश्य होते हैं। लेकिन ये सद्गुण भक्त या भक्तिके साधकमें ही हों, यह आवश्यक नहीं है। किसी भी अध्यात्म-पथके साधकमें ये सद्गुण अवश्य होंगे, यदि वह सचमुच साधक है। नास्तिक सत्पुरुषमें भी ये सद्गुण होते हैं। अतएव इन सद्गुणोंसे भी साधक और भक्तका निश्चय नहीं हो सकता। इसीलिए इन गुणोंको भक्तके वेशमें सम्मिलित करना उपयुक्त नहीं है।

एक लक्षण जो दूसरा नहीं समझ सकता; किन्तु आप अपने सम्बन्धमें अवश्य देख सकते हैं। आपकी विचारधाराका केन्द्र क्या है ? अर्थात् आप कोई विचार अकेलेमें करते होते हैं तो अन्तमें घूम फिर कर वह किस एक वस्तुपर पहुँचता है ? धनपर, स्त्रीपर, सम्मानपर या भगवत्प्राप्तिपर ? यदि समस्त विचारोंका अन्त इस प्रकार होता है—'भजन तब निश्चित होगा और इस प्रकार भगवान मिलेंगे !' भगवान् क्या देंगे यह नहीं—वह मिलेंगे, साथ रखेंगे, यहाँ समाप्त होते हों सब विचार, तो आप भक्त हैं, भक्तिके पथपर आप बढ़ चुके हैं।

प्रेम सदाचारका पिता

यह बात स्पष्ट है कि वासना अपने देह, इन्द्रिय एवं अहंकारकी तृप्ति चाहती है और प्रेम प्रेमास्पदकी तृप्ति चाहता है। उसमें अपने शरीर, अपनी इन्द्रिय एवं अपने अहंकी तृप्तिकी मांग सर्वथा नहीं है। इनकी तो पूर्णतः उपेक्षा है प्रेममें।

क्या यह सम्भव है कि कोई निःस्वार्थ भी हो और पाप भी करे ? आप विचार करके देखेंगे तो यह बात सर्वथा असम्भव लगेगी। झूठ, चोरी हिंसा, व्यभिचार, विश्वासघात, छल-कपट, दम्भ, पाखण्ड—जितने पाप हैं, सब शरीरके सुख-साधन जुटाने, इन्द्रियोंके भोग जुटाने अथवा अहंकी सन्तुष्टि, मान-बड़ाईकी प्राप्तिके लिए किये जाते हैं। जहाँ स्वार्थ नहीं रहा, देह-इन्द्रियके भोग अभीष्ट नहीं, यश पाने-पुजानेकी लालसा नहीं—वहाँ पाप कोई क्यों करेगा ? किसलिए करेगा ?

अब आप कह सकते हैं कि अपने लिए तो प्रेमी पाप कर नहीं सकता; किन्तु अपने प्रेमास्पदको सुख देनेके लिए वह कुछ भी कर सकता है। प्रेमास्पदके लिए पुण्य-पापका विचार करे वह प्रेमी कैसा ?

बात आपकी ठीक है ; किन्तु जहाँ तक भगवत्प्रेमकी बात है—आप बताइये कि शास्त्र किसके बनाये हैं ? सदाचारकी मर्यादा किसने स्थापित की है ? जिस भगवान्‌ने शास्त्र तथा सदाचारकी मर्यादा बनायी है, उन्हें उसके पालनसे प्रसन्नता होगी या उसका उल्लंघन करनेसे ? बड़ी ही सरलतासे आप समझ सकते हैं कि भगवत्प्रेमसे पाप नहीं हो सकता। क्योंकि कोई पाप, कोई सदाचारका उल्लंघन भगवानको प्रिय नहीं होगा। भगवान-को वह अप्रिय ही लगेगा और जो अपने प्रेमास्पदको अप्रिय लगे, उसे कोई प्रेमी किसी भी प्रकार पसन्द कर नहीं सकता।

बात रह गई लौकिक प्रेमकी ; किन्तु हो वह प्रेम। वासनाकी बात व्यर्थ है ; क्योंकि वासना तो पतनकी ओर ले जाने वाली है ही। 'प्रेष्ठ कौन ?' इस शीर्षकमें इसपर पूरा विचार किया है कि प्रियतमका स्वरूप क्या होना चाहिए ; किन्तु यहाँ इतना समझ लीजिये कि लौकिक प्रेम भी जहाँ वासना रहित शुद्ध है, जहाँ प्रेमास्पदके सुखमें ही सुखकी इच्छा है, वहाँ पुण्य या सदाचारका उच्छेदन कभी हो नहीं सकता।

लौकिक प्रेममें भी जहाँ अपने देह-इन्द्रिय एवं अहंकी सन्तुष्टिकी बात नहीं है, वहाँ प्रेमास्पदके भी देह, इन्द्रिय एवं अहंकी सन्तुष्टिकी इच्छा गौण है। वहाँ प्रेमास्पदके तत्कालीन सुख एवं तत्कालीन प्रसन्नताकी मूर्खता भरी इच्छा नहीं है। वहाँ दृष्टि रहती है प्रेमास्पदके सुयश, स्वास्थ्य और सबसे बड़ी बात कि उसका पारलौकिक हित हो—उसका परम कल्याण हो। भले इस प्रयत्नमें उसे तत्काल बहुत कष्ट हो और वह भले अत्यन्त रुष्ट हो जाय।

एक बच्चेको फोड़ा होगया। फोड़ेको चीरा देनेमें बच्चेको तत्काल बहुत कष्ट होगा, वह रोयेगा, चिल्लायेगा, बुरा मानेगा ; किन्तु चीरा दिये बिना फोड़ा ठीक होगा नहीं। बच्चेसे प्रेम करने वाली माता कौन सी ? जो चीरा देनेकी बात उठते ही चिढ़ जाय और बच्चेको हटा ले जाय—या जो निष्ठुरता पूर्वक बच्चेके हाथ पैर पकड़ ले, उसके रोने-चिल्लानेकी उपेक्षा करदे और चीरा दिलवा दे ?

एक सैनिकको देशकी विपत्तिमें युद्धमें जाना है। प्राण जानेकी ही अधिक सम्भावना है। उससे सच्चा प्रेम करनेवाली माता, पुत्री या बहिन कौन सी ? जो उसे भाग कर कहीं छिप जानेकी—प्राण बचा लेनेकी प्रेरणा दे, अथवा जो उसे कर्त्तव्यपर मर मिटनेको प्रोत्साहित करे ?

एक व्यक्ति शराबी है, जुआ खेलता है और कोठे भी झांकता है। उसका सच्चा मित्र कौन ? जो बोतल छिपाकर लाकर दे दे, रुपये दे जुआ खेलनेको और उसके घर लड़कियां पहुँचा दे ; अथवा जो उससे लड़ झगड़ कर, उसे कष्ट देकर भी चाहे जैसे दबाव देकर शराब छुड़ा दे, उसकी जेबका पैसा छीन ले कि वह जुआ न खेल सके और उसे अपने घरमें रहनेको बाध्य करदे ?

ये उदाहरण इतने स्पष्ट हैं कि आपको इनमें कहीं कुछ सोचना नहीं होगा। आप देख रहे हैं कि सर्वत्र सच्चा लौकिक प्रेम भी पापका—असदाचारका विरोधी है। वह कहीं उसका सहायक समर्थक या पोषक नहीं है ?

पाप या असदाचारसे मिलता है अस्वास्थ्य, अपकीर्ति, पतन और नरक। आपका प्रेमास्पद बीमारीके मार्गपर बढ़े, अपयशका भागी हो, नरक जानेकी तैयारी करे—यह प्रेम सह लेगा ? सह लेगा तो वह प्रेम कैसा ?

प्रेमास्पदके सुखके लिए, सन्तोषके लिए, तृप्तिके लिए जब आप पाप करेंगे, सदाचार छोड़ेंगे—उस पापका भागी वह होगा या नहीं ? आपकी

अपकीर्तिमें उसकी अपकीर्ति है या नहीं ? और ऐसी अवस्थामें प्रेम क्या लौकिक रूपमें भी किसीको पाप करने देगा ? किसीको भी सदाचारका उल्लंघन करने देगा ।

प्रेम वासनाका विरोधी है। क्योंकि अपने अहं इन्द्रिय-भोग, देह सुखकी तृप्ति-तुष्टिको इच्छाका नाम ही वासना है और प्रेममें यह इच्छा रहती नहीं। प्रेम इस इच्छाको समूल नष्ट कर देता है। उसमें तो प्रेमास्पदके सुखकी इच्छा रहती है।

प्रेम जिसमें प्रगट हुआ, उससे पाप नहीं होता, उससे असदाचरण नहीं होता, यह बात ही पूरा वर्णन नहीं है। उससे होता क्या है, यह वर्णन कहाँ आया इसमें। आप कहेंगे कि उससे प्रेमास्पदको सुखी करनेका प्रयत्न ही सदा होता है—उससे और कुछ होता ही नहीं। बात तो यही ठीक है। लेकिन प्रेमास्पदको सुखी करनेके प्रयत्नका क्या स्वरूप है, यह समझने योग्य है।

भगवान कैसे सुखी होते हैं ? कैसे प्रसन्न होते हैं ? यह प्रश्न व्यर्थ है। वे आनन्दघन हैं--उन्हें दुःख छूना ही नहीं। अप्रसन्न होना ही नहीं आता उनको। इतनेपर भी जीवके सदाचार पालन, शास्त्र मर्यादा रक्षण, भजन, पुण्याचरणसे उन्हें प्रसन्नता होती है, यह सभी जानते हैं। अतः भगवत्प्रेम जहाँ होगा वहाँ सदाचार, शास्त्र-मर्यादा-रक्षण, भजन, पुण्याचरण भी होगा ही।

लौकिक प्रेममें देह, इन्द्रिय एवं अहंकी तुष्टि गौण है। वहाँ भी प्रेमास्पदके परम हितका भाव ही मुख्यतः रहता है। प्रेमास्पदका परम हित कैसे होगा ? वह कैसे अभ्युदयकी ओर लगेगा ? कैसे उसका उत्थान होगा ? कैसे उसके दोष दूर होंगे ? बहुत सीधी बात है कि दूसरेको सन्मार्ग-पर लाना चाहता है, किसीके दोष दूर करना चाहता है, उसे पहिले स्वयं उन दोषोंका त्याग करना पड़ेगा। पहिले स्वयं सन्मार्गपर चलना होगा। पहिले स्वयं उत्तम आचरण अपनाना पड़ेगा। जो माता शिशुसे खटाई या मिठाई छुड़ाना चाहती है, उसे स्वयं पहिले ये वस्तुएँ छोड़ देनी पड़ती हैं।

इसलिए हम कहते हैं कि प्रेम सदाचारका पिता है। प्रेम हृदयमें आया नहीं कि पाप, पतन, असदाचरण अपने आप भाग जायँगे। प्रेम आया और सदाचार पालनके लिए कोई उपदेश करे, यह आवश्यकता नहीं रह जायगी।

वासना है अन्धकार रूपा। वासना मनमें मन्थन उत्पन्न करती है। बुद्धिको भ्रान्त करती है। काम हो, क्रोध हो, लोभ हो या मोह हो--कोई वासना हो और किसीमें हो, बड़ेसे बड़ा विद्वान, अच्छेसे अच्छा विवेकी व्यक्ति उस विषयमें मूर्ख होजाता है जिसमें उसकी वासना है। उसकी विद्या-बुद्धि उस विषयमें कुण्ठित होजाती है। यद्यपि दूसरे सब विषयमें वह अत्यन्त चतुर विवेकी और गम्भोर विचार प्रगट करने वाला है। दूसरोंको उन दूसरे विषयमें अत्यन्त मूल्यवान सम्मति वह दे सकता है, देता है; किन्तु अपनी वासनावाले विषयमें वह उपहास्पद मूर्खता करता है।

दूसरी ओर प्रेम प्रकाश-धर्मा है। वह वासनाके अन्धकारको तत्काल नष्ट कर देता है। साधारण व्यक्ति भी प्रेमका प्रकाश पाकर अद्भुत सूझ-बूझ प्राप्त कर लेता है। उसके निर्णय भ्रान्तिहीन होते हैं। जहाँ शुद्ध प्रेम है, वहाँ भूल होनेका भय रह नहीं जाता है। इस प्रकार वासना और प्रेम रात तथा दिनके समान परस्पर विरोधी हैं।

अब देखना है कि सदाचारका पालन कोई क्यों करता है और उसका उल्लघन क्यों करता है? सदाचार-उल्लंघन होता है भयसे, लोभसे, कामसे या मोहसे। इन सभी अवस्थाओंमें वासनाकी प्रधानता है। देहका कष्ट, इन्द्रिय भोगोंकी हानि या अयश—इनका ही भय हो सकता है, देहका सुख, इन्द्रिय भोग एवं सम्मान—इनके पानेका लोभ या काम होगा और स्वजनोंके इन्हीं पदार्थोंकी रक्षाका मोह होगा। तात्पर्य यह कि सदाचारका उल्लंघन जब होगा--वासना वश होगा।

यदि वासना न हो? सदाचारका पालन होगा। इसका अर्थ हुआ कि सदाचार पालन मनुष्यका स्वभाव है, स्वरूप है। वासना स्वयं विकृति है—मनका विकार है और जब मनमें विकार आता है, जीवनमें आचरणमें भी विकार आ जाता है। वहाँ भी दोष आने लगते हैं।

वासनाकी विकृति जीवनमें न आवे, इसका उपाय? मुझे तो प्रेम ही इसका उपाय जान पड़ता है। हृदय खाली रहेगा तो उसमें ये कामादि चोर डेरा डालेंगे ही। इसलिए उसमें स्थान खाली नहीं रहना चाहिए। वह भरा होना चाहिए।

नाहिन रह्यो हियमें ठौर।
नन्दनन्दन अछत कैसे आनिये उर और।'

हृदय लग जाय भगवानमें। भगवानसे चित्त भर जाय। भगवानके अतिरिक्त उसमें और किसीके लिए स्थान रह न जाय--बस। फिर दूसरा कोई अपने आप वहाँ नहीं आ सकेगा। प्रेम जहाँ हृदयमें आया--सदाचार अपने आप आ जायगा। प्रेम स्वतः हृदयको निर्मल कर देगा। क्योंकि चित्तका स्वभाव ही है--

'ज्यों ज्यों भीजे श्याम रंग, त्यों त्यों उज्ज्वल होय।'

यह बात ठीक है कि सदाचार प्रथम धर्म है--साधककी प्रथमावश्यकता है--

आचारो प्रथमो धर्मः।

लेकिन इस सदाचारकी प्राप्ति एवं पूर्णता सरलता पूर्वक तो प्रेमके द्वारा ही होती है।

प्रेष्ठ कौन ?

सीधे शब्दोंमें कहें तो प्रेम किससे किया जाता है? किससे किया जाना चाहिए ? यह प्रश्न प्रेमके क्षेत्रमें उठता नहीं--उठ नहीं सकता; क्योंकि प्रेम होता है, किया नहीं जाता। हम प्रयत्न पूर्वक जो कार्य करने अथवा न करनेमें पूर्ण स्वतन्त्र हैं, उसी कार्यके सम्बन्धमें यह नियम बनाया जा सकता है, यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि उसे कैसे उसे, कहाँ, किसके साथ करना चाहिए। लेकिन प्रेम तो ऐसा नही है। वह जहां हो जाय- वहाँसे हटाया नहीं जा सकता और जहाँ नहीं है, वहाँ बल पूर्वक किया नहीं जा सकता। इसलिए प्रेम किससे किया जाय, यह प्रश्न बनता नहीं है।

आप कहेंगे कि जब प्रेम किससे किया जाय ? यह प्रश्न नहीं बनता तो प्रेम किससे किया जाता है, यह प्रश्न कहाँ बनता है ? अरे ! माता अपने पुत्रसे, मित्र अपने मित्रसे, पत्नी अपने पतिसे, प्रिय अपनी प्रेयसीसे प्रेम करता है। इसमें किससे किया जाता है क्या ? वह राम-श्याम, मोहन-सोहन, अ, ब, स, कोई हो सकता है।

आपकी बात ठीक होती यदि सचमुच प्रेम वही होता तो जो सामान्य जन समझते हैं। वासना एवं स्वार्थका नाम प्रेम नहीं हैं और मोह या कामका नाम भी प्रेम नहीं है। प्रेम शरीरसे नहीं होता। उसमें शरीर, इन्द्रियों एवं अहंकी तुष्टिकी माँग नहीं है। न अपने लिए है और न प्रेमास्पद-के लिए। अतः जब आप कहते हैं कि राम-श्याम, मोहन-सोहन अथवा कोई अ, ब, स, से प्रेम हो सकता है तो यह भूल जाते हैं कि राम-श्याम, मोहन-सोहन या अ, ब, स, ये नाम शरीरके हैं और प्रेम शरीरसे होता ही नहीं है। प्रेम तो शरीरकी बलि तक दे दिला सकता है अपने प्रियतमके हितके लिए।

माता जब पुत्रको युद्धमें जाकर विजय या मृत्युमें-से एकको वरण कर लेनेकी प्रेरणा देती है—किसके प्रेम वश ऐसा करती है उसका पुत्र जो उसके सम्मुख खड़ा है, जिसे आप उसके वात्सल्यका आधार समझते हैं, उसे तो वह युद्धमें भेज रही है और भेज रही है प्रेमवश—द्वेश या क्रोधके कारण नहीं। यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि प्रेम शरीरसे नहीं होता, इसीलिए वह किसीको उसके कर्त्तव्यसे विमुख नहीं करता। वह मोह है, काम है जो शरीरसे होता है और इसीलिए उसमें दैहिक तृप्ति एवं दैहिक सुरक्षाकी माँग प्राथमिकता पाती है। इसीलिए वह पतनका हेतु है, हेय है।

प्रेम देहसे नहीं होता। राम-श्याम, मोहन-सोहन या अ, ब, स, कोई भी नाम देहका ही होता है। अतएव प्रेम राम-श्याम, मोहन-सोहन अ, ब, स, आदिसे नहीं होता और पुत्र, मित्र, प्रियतम-पति या प्रेयसीसे भी नहीं होता; क्योंकि पुत्र, मित्र, पति, प्रिय आदि सम्बन्ध भी शरीरको लेकर ही बने हैं और उनकी परिधि शरीर तक ही है। यह तो बस एक भ्रम है कि प्रेम पुत्रमें, मित्रसे, पतिसे या प्रेयसीसे हुआ या है।

सम्भवतः अब आप स्वयं पूछना पसन्द करेंगे कि ऐसी अवस्थामें प्रेम किससे होता है? प्रेमीका प्रेष्ठ कौन है? सीधी सी बात है कि वह आत्मा है। भले उसे आप देहके सम्बन्धके कारण पुत्र, मित्र, पति या प्रेयसीके रूपमें श्रेष्ठ मानते-जानते हों; किन्तु है वह आत्मा ही। दास्य, सख्य, वात्सल्य, दाम्पत्य आदि रूपोंमें प्रेमकी अभिव्यक्ति तो शास्त्रानु-मोदित है ही। अतः प्रेमका रूप क्या है, इससे इस बातमें कोई अन्तर नहीं पड़ता कि वह आत्मासे होता है।

प्रेम-देहसे हो या आत्मासे, इस विवेचनमें जानेसे लाभ? इस प्रपंचमें कोई प्रेमी क्यों पड़े? इसलिए कि कहीं वह मोह या वासनाको ही प्रेम

न मान बैठे। यदि ऐसी भूल हो जाय तो बहुत बड़ी हानि होगी। वासना या मोह उसे ले डूबेगा—ये बन्धन, क्लेश एवं पतन देने वाले हैं। अतएव यह तो जान लेना आवश्यक ही है कि उसके चित्तमें जो आकर्षण है, किसका है वह। अपने देह, इन्द्रिय या अहंकी तुष्टिके लिए है, तो वासना है। प्रियके देह, इन्द्रिय, अहंकी तुष्टिके लिए है तो वह वासना धोखा दे रही है। वह अपने लिए; किन्तु भ्रम हो गया है कि प्रेमके लिए है। यदि प्रियके भी देह, इंद्रिय, अहंकी तुष्टिसे निरपेक्ष उसके परम हितकी ही चाह है तो वह प्रेम है और प्रेम सदा मंगलकारी होता है।

'जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढ़ा—
या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्रीः।'

—श्री म० भा० १०-६०-४५

महारानी रुक्मिणिजीने श्यामसुन्दरसे कहा—'स्वामी! जिस स्त्रीने आपके चरण-कमलोंके परागकी सुरभि नहीं पायी है, वही प्रियतम बुद्धिसे किसी जीवित मुर्देसे प्रेम करती है।'

प्रेम स्वयं शुद्ध है, निर्मल है प्रकाश स्वरूप है। नियम यह है कि सम्बन्ध सदा समगुण वस्तुओंमें ही होता है। सर्वथा विरोधी धर्मवाली वस्तुओंमें सम्बन्ध हुआ नहीं करता। अब आप देखें कि शरीर अनित्य है, विकारी है, जड़ है, तमोगुण प्रधान है दुःखरूप है—जीवित भी शव ही है; क्योंकि उसमें जो जीवन है, वह तो उसका है नहीं। चर्म, रक्त, माँस, मेद, अस्थि, केश, नख, कफ, पित्त, मल, मूत्र—इनमें-से सबके सब अपवित्र और इनका ही पुञ्जीभाव शरीर। ऐसे अपवित्र, जड़, नश्वर शरीरसे शुद्ध, अविनाशी, प्रकाशरूप प्रेमका सम्बन्ध हो कैसे सकता है।

प्रेमका सम्बन्ध शरीरके माध्यमसे भले हो, होता है आत्मासे। आत्मासे इसलिए होता है कि आत्मा भी अविनाशी, चेतन, शुद्ध, प्रकाश रूप है। प्रेम परमात्माका अंश है—यदि आपको उसे अद्वैत भावसे न मानना हो तो भी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेम किसी भी नाम-रूपके माध्यमसे क्यों न हो, उसका रूप दास्य, सख्य, वात्सल्यादि कोई भीं क्यों न हो, वह होता आत्मासे ही है। उसका प्रेष्ठ.कोई देह–अतः देहका नामधारी नहीं। उस नामसे सम्बोधित, वह देहस्थ जीव है।

लेकिन सचमुच क्या जीव प्रेष्ठ होता है ? अन्तःकरणमें उपहित-चेतनको नहीं, चेतनाभास या प्रतिबिम्बको ही जीव कहा जाता है। अपने कर्मोंके अनुसार चित्तके साथ इसी आभासका जन्म मरण रूप चक्रमें गमनागमन होता है। यही नाना योनियोंमें भटकता है। इस परिच्छिन्नसे प्रेम होता है ? प्रेम जो स्वयं असीम है, अमित प्रभाव है परमात्मरूप है, प्रतिक्षण वर्धमान रहता है, और अविनाशी है, उसका आधार परिच्छिन्न, नाना योनियोंमें भ्रमणशील जीव हो सकता है ? वह प्रेमको अपनी परिधिमें परिसीम बनानेमें समर्थ भी है ?

मुझे बात दूसरी ही लगती है। जैसे आराधना भगवानकी होती है। आराधक समझता है कि वह किसी देवता, भूत-प्रेत या अन्य किसीकी आराधना कर रहा है; लेकिन देवता हों या भूत-प्रेत या जीव होनेसे परिच्छिन्न हैं, एक देशमें रहने वाले हैं, वे एक साथ कई स्थानोंमें कई आराधकोंकी आराधना स्वीकार करनेमें असमर्थ हैं। उन-उन रूपों एवं नामोंसे भगवान् ही आराधित होते हैं और वही उस आराधनाका फल भी देते हैं—

'सर्व देव नमस्कारः केशवं प्रति गच्छति ।'
''यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।।
स तया श्रद्धायुक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हितान् ।।'

—गीता ७-२१, २२

ठीक इसी प्रकार नाना रूपों और नाना नामोंसे होनेवाला प्रेम—यदि वह ठीक प्रेम है तो परमात्मासे ही होता है। प्रेमीकी बुद्धिमें कोई व्यक्ति—कोई नाम या कोई जीव भले हो, लेकिन उसके प्रेमके आधार, उसके प्रियतम होते भगवान् ही हैं। प्रेष्ठ सदा परमात्मा ही होता है। उसे छोड़कर दूसरा कोई प्रेष्ठ नहीं होता।

अब देखिये कि आराधना सदा भगवान्की होती है; किन्तु यदि आराधक किसी देवताके नाम रूपमें आराध्य बुद्धि रखता है तो परमात्माकी आराधना होकर भी उसे देवाराधनका ही फल प्राप्त होता है। जो आराधना उसे जन्म-मृत्युसे छुड़ा सकती थी उससे केवल देवलोक मिलता है, जहाँसे उसे पुनः संसारमें आना ही पडेगा।

देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ।

—गीता ७-२३.

इसी प्रकार प्रेम होता सदा परमात्मासे है और नित्य शुद्ध परमात्मा साक्षात् प्रेम स्वरूप ही है; किन्तु जब प्रेमीकी बुद्धिमें कोई व्यक्ति प्रेमास्पदके रूपमें होता है तो उसका प्रेम उसे इतना परिशुद्ध नहीं बना पाता। उसका प्रेम उसे जीवन-मरणके चक्रसे मुक्त नहीं कर पाता। वैसे प्रेमको बन्धन सह्य नहीं है। प्रेम जब शुद्ध रूपमें कहीं व्यक्त हुआ है तो वह मुक्तिको लावेगा ही; किन्तु व्यक्तिसे प्रेम है तो मोक्षमें देर हो सकती है। ऐसी अवस्थामें प्रेमी अपने प्रेमास्पदके साथ मुक्त होगा।

पतिव्रता स्त्रीको पतिलोककी प्राप्ति होती है। यही बात वात्सल्य, सख्यादि प्रेमके सम्बन्धमें भी है। प्रेम दो व्यक्तियोंको एक करता है। आसक्तिका ऐक्य उनके कर्मोंमें ऐक्य स्थापित कर देता है। प्रेमी तो स्वभावतः शुद्ध होगा; क्योंकि प्रेम सदाचारका पिता है, लेकिन जिससे प्रेम किया गया, वह भी प्रारम्भसे शुद्ध चरित हो, यह कोई निश्चित बात नहीं। प्रेमीका शुद्ध प्रेम उसे अवश्य शुद्ध कर देगा किन्तु समय लग सकता है। लेकिन प्रेमी एवं प्रेमास्पदको कर्म-विधान पृथक कर नहीं सकता। अतः दोनोंके कर्मोंका परस्पर विनिमय हो जाता है और उसके अनुसार दोनोंकी एक साथ लोकांतर गति होती है। दूसरे शब्दोंमें जब तक प्रेमास्पद व्यक्तित्त्व मुक्त न होजाय, प्रेमी मुक्त नहीं हो सकता; उसे लेकर ही उसका मोक्ष होगा।

व्यक्तिसे प्रेम करना देवताओंकी आराधनाके समान टेढ़ा मार्ग है और उसमें प्रेमके विशुद्ध स्वरूप परमात्म रूपको प्राप्त करनेमें बिलम्ब होता है। कई कई जन्मोंका भी विलम्ब होता है। इस रूपमें भी प्रेष्ठ परमात्मा ही रहता है। अतः सबका एकमात्र प्रेष्ठ परमात्मा ही है और उससे ही प्रेम करना जीवका परमश्रेय है।

———

अकिञ्चन कौन ?

'परम अकिंचन प्रिय हरि केरे।'

भगवानका एक नाम है निष्किंचन जन प्रियः अतः यह जानकारी महत्त्वकी है कि निष्किञ्चन कौन है। जिसके पास कुछ नहीं है, क्या वह अकिञ्चन है?

'आपके पास कुछ नहीं है' का अर्थ क्या? आप रहते पृथ्वीपर ही हैं। आपके पास भवन भी होंगे, पशु-पक्षी भी होंगे और पदार्थ भी होंगे। यदि एक भिखारी किसी बैंकमें घुस जाय तो क्या बैंककी तिजोरीका रुपया उससे कुछ गज दूर होनेसे उसके पास है? उसका है?

एक सेठजीकी जेबमें केवल चेक बुक है। जिस बैंकमें उनका रुपया है वह इस समय उनसे सौ मील दूर है, तो क्या सेठके पास कुछ नहीं है? क्या वह निर्धन है?

धन भवनमें आपके पास, आपके घरमें है या आपकी तिजोरीमें, इससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता। उसपर आपका ममत्व है या नहीं, बात यह है। मुनीमके पास चाबी है और तिजोरी उसके बगलमें नोटोंसे भरी है; किन्तु मुनीम धनी नहीं है। इसलिए कि तिजोरीका रुपया उसका नहीं है।

चाबी मुनीमके पास है, तिजोरी उसके पास है और धनी उस गद्दीका स्वामी सेठ है जो भले वहाँसे कई सौ मील दूर बैठा हो।

परम अकिञ्चन प्रिय हरि केरे।

अकाल पड़ा तो सबसे अधिक भिखारी मरे। भूखसे तड़प-तड़प कर लाखों लोग मरे। बार बार ऐसे अकाल पृथ्वीपर पड़े हैं। लोग इसलिए मर गये कि उनके पास कुछ नहीं था। तब क्या वे अकिञ्चन थे?

शरीरपर लँगोटी भी नहीं, टीनका फूटा कटोरा भी हाथमें नहीं और एक एक दाना नालीमें-से चुनकर मुखमें डालता मानव—एक दो नहीं, सैकड़ों, हजारों मानवोंकी ऐसी भीड़ जगत्‌ने देखी है, बार-बार देखी है; किन्तु इनमें कोई अकिञ्चन नहीं था। यह भीड़ कंगालोंकी—दरिद्रोंकी थी।

तब अकिञ्चन कौन ?

अकिञ्चन दिगम्बर अवधूत भी हो सकता है और वह मिथिला नरेश भी था, जिसने कह दिया—

"मिथिलायां दह्यमानायां न मे दह्यति किञ्चन ।

मिथिला जल रही है तो जले ! इसमें मेरा तो कुछ जल नहीं रहा है ।

कौड़ी गाँठ न बाँधहि भीख माँगि नहि खायँ ।
तिनके पीछे हरि फिरैं जनि भूखे रहि जायँ ।।

ये अकिञ्चन हैं जो शरीरको अपना नहीं मानते ।

पड़ोसीका कुत्ता खाय या भूखों मरे, हमसे मतलब । जो कह देते है—'यह शरीर रूपी कुत्ता मेरा नहीं है । यह ईश्वरका है । उसे टुकड़ा डालना हो डाले, न डालना हो मत डाले । इस कुत्तेका दर्द मेरे सिरमें नहीं होता ।'

आप समझे ? अकिञ्चन वह नहीं है जिसके पास कुछ नहीं है । वह भी नहीं है जो किन्हीं पदार्थोंपर अपना स्वत्व नहीं बना सका है । कुछ पास हो या न हो, वासनावान पुरुष अकिञ्चन नहीं हुआ करता । अकिंचन वासनाहीन पुरुष । देह एवं दैहिक किसीमें जिसकी आसक्ति नहीं है, वह अकिंचन है ।

कंगाल–दरिद्र अकिञ्चन नहीं है । भूखों मरता है दरिद्र, और दरिद्र केवल पदार्थ न होनेसे ही अकिञ्चन मनुष्य नहीं होता ।

'स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला ।'

पदार्थभावके अनुभवसे जो संतप्त है, वह करोड़पति भी दरिद्र है । वासनावान—तृष्णावान पुरुष दरिद्र है उसके पास धन भवन, पदार्थ कितने हैं, कितने नहीं हैं, यह प्रश्न नहीं है ।

दरिद्र निष्ठुर होता है और स्वार्थी होता है । इसलिए दरिद्र दुःखी रहता है और परिस्थिति बिगड़े तो अकालमें एड़ियाँ रगड़ रगड़ कर भूखसे दाने-दानेको तड़प तड़प कर मरता है ।

अकिंचन दरिद्र नहीं है, वह फक्कड़ है, वह वासनाहीन है । अतः अपने साथ अपने अन्तःकरणके साथ किसीकी आसक्ति नहीं बाँधता । इसलिए वह श्रीहरिका परमप्रिय है ।

अकिंचन कंगाल नहीं हैं। सम्राटोंका सम्राट परमात्मा उसके साथ रहनेको विवश है। अभावसे सारी सृष्टि मर जाय तो मर जाय पर अभावकी छाया भी उसे छूनेमें समर्थ नहीं है।

अकिंचन—अपना कुछ नहीं। 'मैं मेरा' ही जब कहीं नहीं बँधा तो माया देवी उसका क्या कर लेगी। कष्ट, पीड़ा, अभाव तो मायाके राज्यमें रहते हैं और मायाको अँगूठा दिखा दिया है उसने।

अकिंचन—सृष्टिमें जब अपना कुछ नहीं रहता तब सब जिसका है, वह नारायण अपना हो जाता है। नारायण जिसका अपना है, वह क्यों छोटी पोटली बाँधे।

ऐसी अकिंचनता धन्य है।

भगवद्दर्शनकी पृष्ठभूमि

सीधे शब्दोंमें कहें तो "पृष्ठभूमि" वह स्थिति है जिसमें भगवद्दर्शन होता है। इस सम्बन्धमें मेरे एक श्रद्धेय महापुरुष हैं जो प्रायः अपने प्रवचनोंमें एक उदाहरण सुनाया करते हैं। मैं उनका वह पूरा रूपक दे रहा हूँ।

यह शरीर रथ है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, मन लगाम जीन आदि नियन्त्रक उपकरण हैं, बुद्धि सारथी है तथा जीव रथी है। यह दृष्टान्त उपनिषदोंमें आया है। इस रथमें बैठकर रथीको यात्रा करनी है।

रथी असावधान होकर सारथीको आदेश न दे, सारथी लगाम ढीली छोड़ दे और घोड़े मनमाने मार्गपर जाने दिये जायँ, तो वे विनाशके गड्ढेमें रथ तथा रथीको लेजाकर पटक देंगे।

घोड़े सुरक्षित तथा नियन्त्रित हों, लगाम उनके ठीक लगी हो, सारथी सावधान हो और रथीका आदेश स्वीकार करे, तब यह रथ रथीको परमात्माके राजमहालय तक ले जाता है।

भगवान्‌के राजमहालयके चारों ओर द्वार हैं, प्रत्येक द्वारपर भिन्न-भिन्न रंग लगा है, अलग-अलग साज-सजा है, अलग-अलग लता-वृक्ष हैं।

प्रत्येक द्वार तक पहुँचनेवाले मार्गोंके पथमें दृश्य भी अलग-अलग हैं; किन्तु सब मार्ग उस एक ही राजभवन तक पहुँचते हैं।

जब सौभाग्यशाली कोई रथी उस राजभवनके बहिर्द्वार तक पहुँच जाता है, तब रथ उसे बाहर ही छोड़ देना पड़ता है। रथी रथसे उतरता है। सारथी भी उतर कर घोड़ोंका साज उठाता है और घोड़ोंको लेकर भीतर जाता है। घोड़े प्रथम घेरेमें घुड़साल तक जा सकते हैं और वहाँ बाँध दिये जाते हैं। सारथी साज लिये और आगे रथीके पीछे जाता है और साज रखनेके कक्षमें साज रख देता है। अब वह रथीके पीछे अन्तःपुरके द्वार तक उसे पहुँचाने जाता है; रथी भीतर चला जाता है; किन्तु सारथीको तो वहाँ प्रवेश नहीं।

उस परमधाममें पहुँचा रथी तो लौटता नहीं; लौटता है केवल सारथी। वह साज उठाता है, फिर घोड़े खोलता है, द्वारके बाहर आकर रथ जोड़ता है और लौट आता है। लौटकर वह सारथी बतलाता है कि मार्ग कैसा है क्या दृश्य हैं राजमार्गके, कैसे वृक्ष-लता है राजोद्यानमें तथा राजद्वारका रंग क्या है ?

स्वभावत: विभिन्न द्वारोंसे लौटे सारथियोंके वर्णन विभिन्न प्रकारके होते हैं। उनके पथ-वर्णनमें कोई समन्वय नहीं दीखता। लेकिन प्रत्येकका वर्णन ठीक, पथ ठीक। किसी एकके बताये पथसे चलनेपर उस राजसदन तक निश्चय पहुँचा जा सकता है।

सम्प्रदायोंके मतभेदोंका कारण इस दृष्टान्तमें बहुत स्पष्ट होगया है। वे वर्णन सारथियोंके फगुत्वसाक्षात्कार तकके समीप तक पहुँची बुद्धिके हैं; किन्तु साक्षात्कार तो बुद्धिको नहीं होता। भगवद्दर्शन तो मन बुद्धिसे परेकी स्थिति है।

शरीर रूपी रथ बाहर ही रह जाता है। साधनके कुछ पुष्ट होते ही शरीरकी विस्मृति होने लगती है। इन्द्रियां कुछ और दूर तक अन्तर्दर्शन करती हैं; किन्तु आगे वे भी शिथिल हो जाती हैं। मन जाता है धारणाके क्षेत्र तक; किन्तु ध्यान दृढ़ होते ही उसका भी लय हो जाता है। अब केवल अहंबोधके रूपमें बुद्धि रह गयी।

जब ध्याता-ध्यान ध्येय, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, द्रष्टा दृश्य दर्शनकी त्रिपुटी समाप्त हो जाती है, जब अपने पृथक् अस्तित्वका बोध सर्वथा लय हो जाता है—उस अवस्थाको आत्म-साक्षात्कार या भगवद्दर्शनकी स्थिति कहा जाता है। वह स्थिति शब्दसे परे है—अनुभव स्वरूप है। बुद्धिका वहाँ प्रवेश नहीं है।

यह देह विस्मृति, मनोलय तथा अहंकी समाप्ति आत्म-साक्षात्कारकी पृष्ठभूमि है। सगुण-साकार परमात्माके दर्शनकी यह पृष्ठभूमि नहीं है, ऐसी शंका की जा सकती है। लेकिन ठीक रीतिसे विचार किया जाय तो सगुण दर्शनकी भी यही पृष्ठभूमि है।

सगुण-साकार रूपमें भगवद्दर्शन होता है अभीप्सा अर्थात् तीव्र-व्याकुलतासे। जब दर्शनकी उत्कण्ठा इतनी प्रबल हो जाय कि दर्शनके बिना अब प्राण अगले क्षण नहीं रह सकेंगे, तब भगवान् प्रगट होते हैं।

सगुण-साकार रूपमें भगवद्दर्शन होता इन्हीं चर्म चक्षुओंसे है। भगवान्का दर्शन होता है, उनके श्रीअङ्गकी गन्ध आती है नासिकामें, उनसे बातचीत होती है और उनका दिव्यस्पर्श भी प्राप्त होता है; किन्तु यह सब होते हुए भी—क्या दर्शन करने वालेको अपने शरीरकी सुधि रहती है? क्या उसकी इन्द्रियाँ संसारके अन्य विषयोंको उस समय ग्रहण करनेमें समर्थ होती हैं? क्या उसका मन भगवान्को छोड़ कर कुछ और सोच पाता है? और क्या उसका सीमित अहं उस समय शेष रहता है?—इन प्रश्नोंपर विचार करें तो पता लगेगा कि उसका शरीर, उसकी इन्द्रियाँ, उसका मन, उसकी बुद्धि सर्वात्मना भगवान्की अनुभूतिमें एक हो चुकी होती है और जगतकी ओरसे इन सबका सम्पूर्ण लय हो चुका होता है।

जगत भी और भगवान भी—यह दोनों बातें एक साथ सम्भव नहीं है। एक जड़-अन्धकार धर्मा और दूसरा चेतन-प्रकाश स्वरूप—दोनों एक साथ रह कैसे सकते हैं? इसलिए मार्ग चाहे जो हो, भगवद्दर्शनकी पृष्ठभूमि तो एक ही है—मल, विक्षेप तथा आवरणकी पूर्ण निवृत्ति।

जन्म-जन्मके पाप-कल्मष जो चित्तपर छाये हैं, उन्हें दूर होना ही चाहिए। उनके दूर होनेका—मल-दोषकी निवृत्तिका-लक्षण यह है कि भोगोंकी वासना नहीं रह जाती। इन्द्रियोंकी तृप्ति होती रहे—इसके लिए चिन्ता एवं व्याकुलता नहीं होती। जब तक भोग वासना है—विषय प्राप्तिके लिए चिन्ता होती है, तब तक पाप क्षीण नहीं हुए, तब तक मल दोष निवृत्त नहीं हुआ। कोई संसार भी चाहें और भगवान् भी मिल जायँ, यह नहीं हो सकता। जब कोई भजन करनेवाला पुत्र, भाई, स्त्री आदिके मरने पर या सम्पत्ति नष्ट होनेपर, अपमान होनेपर, व्याकुल होकर भजन तथा भगवान्को दोष देने लगता है— बड़ी उपहासास्पद स्थिति हो जाती है। संसारकी आसक्ति ही तो बन्धन है। जब भगवान् उस बन्धनको काटने

लगे—हम चिल्लाते हैं। हाय, हाय करते हैं। इसका अर्थ तो है कि हमारा भजन ढकोसला मात्र है। हम बन्धन मुक्ति या भगवानको नहीं संसारको ही चाहते हैं।

जीवका बड़ा सौभाग्य, उसका परम पुण्योदय, प्रभुकी महान कृपा है यदि भोगोंकी वासना न रह जाय, प्रारब्धसे प्राप्त भागोंमें ही सन्तुष्ट रहे। 'यह नष्ट न हो, यह किसी प्रकार मिले'—यह चिन्ता समाप्त हो जाय—समझना चाहिए कि मल-दोष दूर हो गया। चित्तका दर्पण अब स्वच्छ हो गया।

अब रहा विक्षेप। अकारण ही मन अनेक विचारोंमें भटकता है। एक स्थानपर वह स्थिर नहीं होता। जिन बातोंको सोचनेसे कोई लाभ नहीं, जिन्हें सोचना हम चाहते नहीं, मनमें ऐसे व्यर्थ संकल्प आते रहते हैं। स्वच्छ होनेपर भी चित्तका दर्पण हिल रहा है—स्थिर नहीं है।

पाप कर्मोंके त्यागसे परोपकार, जीवदया, भगवन्नाम-जप, पुण्यकर्म, सत्संग तथा भगवत्कथा श्रवणसे जैसे मल दोष दूर होता है, वैसे ही भगवन्नाम जप, भगवद्ध्यान भगवच्चरित-चिन्तन तथा आत्मतत्त्वके मननसे विक्षेप दूर होता है। मन जहाँ जाय, वहाँसे उसे बलपूर्वक बारबार हटा कर इष्ट चिन्तनमें लगाते रहना चाहिए। इस प्रकारके सतत प्रयत्नका नाम अभ्यास है। निरन्तर, दीर्घकाल तक, सत्कार पूर्वक अभ्यास करनेसे अभ्यास दृढ़ हो जाता है, विक्षेप दूर हो जाता है और चित्त स्थिर होता है।

चित्तका दर्पण स्वच्छ हो गया तथा उसका हिलना भी दूर होगया; किन्तु अभी उसपर एक पर्दा पड़ा है। यह पर्दा है अविद्याका। अहंताका परिच्छिन्न बोध तथा साधनका अभिमान ही यह पर्दा है।

यह आवरण नष्ट होता है निदिध्यासनसे अथवा कातर प्रार्थना करते हुए अपनेको सम्पूर्ण रूपमें भगवान्के चरणोंमें समर्पित कर देनेसे—प्रपत्तिसे। सम्यक् शरणागतका वे करुणा-वरुणालय स्वयं आवरण नाश कर देते हैं।

दोष त्रय—मल विक्षेप-आवरण—का भंग होते ही भगवद्दर्शनकी प्राप्ति होती है। जीव धन्य हो जाता है। समाप्त हो जाता है सदाके लिए उसका जन्ममरणका चक्र। मनुष्य जीवनकी सार्थकता उस परमस्थितिको प्राप्त करनेमें ही है।

——

भगवद्दर्शनके पूर्वकी साधनाएं और स्थितियाँ

भगवद्दर्शनके पूर्व साधक अधिकार भेदसे जिन साधनाओंका आश्रय लेते हैं अथवा ले सकते हैं, उन सबकी सूची मात्र देना भी सम्भव नहीं है। क्योंकि विश्वमें जितने मरणोत्तर जीवनको स्वीकार करने वाले मत हुए हैं तथा हैं, उन सबमें अपनी मान्यताके अनुसार भवद्दर्शन प्राप्ति की साधनाएँ हैं। एक-एक धर्म एवं सम्प्रदायके बहुतसे भेदोपभेद हैं और उन एक-एक भेदोप-भेदोंमें भी कई-कई प्रकारकी साधनाएँ उन सबका नाम-निर्देश भी सम्भव नहीं। लेकिन यहाँ उनके मुख्य वर्गोंका विवरण दिया जा सकता है।

समस्त साधनाओंको तीन मुख्य भागोंमें बाँटा जा सकता है १–क्रिया प्रधान, २–भावना प्रधान, ३–विचार प्रधान, आप चाहें तो चौथी श्रेणी मिश्रित रख सकते हैं।

हमारे पास तीन प्रकारकी ही शक्तियाँ हैं १.कर्म, २.भावना तथा ३. विचार और इन्हींमें-से किसीको हमें अपने प्रत्येक उद्योगका माध्यम बनाना पड़ता है। भगवान् विभु हैं एवं सभीको प्राप्य हो सकते हैं, अतः इन तीनों-में-से किसी भी माध्यमसे उन्हें पाया जा सकता है।

यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना अच्छा होगा कि कर्म भावना या विचार-की प्रधानतासे ही कर्मयोग,भक्ति तथा ज्ञान मार्गका विचार किया जाता है। वैसे तीनों प्रकारके साधकोंमें तीनों बातें साथ-साथ होती हैं और जहाँ तीनमें-से एकका भी अभाव हुआ वहाँ भगवत्प्राप्ति होती ही नहीं। क्योंकि कर्मके विना भक्ति और ज्ञान दोनों पंगु हैं। क्रियाहीन भावना ख्याली पुलाव तथा क्रियाहीन विचार व्यर्थ रहता है; इसी प्रकार भावहीन क्रिया निर्मम तथा भावहीन ज्ञान शुष्क हो जाता हैं। विचार हीन क्रिया असंगत एवं अनर्थो-त्पादक हो सकती है तथा विचार हीन भावना अन्धी होगी।

क्रिया, भावना तथा विचार तीनोंका समुचित संग ही साधकके श्रेयका समुचित संग होनेपर भी किसीमें क्रिया-पाटवकी प्रधानता होती है, किसीमें भावनाशीलता अधिक और किसीमें अधिक विचारकी प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्तिके इस भेदसे साधकका अधिकार निर्णय होता है और अधिकारके

अनुरूप साधनमें लगनेसे ही शीघ्र सफलता मिलती हैं।

श्रीमद्भागवतमें उद्धवजीको उपदेश करते हुए भगवानने कहा—

"योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥

श्रीम. भा. ११।२०।६-८

मनुष्योंके कल्याणकी इच्छासे मैंने तीन योगोंका उपदेश किया है—ज्ञान, कर्म और भक्ति। इनको छोड़कर और कोई उपाय कहीं आत्म-कल्याणका नहीं है।

जो विषयोंसे सहज विरक्त हैं और संसारमें कर्म करनेमें जिनकी प्रवृत्ति नहीं होती, उन कर्म-त्यागियोंके लिये ज्ञानयोग--विचारका मार्ग है और जिनका चित्त वासनओंसे विरक्त नहीं हुआ है, जो कर्म किये बिना रह नहीं पाते हैं, उन कामना युक्त पुरुषोंके लिए कर्मयोग (निष्काम कर्म तथा हठयोग, लययोग, जपादि क्रिया प्रधान अन्य साधन) हैं।

जिस पुरुषकी किसी भी प्रकार मेरी कथामें श्रद्धा होगयी है और जो न विरक्त ही है और न अत्यन्त आसक्त ही अर्थात् जो कर्म किये बिना रह ही न सके ऐसी अवस्था में नहीं, जिसमें कामनायँ उठती हैं; किन्तु इतनी प्रबल नहीं कि वे उसे अधर्ममें प्रवृत्त कर सकें, ऐसे पुरुषके लिए भक्तियोग सिद्धिप्रद है।"

भगवत्प्राप्तिके पूर्व इन तीनोंमें-से एकका अवलम्बन ग्रहण करके साधकको चलना पड़ता है। इन तीनोंके बहुत भेद हैं और हो सकते हैं, अपने अधिकारके अनुसार गुरु, संत, शास्त्रके उपदेशको स्वीकार करके साधक उपदिष्ट साधनाका आश्रय लेता है।

साधन चाहे जो भी हो, उसमें दृढ़निष्ठा परमावश्यक है। जैसे कन्याका विवाह होजानेके पश्चात् उसके लिए उसका पति ही सबसे उपयुक्त, पुरुष है, दूसरे पुरुषोंके सम्बन्धमें विचार करना भी उसके लिए सर्वथा निन्द्य है, उसी प्रकार एक बार जो साधन पथ अपना लिया— उसे जीवन दे दिया। अपने लिए वही सर्वोत्तम साधन, वही सर्वश्रेष्ठ इष्ट एवं उनके उपदेष्टा आदि

ही सर्वश्रेष्ठ गुरु हैं। दूसरे साधन, इष्टकी श्रेष्ठता' सुगमताकी ओर चित्तले जाना भी साधनमें व्यभिचार है।

जहाँ भगवत्प्राप्तिसे पूर्वके साधनोंका वर्णन असम्भव है वहाँ स्थितियोंका वर्णन कठिन नहीं है; क्योंकि साधन कोई भी हो, सभी साधन मनको अन्तर्मुख करते हैं और इस अन्तर्मुखताकी स्थितियाँ प्रायः सभीमें एकसी ही होती हैं।

सबसे प्रथम स्थिति है मुमुक्षा। अर्थात् जन्म-मरणके चक्रसे छूटनेकी इच्छा होना। इससे पूर्व भी एक स्थिति चाहें तो कह सकते हैं और वह है जिज्ञासा। अर्थात् अपने सम्बन्धमें, जगत्‌के सम्बन्धमें तथा जगत्‌के सम्बन्धमें तथा जगत्‌के कर्ताके सम्बन्धमें जाननेकी इच्छा। जीवन क्या है? क्यों प्राप्त हुआ यह जीवन? मृत्युके पश्चात् जीवनकी क्या स्थिति होती है? यह जगत क्या है? बना है जगत? कोई इसका निर्माता है भी या नहीं? निर्माता है तो कैसा है वह? इन प्रश्नोंका चित्तमें जब उदय हो तो उसे जिज्ञासासे ही अध्यात्मका श्रीगणेश होता है।

जिज्ञासा होने पर उसकी तुष्टिके लिए जानकारोंके समीप व्यक्ति जाता है या ग्रन्थोंका सहारा लेता है। इस अवस्थाको सत्संगसे ही मरणोत्तर जीवनमें आस्था होती है।

मरणोत्तर जीवनमें आस्था हो जानेके पश्चात् मरणोत्तरकालमें शाश्वत सुख-शान्ति प्राप्त हो, यह इच्छा होती है और इसी इच्छाका नाम मुमुक्षा है मैंने इस मुमुक्षाको प्रथम स्थिति इसलिए भी माना है कि आध्यात्मिक जीवनका प्रारम्भ इसीसे होता है।

श्रेयकी उपलब्धि, भगवत्प्राप्ति, तत्वज्ञान या इस प्रकारके और भी जो शब्द भगवद्दर्शन अथवा परमावस्थासे सम्बन्धमें विवादका कोई कारण नहीं। वह एक स्थिति है और उसे पानेकी इच्छा जागृत होनेपर ही साधन प्रारम्भ होता है।

"आचारः प्रथमो धर्मः"

मुमुक्षा तो इच्छा है, क्रियाका प्रारम्भ तो होता है सदाचारसे। योग दर्शनके शब्दोंमें यम और नियम प्रथम आवश्यक हैं। कोई भी साधन आप अपनावें जीवनकी सात्विकता, आचारकी पवित्रता तो पहिली आवश्यकता है; क्योंकि भगवद्दर्शनकी परमास्थिवि गुणातीतावस्था है और वह क्रमशः तम रज, सत्व पर विजय करके ही प्राप्त होती है।

कोई एक साथ पूर्व भी चले और पश्चिम भी चले, यह जैसे नितान्त असम्भव है, उसी प्रकार यह भी नितान्त असम्भव है कि कोई बहिर्मुख भी बना रहे और अन्तर्मुख भी होजाय। भगवद्दर्शन या आत्मोपलब्धि या अन्तर्मुखताकी सीमा है। अतः उसे पाना है तो बहिर्मुखताका त्याग सबसे पहिली शर्त है।

यहाँ यह कसौटी आप स्मरण रखेंगे तो कभी ठगे नहीं जायँगे। कोई आपको धोखा नहीं दे सकेगा। कसौटी यह है कि जो संग, जो साधन, जो गुरु या जो सन्त सदाचारके विपरीत प्रेरणा दे, विषय भोगोंमें प्रोत्साहित करे, बहिर्मुखताको बढ़ावा दे, उससे तुरन्त हट जाइये। वहाँ धोखा है, ठगी है। वहाँ न साधन है, न सन्तत्व और न परमार्थ। वहाँ तो स्वार्थ तथा पतन है। प्रत्येक संग, साधन, गुरु तथा सन्त सदाचारकी, संयमकी, विषय-भोगोंसे विरक्त होनेकी, अन्तर्मुखताकी प्रेरणा देते हैं। जहाँ यह प्रेरणा जितनी प्रबल हैं, उतना ही सन्तत्व प्रोज्वल है। वही संग वाञ्छनीय है।

सत्य, संयम, सदाचार, सन्तोषादि पवित्र गुण अपनाए बिना अध्यात्मिक जीवन प्रारम्भ नहीं होता। लेकिन सदाचारी जीवन ही सीमा नहीं हैं। सदाचार तो नींव है जिसपर अध्यात्मके भव्य भवनको खड़ा होना है।

साधनमें प्रगति होती है वैराग्यसे। अभ्यास और वैराग्य—ये साधन रूपी रथके दो चक्र हैं। इनमें कोई भी एक न रहनेसे रथमें गति नहीं आवेगी। अन्यायोपार्जित, शास्त्र निषिद्ध, भोगोंका सर्वथा त्याग तो सदाचार है, किन्तु न्यायोपार्जित, शास्त्र-विहित भोग भी तो बन्धनके हेतु ही हैं वे भी बहिर्मुख करते हैं। उनकी आसक्ति भी त्याज्य है और यह आसक्ति त्याग ही वैराग्य है।

सांसारिक भोगोंका, घरका, स्वजनोंका स्वरूपतः त्याग ही वैराग्य नहीं है। स्वरूपता त्याग करके भी यदि मनमें आसक्ति बनी रहे तो ऐसा त्याग, वैराग्य नहीं होता। साधकके लिए जहां अधिक भोगोंका सेवन वर्जित है, वहीं उनके आत्यन्तिक त्यागका आग्रह भी अहितकर है। उसके लिए 'युक्ताहार विहार' अर्थात् शारीरिक आवश्यकताओंकी धर्म पूर्वक सामान्य-पूर्ति उचित कही गयी है। लेकिन उसके मनमें समस्त भोगोंके प्रति, सब स्वजनों एवं अपने शरीरके प्रति भी अनासक्ति होनी चाहिए। इस अनासक्तिका नाम ही वैराग्य है।

जीवनमें सदाचार एवं मनमें अनासक्तिकी प्रतिष्ठा हो जाय तो साधन तीव्रतासे गतिशील होता है। अब जो साधनकी स्थितियाँ होती हैं, उनका नामकरण योगके शब्दोंमें करें तो उन्हें प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि कहा जायगा। इनमें-से समाधि तो भगवद्दर्शनकी अवस्था है। उससे पूर्वकी अवस्थाएँ तो ध्यान तक ही है। अतः हम उनपर ही यहाँ विचार करते हैं।

साधन कोई भी हो; जैसे ही उसमें एकाग्रता होने लगेगी, प्रत्याहारका अर्थ है सब इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे हटाकर भीतर खींच लेना और ऐसा किये बिना भला कोई भी साधन कैसे किया जा सकता है ? कमसे कम सभी ज्ञानेन्द्रियोंको तो उनके विषयोंसे बलपूर्वक आपको हटाना पड़ेगा। बार-बार प्रयत्न पूर्वक हटाकर साधनमें मन लगाना पड़ेगा। यह प्रश्न ही प्रत्याहार है।

इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे मनके द्वारा हटाकर मनके द्वारा ही लक्ष्यके स्वरूपका चिन्तन करना धारणा कहलाती है। मन बार-बार इधर-उधर जाता है और आप बार-बार उसे प्रयत्न पूर्वक लक्ष्यमें लगाते है—लक्ष्यका स्वरूप मनमें कुछ-कुछ स्पष्ट-सा होता है। यही धारणाकी स्थिति है।

परिपक्व धारणाका ही नाम ध्यान हैं। लक्ष्यका स्वरूप चित्तमें स्पष्ट होगया और मन उसमें एकाग्र होगया। ध्यानकी अवस्था नाना प्रकारसे चमत्कारों, नाना प्रकारकी अनुभूतियोंकी भूमि है। सिद्धियोंका भी इसी अवस्थामें प्रादुर्भाव होता है। मनमें तथा शरीरमें इस अवस्थामें अनेकों प्रकारके अद्‌भुत लक्षण भिन्न-भिन्न साधनोंके अनुसार व्यक्त होते हैं।

ध्यानके पश्चात्‌की स्थिति है—तीव्र व्याकुलता, अभीप्सा। लक्ष्यको साक्षात् करके—उपलब्ध करनेके लिए प्राण छटपटा उटते हैं। इतनी व्याकुलता होती है कि अब जीवन असम्भव हो उठता है बस—अहंकार डूब जाता है उस अभीप्सामें व्यक्तित्वकी सीमा समाप्त हो जाती है। साधक साध्य और साधनका भेद नहीं जाता। बूंद समुद्रमें मिलकर एक होगयी भक्तको भगवान्‌ने प्रत्यक्ष अपना कर लिया। जीवन धन्य होगया।

--*--

भगवद्दर्शनके बादकी स्थिति

भगवद्दर्शनके पश्चात् भगवद्दर्शन प्राप्त महापुरुषकी क्या स्थिति होती है ? यह प्रश्न प्रायः पूछा जाता है । गीतामें अर्जुनने भगवान्से द्वितीय अध्यायमें तथा चतुर्दश अध्यायमें भी यही बात पूछी और भगवान्ने दोनों स्थानोंपर इसका उत्तर भी दिया है ।

जैसे प्रायः सभी पूछते हैं, अर्जुनने भी भगवद्दर्शन प्राप्त या स्थितप्रज्ञ—गुणातीतके बाह्यलक्षण ही पूछे थे; किन्तु भगवान्ने जो उत्तर दिया, वह सर्वथा आन्तरिक दशाको सूचित करता है क्योंकि कोई ऐसा बाह्य लक्षण नहीं, जिससे भगवद्दर्शन प्राप्त महापुरुषको पहिचाना जा सके ।

भगवद्दर्शन प्राप्त पुरुष गोरा होता है या काला ? मोटा होता है या पतला ? लम्बा होता है या ठिगना ? दुर्बल होता है या तगड़ा ? ऐसे प्रश्न मैं जानता हूँ कि आप नहीं करेंगे । यह प्रश्न भी जो कुछ समझदार हैं वे नहीं करेंगे कि—ऐसा महापुरुष स्वस्थ रहता है या रोगी ? पढ़ा-लिखा होता है या अनपढ़ ? व्यवहार पटु होता है या भोला ? मैला कुचैला रहता है या सफेद झक ? क्योंकि आप जानते हैं कि शरीर कैसा भी हो—भगवद्-दर्शन पाया जा सकता है और भगवद्दर्शनके पश्चात् भी शरीरको प्रारब्धके भोग भोगने ही पड़ते हैं । अतः भगवद्दर्शन प्राप्त महापुरुष रोगी या स्वस्थ, सबलकाय या क्षीणकाय मिल सकते हैं । पढ़ा-लिखा होना न होना, व्यव-हार-पटु होना न होना भी महापुरुषके लक्षणोंमें नहीं है ।

भगवद्दर्शन प्राप्त पुरुष वक्ता, कथावाचक, गायक या लेखक हो ही, यह आवश्यक नहीं और इनमें-से कोई न हो, यह भी नियम नहीं । जैसे नृत्यकर्ता, चित्रकार तथा दूसरी कलाओंके जानकार भी भगवद्दर्शन प्राप्त कर सकते हैं; किन्तु उन कलाओंके नैपुण्यके होने न होनेका कोई सम्बन्ध भगवद्दर्शनसे नहीं है, वैसे ही वक्ता, कथावाचक, लेखक आदिके ये गुण भी कला हैं । इनका सम्बन्ध भी भगवद्दर्शनसे नहीं है ।

लोग स्थूल शरीरको तो शरीर मानते हैं; किन्तु सूक्ष्म शरीरको शरीर मान कर विचार नहीं करते, इससे अनेक भ्रम उत्पन्न होते हैं । जो साधक है उसे अपने स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर दोनोंको नियन्त्रणमें

रखना पड़ता है। सोने-जागने, उठने-बैठने, खाने-पीनेमें जैसे स्थूल शरीर-पर नियमन रखना उसके लिए आवश्यक है; वैसे ही मनकी वृत्तियोंका भी संयम उसके लिए परमावश्यक है; किन्तु भगवद्दर्शनकी प्राप्तिके पश्चात् महापुरुष जैसे शरीर—स्थूल शरीरसे अनासक्त हो जाते हैं, वैसे ही सूक्ष्म शरीरसे भी उदासीन हो जाते हैं।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥

—गीता १४-२२

साधकके लिए तो मनका सत्वगुणमें रहना परम आवश्यक है। वह इसका प्रबल प्रवाह आग्रह रखता है, किन्तु महापुरुष ? उसके लिए जैसा सत्त्व वैसा तम। शरीरके रोग और मनके रोग उसके लिए एक कोटिके हैं। दोमें कोई उसे व्यथित, चिन्तित, क्षुब्ध, व्यस्त नहीं बना पाते।

अतएव भगवद्दर्शन प्राप्तिके पश्चात् वह महापुरुष शान्त स्वभाव होगा या क्रोधी, यह बात कुछ कही नहीं जा सकती। शुकदेव, दत्तात्रेय जैसे परमशान्त महापुरुष हैं, तो दुर्वासा मुनि जैसे महा क्रोधीको शास्त्र महा-पुरुष न मानता हो ऐसी बात नहीं है। यही बात मनके अन्य रोगोंके विषय-में कही जा सकती है।

यहाँ यह बात समझ लेना आवश्यक है कि भगवद्दर्शन प्राप्त महा-पुरुषमें देहासक्ति नहीं होती; न स्थूल देहके प्रति और न सूक्ष्म देहके प्रति। सामान्य व्यक्तिको जब स्थूल देहमें रोग होता है तो दो कष्ट होते हैं, १. पीड़ा, २. चिन्ता। इसी प्रकार जब उसके सूक्ष्म देहमें रोग होते हैं अर्थात् काम, क्रोध, लोभादि जगते हैं तो दो बातें होती हैं, १. उस वेगका प्रभाव, २. उसके प्रति व्यस्तता; लेकिन जो देहासक्ति ऊपर उठ चुके उनमें चाहे स्थूल देहका रोग हो या सूक्ष्म देहका, दोनों एक एक क्रिया ही उत्पन्न करते हैं। स्थूल देहके रोगमें उन्हें पीड़ाका अनुभव तो होता है; किन्तु चिन्ता नहीं होती। इसी प्रकार सूक्ष्म देहके रोगमें मनोविकारोंके वेगका प्रभाव तो होता है; किन्तु व्यस्तता नहीं होती।

इस अनासक्तिका प्रभाव आप बालकमें देख सकते हैं। उसकी न स्थूल देहासक्ति जागृत होती भली प्रकार और न सूक्ष्म। फलत: चोट लगने या ज्वर आनेपर वह रोता तो है; किन्तु पीड़ा घटते ही रोगको भूल कर खेलनेमें लग जाता है। इसी प्रकार क्रोधमें वह साथीसे लड़ता है, मारपीट

करता है; किन्तु कुछ ही देरमें फिर दोनों मिल जाते हैं और भूल जाते हैं कि वे अभी ही लड़े थे। भगवद्दर्शन प्राप्त महापुरुषकी स्थितिका कुछ अनुमान बालककी इस अवस्थासे आप कर सकते हैं। वैसे बालकमें देहासक्तिके सुप्तांकुर होते हैं और महापुरुषमें वे भी नहीं होते।

जो लोग मानते हैं कि महापुरुषको क्रोध नहीं आता; काम या अन्य विकार उसमें उठते ही नहीं; उसमें स्वादबोध नहीं होता या स्पर्शबोध नहीं होता उनकी मान्यतासे सहमत होना कठिन ही है। क्योंकि शास्त्र तथा युक्ति दोनों उनके विपक्षमें हैं। भगवद्दर्शन या आत्मज्ञान होनेसे आँख, कान, नाक, जिह्वा या त्वचाकी शक्ति मारी नहीं जाती, यह आप जानते हैं। नपुंसकता भी नहीं आती और न उन्माद हीं आता है। ऐसी अवस्थामें इन्द्रियोंके उन-उन विषयोंका सामान्य पुरुषकी भांति ही उस महापुरुषका सामान्य पुरुषकी भाँति ही उस महापुरुषको भी बोध होगा ही। उसका स्थूल देह रोगी होना है, इसी प्रकार उसके सूक्ष्म देहमें भी रोग असम्भव नहीं हैं। लेकिन उसमें शिशुकी भाँति स्थूल या सूक्ष्म किसी देहके प्रति आसक्ति नहीं है. यह बात सर्वथा ठीक है और आसक्तिके अभावमें स्थूल देहके रोग व्यथा-चिन्ता नहीं दे पाते। सूक्ष्म देहके रोग स्थायित्व ग्रहण नहीं कर पाते यह भी सत्य है।

इस प्रकार कोई भी शारीरिक लक्षण भगवद्दर्शन प्राप्त महापुरुषका नहीं हो सकता। भगवद्दर्शनमें तन्मयताके तारतम्यको ध्यानमें रखकर शास्त्रोंने सात भूमिकाओंका उल्लेख किया है। उनमें तीन भूमिकाएँ साधनावस्थाकी हैं और चार सिद्धावस्थाकी।

प्रथम भूमिका है जिज्ञासा। स्वाध्याय, सत्संग तथा साधनके सामान्य प्रयत्न भी इसीके अन्तर्गत हैं। द्वितीय भूमिका है परायणता। यम, नियम, प्रत्याहार और धारण तककी अवस्थाएँ इसके अन्तर्गत आती हैं। तृतीय अवस्था तन्मयता है—ध्यान तथा अभीप्सा भी इसीकी सीमामें हैं। ये तीनों साधना अवस्थाकी स्थितियाँ हैं।

चतुर्थ भूमिका है उपलब्धि। इसे आप समाधि भी कह सकते हैं। चाहे क्षणार्द्धके लिए ही हो, भगवद्दर्शन प्राप्त हो जाना या आत्मानुभव। उसके पश्चात् वह स्थिति बनी रहती।

पञ्चम भूमिका है प्रवृत्ति। इसे कुछ लोग आचार्यत्व भूमि भी मानते हैं। प्रयत्न करनेपर भगवद्दर्शनकी प्राप्ति बार-बार होती रहती है। इस

स्थितके महापुरुषोंमें अन्य जनोंको भी भगवद्दर्शनके पथमें लगानेकी प्रवृति रह सकती है और सच्चे अर्थोंमें वे ही आचार्य हैं।

षष्ठम भूमिका है निमग्नता। भगवद्दर्शनकी अवस्था प्रायः बनी रहती है। शरीर और संसारका बोध विस्मृत रहता है। प्रयत्न पूर्वक उस अवस्थासे कुछ क्षणके लिए उत्थान होता है; किन्तु फिर वाह्य ज्ञान लुप्त हो जाता है। शरीरकी सहज आवश्यकताएं विवश करती हैं और तभी उत्थान होता है।

ऐसे महापुरुष उपदेश तो क्या करेंगे उनको प्रायः अपने स्नान, भोजन, वस्त्र धारणकी भी सुधि नहीं रहती। दूसरोंको ही उनका ध्यान रखना पड़ता है। दूसरे ही उनके शरीरकी रक्षा तथा पोषण चलाते हैं।

सप्तम भूमिका है एकत्व। उसमें-से उत्थान नहीं होता। इस अवस्थामें पहुँच जानेपर श्वासका चलना ही शरीरके जीवित रहनेका चिन्ह रह जाता है और इस प्रकार केवल २१ दिन शरीर जीवित रह पाता है। अतः छठवीं भूमिका प्रारम्भ हो गयी यह जाननेका अवसर समीपस्थोंके पास भी प्रायः नहीं होता। छठवीं भूमिकासे प्रयत्न करके भी महापुरुषकी वृत्ति बाहर न लायी जा सके तो सातवींमें पहुँचनेका अनुमान किया जाता है।

भगवद्दर्शनकी भ्रान्ति

ध्यानमें जो भगवद्दर्शन होता है, स्वप्नमें जो भगवद्दर्शन होता है और तन्द्रा की दशामें जो संस्कार जनित भगवद्दर्शन होता है, उसमें भ्रम हो सकता है, उसमें प्राप्त आदेश तथा भविष्य-वाणियाँ भ्रममें डालने वाली हो सकती हैं।

प्रत्यक्षमें' जागते हुए खुले नेत्र जो भगवद्दर्शन होता है, जिसमें भगवान्के साथ बातचीत, हुई उनका चरण स्पर्श हुआ ऐसा स्पष्ट भगवद्दर्शन भी

भगवद्दर्शन नहीं हो सकता। अनेक आस्थाएँ हैं, जिनमें इस प्रकार के भगवद्दर्शनका भी भ्रमका भी भ्रम ही हुआ हो। अतः भगवद्दर्शन होनेपर भी वह वास्तविक भगवद्दर्शन ही है—मनका भ्रम नहीं है, इस विषयमें बहुत सावधान रहना चाहिए। ऐसे दर्शनके भी आदेश तथा भविष्यवाणियोंपर सहसा भरोसा नहीं कर लेना चाहिए।

आप चौकेंगे और कहेंगे, यह तो नास्तिकों जैसी बात है। भगवद्दर्शन प्रत्यक्षमें, जाग्रतमें खुले नेत्रों हो जाय-दूसरे मनुष्योंके समान हम भगवान् को देखले छूलें उनसे बातें करलें फिर कसर क्या रही ? यहाँ भ्रमका क्या काम ? लेकिन यहीं सबसे अधिक भ्रम होता है। यहीं सावधानी अधिक आवश्यक है।

पता नहीं आपका किसी मेस्मराइज्मके अच्छे ज्ञातासे काम हो तो मेरी बात आप अच्छी प्रकार समझ जायँगे। मेस्मराइज्म जिसे सम्मोहित करता है उस सम्मोहित व्यक्तिको वह अपनी इच्छा और आदेशके अनुसार सभी दृश्य दिखा सकता है, वह सम्मोहित व्यक्तिको कहदे कि भगवान् तुम्हारे सामने हैं तो उस मेस्मराइजरके मनमें भगवान्का जो रूप है, सम्मोहित व्यक्तिको उस रूपके प्रत्यक्ष दर्शन होने लगेंगे। वह भगवानसे बातें कर सकेगा और उन्हें भी सकेगा।

इससे भी सरल विधि हिप्नाटिज्मकी है। किसी बालकके नखपर कोई विशेष काजल लगा कर बालकको उस काजलपर देखनेको कहा जाता है। बालकको उस काजलमें मैदान, वृक्ष आदि सब दीखते हें। हिप्नाटाइजरके आदेशानुसार उसे वहाँ पूरा राज-दरबार दीखने लगता है। ऐसी अवस्थामें उसे भगवान भी दिखाये जा सकते हैं।

प्रबल मनोशक्तिके लोग एक पूरी भीड़को प्रभावित करके अद्भुत दृश्य दिखला देते हैं, यह बात आप जानते ही हैं। आपने जादूगरके खेल होते देख होगे। कुछ खेल हाथकी सफाईके और कुछ मेस्मराइज्मके। आपको पता भी नहीं होता कि आपपर सम्मोहनका प्रभाव डाला गया है। आप जागृत सावधान खड़े होते हैं। परस्पर बात करते होते हैं; किन्तु जादूगर आपको ठनाठन रूपए गिरते प्रत्यक्ष दिखा देता है। ऐसे रुपये जिनको देखते है, जिनका शब्द सुनते हैं, जिन्हें हाथमें लेकर उस समय देख सकते हैं; किन्तु यह सब होनेपर भी वे मिथ्या रुपये हैं। केवल रुपये ही नहीं, फूल-फल तथा दूसरी वस्तुओंको भी इस प्रकार जादगर दिखा सकता हें।

आप अब मेरी बात समझ गये होंगे। जैसे जादूगरने आपको रुपये दिखा दिये—भगवान भी दिखा दे सकता है। वह केवल इसलिए ऐसा नहीं कर पाता कि उसने इधर ध्यान नहीं दिया। भगवान्‌के चित्र या मूर्तिको अपने मनमें उसने साकार करनेकी चेष्टा नहीं की।

जादूगर भले ऐसा न कर सके; किन्तु ऐसा करके शिष्योंको भ्रान्त करने वाले गुरू लोग् हैं। एक महात्माको मैं जानता हूँ। वे कथामें घोषणा करते हैं–जिनको भगवद्दर्शन हुआ हो, हाथ उठावे, न हुआ हो तो मेरे पास आओ ! मैं दर्शन करादूँगा।'

श्रद्धालु समाजमें भगवद्दर्शनकी जो उत्कण्ठा है, जो महत्ता है उसके कारण इस प्रकार भगवद्दर्शन करा देनेवालोंका जो प्रभाव पड़ता है, उन्हें आप समझ सकते हें। जो भगवद्दर्शन करादे, उसे सिद्ध महापुरुष क्यों न लोग मानें। वह धन-धर्म दोनोंके साथ मनमाने गुलछर्रे उड़ा करके भी महापुरुष ! और आपको क्या यह भी अभी बताना पड़ेगा, कि इस प्रकार भगवद्दर्शनका महत्व उतना ही है जितना सिनेमामें भगवानके रूपमें सजे अभिनेताके दर्शनका। कोई मानसिक या आध्यात्मिक लाभ इस प्रकारके भगवद्दर्शनसे नहीं हुआ करता।

अतएव भगवद्दर्शन करानेका आशवासन देने वाले लोगोंसे कितना अधिक सावधान रहना आवश्यक है, अब यह अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं रह गयी है।

यहाँ तक कि बात तो दूसरेके द्वारा भगवद्दर्शन कराने की हुई। एक ऐसी भी स्थिति है जब उत्कण्ठा तथा तीव्र इच्छाके कारण व्यक्ति स्वयं सम्मोहित हो जाता है। उसकी इच्छा और कल्पना ही भगवान्‌का रूप रख कर उसके सामने प्रगट हो जाती है। वह भगवान्‌को प्रत्यक्ष देखता, छूता तथा उनसे बातें करता है और फिर यह भी उसका भ्रम है। यह भगवद्दर्शन नहीं है। भगवद्दर्शनका कोई लाभ इस दर्शनसे नहीं होता। इस दर्शनके आदेश तथा भविश्य वाणियां झूठी एवं भ्रामक हो सकती हैं।

यह अच्छी रही—भगवद्दर्शनका जो सर्वमान्य मार्ग है तीव्रतम उत्कण्ठा, उसीके द्वारा भ्रम ! फिर भगवद्दर्शन होगा कैसे ? यही कैसे समझा जाय कि कौन सा भगवद्दर्शन सच्चा है और कौन-सा भ्रम ?

ये प्रश्न ठीक है और इनका समुचित उत्तर है। यह आप जानते हैं कि भगवान् सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। उनके सम्मुख माया वैसे ही नहीं टिक

सकती जैसे सूर्यके सम्मुख अन्धकार। भगवद्दर्शन चाहे आधे या चौथाई क्षणके लिए हो, यदि वह सचमुच भगवद्दर्शन करनेवालेके हृदयकी अविद्या निश्चय नष्ट हो जायगी। उसी क्षण उसके संचित कर्म भस्म हो जायँगे और वह जन्म-मरणके चक्रसे मुक्त हो जायगा। इस बातमें किसीको कोई सन्देह एवं आपत्ति नहीं हो सकती।

दूसरे किसीकी अविद्या नष्ट हुई या नहीं यह जाननेका साधन किसी सर्वज्ञके पास भले हो, सर्व साधारणके पास नहीं है। इसलिऐ दूसरे अमुक व्यक्तिको भगवद्दर्शन हुए या नहीं हुए और वह दर्शनका भ्रम ही था या सच्चा भगवद्दर्शन था यह बात दूसरा कोई नहीं जान सकता। दूसरेके सम्बन्धमें निश्चय करनेमें भूल होनेकी बहुत सम्भावना है;किन्तु अपने सम्बन्धमें मनुष्य बड़ी सरलतासे ठीक निर्णय कर सकता है।

'मैं अरु मोन तोर तै माया' अर्थात् अहंता और ममता ही अविद्या-का स्वरूप है। इसलिए जिनकी अविद्या नष्ट हो चुकी है और जिनकी नष्ट नहीं हुई, इन दोनोंमें बहुत अन्तर होता है। इतना अन्तर होता है कि इस सम्बन्धमें कोई कमसे कम अपने सम्बन्धमें भ्रममें नहीं रह सकता।

अविद्या नष्ट हो जानेपर परिच्छिन्न देहासक्ति नहीं रह जाती। फलतः तथा देहको देहको लेकर जो स्वजन हैं उनके लिए भविष्यकी चिन्ता नहीं होती पूर्वाभ्यासवश चिन्ता होती भी है तो वह केवल वर्तमानको लेकर एवं ऐसी चिन्ता अल्पकालिक होती है।

चित्त रहेगा तो चित्तके रोग भी रहेंगे। काम; क्रोध आदि नहीं आवेंगे—यह तो नहीं कहा जा सकता; किन्तु उनका वेग स्थायी नहीं रहेगा। उनको लेकर दीर्घकालीन चिन्ता एवं व्यस्तता नहीं चल सकती। साथ ही लोभ तो नहीं रहेगा; बालकों जैसा वस्तुकी प्राप्तिके प्रति सामायिक उत्कण्ठा एवं प्राप्तिमें उल्लास भले हो बालकों जैसी ही विस्मृति एवं निरपेक्षता भी रहेगी।

सबसे बड़ी बात—किसी कारण, किसी प्रमादवश अपवाद स्वरूप कोई ऐसा कार्य हो भी गया जो शिष्टाचार सम्मत नहीं तो चित्तसे जो एक खेद, पश्चात्तापकी वृत्ति सामान्य अन्तरमें उठती है—नही उठेगी। क्योंकि परलोकके सम्बन्धमें मरणोत्तरगतिके सम्बन्धमें कोई भय किसी चिन्ताको स्थान ही नहीं रहा।

आप अपने चित्तका अध्ययन कर सकते हैं। मनुष्य दूसरोंके सम्मुख अपनेको कैसा भी व्यक्त करे, स्वयं अपनी वास्तविकता तो जानता ही है। यदि ऊपरकी बातें आगयीं हैं तो जो भगवद्दर्शन हुआ—सच्चा भगवद्दर्शन था। यदि ऊपरकी बातें नहीं आयी हैं--तब अविद्या नष्ट नहीं हुई। भगवद्दर्शन हुआ भी था तो वह केवल भ्रम था। अतएव अपने पूर्णत्वमें सन्तोष न करके अभी भगवद्दर्शनके लिए प्रयत्नशील रहना ही श्रेयस्कर है।

एक बात और—अपने आप, बिना किसीके कराये भगवद्दर्शन हो जाय, वह भ्रम भी हो तो उच्च-स्थितिका सूचक है और यदि साधक उसीमें सन्तुष्ट होकर यत्न त्याग न दे तो वास्तविक दर्शन उसे शीघ्र होगा।

—•—

भगवद्दर्शनके सम्प्रदाय

सम्प्रदायका अर्थ है साधन परम्परा जिसमें सम्यक् प्रकारसे प्रदानकी जाय। भगवद्दर्शनके सम्प्रदायोंकी चर्चा करते हुए मेरा तात्पर्य प्रचलित धार्मिक सम्प्रदायोंसे सर्वथा नहीं है—यह मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ।

कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग—ये तीन ही साधन भगवत्प्राप्तिके हैं। इसलिए भगवत्प्राप्तिके मुख्य सम्प्रदाय तो तीन ही हो सकते हैं—कर्म प्रधान, विचार प्रधान और उपासना प्रधान। इन तीनोंमें-से कर्म सम्प्रदायके मुख्य भेद दो हैं—१. योग सम्प्रदाय, २. निष्काम कर्मयोगी। अब योगके सैकड़ों मार्ग हैं और निष्काम कर्म करनेवाले कौन-कौनसे कर्म करेंगे, इनकी संख्या कर पाना सम्भव नहीं है। अतः यहाँ इनके भेदोप-भेदोंका विस्तार नहीं किया जा सकता।

जहाँ तक ज्ञान-मार्गका सम्बन्ध है, भेद तो उसमें भी अनेकों हैं। विवर्तवाद, दृष्टि-सृष्टिवाद प्रभृति अनेकोंवाद उसमें हैं, किन्तु ये सब वाद

विचाराश्रित ही हैं। श्रवण, मनन, निदिध्यासनका क्रम प्रायः सभीको मान्य है। इसलिए विचारका सम्प्रदाय एक हो कहा जाय, इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

उपासना या भक्तिके नौ भेद शास्त्रोंने बताये हैं। उनमें-से श्रवण, कीर्तन, अर्चन, वन्दन, पादसेवन—ये पाँच गौणी या साधन रूपा भक्तिके भेद हैं और दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा आत्मनिवेदन—ये साध्यरूपा पराभक्तिके भेद हैं। साधन भक्तिके अनुष्ठानकी परिपक्कता होनेपर पराभक्तिका उदय होता है—आराध्यमें भावकी प्राप्ति होती है और वह भाव ही भगवद्दर्शन करता है।

इस प्रकार भगवद्भक्ति या उपासनाके चतुः सम्प्रदाय हैं। आराध्य भेदसे, मन्त्र-भेदसे, उपासना-विधि भेदसे तथा मुख्याचार्यके भेदसे भी इनमें-से प्रत्येक भाव—सम्प्रदायके अनेकों भेद हो सकते हैं, और हैं; किन्तु मूलमें ये चार ही सम्प्रदाय हैं।

उदाहरणके लिए सख्यको लेलें। सख्य भावके आराधकोंके आराध्य श्रीकृष्ण, श्रीराम, शिव, शक्ति आदि कोई भी हो सकते हैं और तब सख्य सम्प्रदायके ही शैव, शाक्त, वैष्णव आदि कई भेद हो जायँगे।

आज जो मध्वगौड़ीय, निम्बार्क, राधावल्लभीय, हरिदासी आदि सम्प्रदाय व्रजमें हैं—वे पृथक-पृथक स्वतन्त्र सम्प्रदाय इसीलिए हैं कि उनके मुख्याचार्य, मन्त्र आदि भिन्न हैं। अन्यथा उनके आराध्य तो श्रीराधाकृष्ण ही हैं और वे सभी माधुर्योपासक हैं। कह सकते हैं कि ये सब सम्प्रदाय माधुर्य या आत्म-समर्पण सम्प्रदायके भेद है। उसकी शाखाएँ हैं और ये शाखाएँ तो रामोपासक तथा शैव आदि भी हो ही सकती हैं।

उपास्य, आचार्य, मन्त्र तथा पद्धति भेदसे जो सम्प्रदाय भेद प्रचलित हैं, उनके सम्बन्धमें विचार करने जितना विस्तार यहाँ सम्भव नहीं। यहाँ तो जो मुख्य चार सम्प्रदाय हैं—उनमें मूल भाव सम्प्रदायोंके सम्बन्धमें ही थोड़ा-सा विचार किया जा सकता है।

दास्य

जीव दास है, सेवक है, शासित है और भगवान् स्वामी हैं, प्रभु हैं, शास्ता हैं। यह भाव सार्वभौम भाव है। अतः इस भावकी प्राप्ति नहीं करनी पड़ती। दास्यभाव तो जीवको नित्य प्राप्त है। उपासनाके प्रारम्भसे

पूर्व भी उसे प्राप्त है। प्रत्येक आस्तिक पुरुष परमात्माको अपना नियन्ता एवं प्रभु मानता ही है।

साथ ही दास्यभाव सार्वभौम होनेके कारण दूसरे सभी भावोंमें व्याप्त रहता है। सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्यकी प्रबलतामें वह प्रसुप्त रहता है, यह तो ठीक है; किन्तु रहता वह उनमें भी है। भगवान्‌को भगवान् मान कर फिर उन्हें आप सखा, पुत्र या प्रियतम कुछ मानें—वे स्वामी हैं, समर्थ हैं, यह भाव अन्तःकरणमें अवश्य रहेगा। ऐसा न हो तो भक्तिके भावोंमें और संसारके सामान्य भावोंमें—मोहमें अन्तर ही क्या रह जाय।

विपत्तिमें गोपकुमार तथा नन्द-यशोदा भी श्रीकृष्णको ही पुकारते हैं। उनके सख्य या वात्सल्यमें यह अन्तर्निहित दास्य भाव त्रुटि नहीं है, यह तो उन भावोंका पोषक है। उनकी आधार भूमि है। स्वयं श्रीराधारानीमें भी अनेक बार यह दास्य भाव व्यक्त हुआ है।

तदीय, त्वदीय और मदीय--ये तीन भाव हैं भगवान्‌से जीवको सम्बन्धित करनेवाले। सामान्य आस्तिक जन परमात्माको मानते हैं जगत-का स्वामी, सर्व-शक्तिमान मानते हैं; किन्तु यह मान्यतामात्र भगवद्दर्शनमें और भगवत्स्मृतिमें कारण नहीं बनती। उसके लिए तो भगवान्‌से कोई सम्बन्ध होना चाहिए। जब यह सम्बन्धकी भावना उठती है तो प्रथम भाव तदीयत्व आता है अर्थात् हम सब उन परमप्रभुके ही हैं।

लेकिन तदीयत्वमें दूरी है तथा परोक्षता है। परमात्मा दूर है, परोक्ष है और हम उसके हैं। आराधनाकी परिपक्वता होनेपर यह दूरी और परोक्षता मिट जाती है। भले प्रत्यक्ष भगवद्दर्शन न प्राप्त हुआ हो; किन्तु भक्त अपने आराध्यको अपने हृदयमें, अपने चारों ओर, अपने सम्मुख अनुभव करता है और तब उसमें त्वदीयत्व आता है। वह सम्मुख विद्यमान प्रभुसे कहता है—'नाथ ! हम तुम्हारे हैं।' यह त्वदीयत्व दास्यभावकी परिपुष्टि है। वे प्रभुस्वीकृति दें या न दें; किन्तु हम तो उनके हैं--उण्हीं के हैं। श्रीहनुमानजी इस दास्य भावके परामर्श हैं।

सख्य

दास्य-भाव परिपक्कतासे भी ऊपर उठा और सख्य बन गया। नारायणने नरको अपना लिया। समानताका भाव है सख्य। आराध्यकी स्वीकृति देनेका प्रश्न समाप्त। हम उनके हैं यह तो ठीक; किन्तु यहीं बस

नहीं। वे हमारे हैं–हमारे अपने। उनका हमपर सम्पूर्ण अधिकार है तो हमारा भी उन पर कम अधिकार नहीं है।

एक महापुरुषने एक बार मुझे बताया था–'सख्य रसमें एक विशेषता है। उसमें परिशुद्धि अहं विद्यमान रहता है और जबकि श्रीराधारानी तक-का श्रीकृष्णने मान भंग किया महारासमें, सखाओंका मान भंग वे कभी नहीं कर सके। "मानदः स्वसुहृदां वनमाली" यह श्रीमद्भागवतका गोपर-मणिग्रोंका वचन अत्यन्त सारगर्भित है। सखाओंके सम्मानकी तो सदा वे रक्षा ही करते हैं।

दास्यमें याचना है—प्रार्थना है और उसकी स्वीकृति स्वामीकी इच्छा-पर निर्भर है; किन्तु सख्यमें याचना नहीं है। उसमें अनुरोध है और ऐसा अनुरोध है, जिसके पीछे पूर्ण करा लेनेका स्वत्व है।

सख्यमें देना-लेना, सम्मान करना-कराना, बात माननी-मनवानी, हठ रखना-रखवाना सभी है। उसमें स्नेह है, सम्हाल है, सेवा है, समर्पण है, किन्तु साथ-साथ स्वत्व है, सम्मान है और झगड़ने-रूठनेका पूरा अधिकार है।

सख्यमें अहंका लोप नहीं है, उसका मधुर उत्कर्ष है और आराध्यके द्वारा उसकी सत्कृति है। यहाँ सर्वथा समता प्राप्त है। गोपकुमार सख्य रसके श्रेष्ठ आदर्श हैं।

वात्सल्य

सख्यका स्नेह परिपुष्ट हुआ और सीमासे ऊपर उठा तो वात्सल्य बन गया। अब अधिकार ही अधिकार है। सख्यने समता दी थी; किन्तु वात्सल्य तो छागया। आराध्य स्वयं अधिकार हीन हो गया। वह आज्ञानुवर्ती बन गया स्नेहकी इस विराट परिधिमें आकर।

प्रार्थना, याचना और अनुरोधके लिए यहाँ स्थान ही नहीं है। यहाँ तो आज्ञा देनेका अधिकार है और वह उदार-चक्रचूड़ामणि—गुरुजनोंके आदेशकी अवहेलना कैसे सम्भव है उससे; किन्तु वात्सल्यके अङ्कमें वह सर्व समर्थ नितान्त असमर्थ, वह सर्वज्ञ सर्वथा अबोध तथा वह सर्वशक्तिमान अत्यन्त दुर्बल तथा सुकुमार हो जाता है। उसे क्या आदेश दिया जा सकता है! उससे भला क्या चाहेगा कोई।

वह स्नेह भाजन--वह तो प्यार करनेके लिए है। उसका पालन-पोषण, लाड़-दुलार, रक्षा-सम्हाल सभी तो करनी ठहरी। वह सबका

रक्षक—वाहियात बात। अरे उस सुकुमार चपलकी अत्यन्त सावधानीसे रक्षा करनी पड़ती है।

वात्सल्यमें दान ही दान है। उसमें न माँग है, न कामना। उसमें अपने सुख, अपनी सुविधा, अपने सम्मान आदिके भावोंका प्रवेश तक नहीं। अपने दुःख, अपनी असुविधा, अपना अयश—ये तो अपने भोग लेनेकी बातें हैं। उस प्राण-प्रियको इनकी गन्ध न मिले, इनकी उष्णता उसे म्लान न करे, वह सचिन्तन बने, बस तो सुखी रहे, प्रसन्न रहे, सुरक्षित रहे। नित्य आनन्द मग्न उन्मुक्त विनोद करता रहे।

जब अपनेको सर्वथा उसके सुखके लिए उत्सर्ग कर देनेकी लालसा किसी पावन हृदयमें जागृत हो—वह भावग्राही अपनेको रोक नहीं पाता। वह नित्य पूर्ण बुभुक्षित हो उठता है उस वात्सल्य रसका आस्वादन करनेके लिए और उस महाभोगके अङ्कमें आये बिना भला यह बुभुक्षा कैसे मिटे ?

वात्सल्यमें न अहंकार है और न मान। भला माता-पिता बच्चेके सम्मुख क्या अहंकार दिखावें और उससे क्या मान करें। अवश्य ही वात्सल्य उस परम तत्त्वको रूठने तथा मान करनेका अधिकार दे देता है।

वह रूठता है, मान करता है, झगड़ता है, हठ करता है और यह सब इसलिए करता है कि उसे अधिक पुचकारा जाय, अधिक प्यार मिले। उसके रसकी इससे वृद्धि होती है और वह स्वयं इन क्रियाओंने वात्सल्यको अधिकाधिक पुष्ट करता है। बाबा नन्द, माता यशोदा अथवा महाराज दशरथ तथा माता कौशल्या वात्सल्य-रसके मूर्तिमान स्वरूप हैं।

माधुर्य

मुझे कहने दीजिए कि माधुर्य भी सख्यका ही परिपाक है। वात्सल्यका परिपाक माधुर्य—यह न मर्यादानुरूप बात है और न तर्कसंगत। सख्यकी स्नेहधारा परिपक्व होकर जहाँ वात्सल्य बन जाती है, वहीं सख्यकी ही समर्पण भावना तथा सम्पूर्ण रूपसे सखाको आत्मसात कर लेनेकी इच्छा माधुर्य या आत्मनिवेदनका रूप ग्रहण करती है।

मुझे एक कारण इस अपने प्रतिपादनका और लगता है। वात्सल्यमें तो मान है ही नहीं, उसमें तो स्नेह ही स्नेह है। उसमें अपनापन न्योछावर

हो चुका। लेकिन सख्यमें मान भी रहता है और अहं भी। वहाँ सम्मान पानेकी माँग भी है और रूठना भी। माधुर्यमें भी यह बना रहता है।

माधुर्य या आत्मनिवेदन अद्भुत भाव है। प्रेमकी इस पराकाष्ठाको स्वार्थ कलुषित चित्त मानव ठीक न समझ सकें--स्वाभाविक है। माधुर्यमें अपना सुख, अपनी तृप्ति, अपना सम्मान कुछ है ही नहीं। वहाँ तो उत्सर्ग है--अपना सम्पूर्ण दान।

शृङ्गार इसलिए कि वे देखकर प्रसन्न हों। भोजन इसलिए कि उनका प्रिय यह देह स्वस्थ रहे। अरे रूठना और मान भी इसलिए कि उनके सुख की वृद्धि हो। उनका आनन्द अभिवर्धित हो।

उनका सुख, उनका आनन्द, उनका आह्लाद--अपनेपनका इतना उत्सर्ग कि उसकी सत्ता ही समाप्त। उनका, उनका, उनका और वे--आत्मविस्मृति इस सीमातीत स्थितिमें कि एकात्मता होगयी। अपनेमें ही उनका आभास होने लगा। आत्म-निवेदन--माधर्यकी यह अवस्था बहुत कुछ शब्दातीत है। उनका यथावत् वर्णन सम्भव नहीं है। महाभाव रूपिणी श्रीराधारानीका इस महाभावके मूर्त आदर्श रूपमें स्मरण कर लेना मात्र पर्याप्त है।

यहाँ पुनः स्पष्ट कर देना है कि इन दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्यके आधार श्रीराम या श्रीकृष्ण ही नहीं, भगवान नारायण, भगवान् शंकर, भगवती महाशक्ति अथवा अन्य कोई भी भगवद्रूप हो सकते हैं। वर्तमान समयमें ऐसे सम्प्रदाय हो या न हों भक्तिके ये चतुः सम्प्रदाय सभी भावोंमें सम्भव हैं, समुचित हैं और परम श्रेय देनेमें समर्थ हैं।

विभिन्न सम्प्रदायोंमें भगवद्दर्शन

(क) वैदिक सम्प्रदायोंमें भगवद्दर्शन

वेदोंको प्रमाण मानकर जो सम्प्रदाय प्रवर्तित हुए हैं, उनमें-से कुछ लुप्त होगये और कुछ आज हैं। जिन्हें हम दर्शनशास्त्र कहते हैं, वस्तुतः वे भगवद्दर्शनकी प्रणाली विशेषके प्रतिपादक सिद्धान्त हैं। वैशेषिक न्याय, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा उत्तरमीमांसा—ये छः दर्शनशास्त्र कहे जाते हैं; किन्तु इनका अध्ययन अध्यापन प्रचलित रहनेपर भी इन्हींके प्रतिपादित सिद्धान्तोंपर चलनेवाले सम्प्रदाय आज नहीं रहे हैं। इनमें-से केवल योग और उत्तरमीमांसाको अपनाकर चलने वाले सम्प्रदाय आज हैं।

आज देशमें जो विभिन्न वैदिक सम्प्रदाय हैं, उनमें-से अधिकांश उत्तरमीमांसा (ब्रह्मसूत्र) को मानकर चलने वाले हैं। उनके प्रवर्तकोंने प्रस्थानत्रयी--ब्रह्मसूत्र, गीता तथा एकादश उपनिषदोंको प्रमाण माना और अपने मतके अनुसार इनकी व्याख्या की।

एक ऐसा समय देशमें आया कि जो प्रस्थानत्रयीको प्रमाण न माने, उसपर भाष्य न करे, वह आचार्य ही नहीं माना जाता था। इस मान्यता-का परिणाम यह हुआ कि दूसरे दर्शनोंको प्रमाण मानकर चलनेवाले सम्प्रदायोंका लोप होगया और ब्रह्मसूत्र, गीता, उपनिषद्को प्रमाण मानकर भी उनके परस्पर सर्वथा भिन्न भाष्य किये गए। इतने भिन्न भाष्य कि प्रत्येक भाष्यकारका एक स्वतन्त्र मत, स्वतन्त्र सम्प्रदाय ही चल पड़ा। अतः इन सभी भाष्यकारोंके सम्प्रदायोंको अब अलग अलग ही गिनना पड़ता है, भले उनका मूलाधार एक ही प्रस्थानत्रयी हो।

इस प्रकार प्राचीन छः दर्शनशास्त्रोंके अतिरिक्त अब बहुतसे सम्प्रदाय हैं देशमें। पुराणोंपर आश्रित उपास्य भेदसे पंचदेवोपासकोंके शैव, शाक्त, गाणपत्य, वैष्णव एवं सौर सम्प्रदाय तो हैं ही, प्रस्थानत्रयीके भाष्यकार आचार्योंके सम्प्रदाय भी हैं। इनमें श्रीशंकराचार्यजीका अद्वैत-वेदान्त सम्प्रदाय है। वैष्णवाचार्योंमें श्रीरामानुजाचार्यका विशिष्टाद्वैत, श्रीमध्वा-चार्यका द्वैत, श्रीनिम्बार्काचार्यका द्वैताद्वैत, श्री वल्लभाचार्यका शुद्धाद्वैत

तथा श्री गौरांगमहाप्रभु (चैतन्यदेव) के अनुगामियोंका अचिन्त्य भेदाभेद, इस प्रकार पाँच सम्प्रदाय वैष्णवोंमें हैं।

शैव सम्प्रदायोंमें पाशुपत मत, प्रत्यभिज्ञा दर्शन, शिवाद्वैत एवं लकुलीश पाशुपत दर्शन ये चार शैव सम्प्रदाय हैं। एक शक्ति सम्प्रदाय है। इनके अतिरिक्त प्राचीन मतोंमें रसेश्वर दर्शन, ज्योतिषका नक्षत्रवाद, व्याकरणका स्फोटवाद, ये भी भगवद्दर्शनकी एक प्रक्रिया निर्दिष्ट करते हैं। आधुनिक सम्प्रदायोंमें आर्यसमाज वैदिक सम्प्रदाय है। अब इन मतोंमें भगवद्दर्शनके रूपपर विचार करें :-

वैशेषिकमें भगवद्दर्शन

यह दर्शन-शास्त्र जीव तथा ईश्वर ये दो नित्य तत्त्व मानता है। वेदविहित धर्माचरणसे चित्तकी शुद्धि होकर मरणोत्तर ईश्वर-प्राप्ति इस दर्शनको मान्य है।

न्यायमें भगवद्दर्शन

आत्मा, आयतन (देह), इन्द्रिय, अर्थ (विषय), मन, बुद्धि प्रवृत्ति, प्रेत्यभाव, फल, दुख और अपवर्गका ज्ञान ही मोक्षका कारण है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार ज्ञानके साधन हैं। इस प्रकार यह दर्शन वेदानुमोदित बौद्धिक ज्ञानको ही मोक्षका हेतु मानता है। संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, इच्छा, बुद्धि तथा प्रयत्न—ये आत्मा तथा ईश्वरके गुण माने हैं इस दर्शनने।

सांख्यमें भगवद्दर्शन

सांख्य-दर्शनमें मूलतत्त्व दो ही माने गये हैं—१. प्रकृति, २. पुरुष। यह पुरुष असंख्य हैं। इस प्रकार जीवोंसे पृथक ईश्वरको यह दर्शन नहीं मानता। भगवद्दर्शनका प्रश्न ही यहाँ नहीं उठता। पुरुष (जीव) में भोगेच्छाकी निवृत्ति हो जानेसे उसकी द्रष्टाभावमें पूर्ण स्थिति हो जाती है। प्रकृति स्वयं निवृत्त हो जाती है। इसमे पुरुषका मोक्ष यह दर्शन मानता है।

योगदर्शनमें भगवद्दर्शन

योग-दर्शनको सेश्वर सांख्य भी कहा जाता है। प्रकृति, अनन्त पुरुष ये सांख्यके मूल तत्त्व यह दर्शन भी मानता है; किन्तु एक पुरुष विशेष ईश्वर

भी मानता है। ईश्वर भी मानता है। ईश्वर पञ्चक्लेशशून्य कर्मविपाक तथा आशय-सम्पर्क रहित, ज्ञानरूप माना गया है। इस दर्शनके मतसे चित्तकी वृत्तियोंका सम्यक् निरोध ही मोक्षका कारण है। ईश्वरोपासनासे चित्त-वृत्तिका निरोध तो योगको मान्य है; किन्तु ईश्वर-दर्शनकी स्थिति केवल निर्विकल्प—असम्प्रज्ञात समाधि ही मान्य है।

पूर्वमीमांसा दर्शनमें भगवद्दर्शन

इस दर्शनशास्त्रका उद्देश्य ही मोक्ष नहीं है। शास्त्रोंमें प्रबल श्रद्धा उत्पन्न करके अधर्माचरणसे निवृत्ति तथा धर्माचरणमें प्रवृत्ति कराना ही इसका उद्देश्य है। इसको 'कर्ममीमांसा' भी कहा जाता है। श्रेष्ठ कर्म करो और उसका फल स्वर्गमें भोग कर इस लोकमें जन्म लेनेपर सुख-स्वास्थ्य, समृद्धि, यश प्राप्त करके फिर उत्तम कर्म करो। यही इस दर्शनकी प्रेरणा है।

उत्तर मीमांसा (वेदान्त) में भगवद्दर्शन

पहिले ही कह आये हैं कि इसी दर्शनके नाना प्रकारके भाष्य आचार्योंने किये हैं। अतः इस दर्शनका तात्पर्य-निर्णय अत्यन्त कठिन है; किन्तु पुराणों तथा महाभारतको देखनेसे ऐसा लगता है कि निर्गुण-सगुण दोनोंको व्यासजीने स्वीकार किया है। एक ही तत्त्व निर्गुण भी तथा सगुण भी है। उसके दोनों रूप नित्य हैं। दोनों रूप परस्पर अभिन्न हैं। यह समग्रवाद ही अभीष्ट लगता है भगवान् व्यासको। आचार्योंने इनमें-से एक-एकको अपनी रुचि एवं लोकका अधिकार देख कर अपनाया; किन्तु उनके मतोंका आधार ब्रह्मसूत्रमें है, यह तो स्वीकार करना ही होगा।

ब्रह्मसूत्रपर आधारित सम्प्रदायोंके भगवद्दर्शनका विवेचन करनेसे पूर्व प्राचीन दर्शनोंका विवेचन कर देना अच्छा होगा।

रसेश्वर दर्शनके मतसे भगवद्दर्शन

यह हठयोगके अवलम्बियोंका एक प्राचीन मत है और है यह शैव सम्प्रदायोंमें-से एक सम्प्रदायका मत। इसमें पारदको शिवका तथा अभ्रक-को पार्वतीका अंश माना गया है। पारद-अभ्रकको सिद्ध करके उसके सेवनसे शरीरको दृढ़ करना इस मतका प्रथमोद्देश्य है। इस प्रकार शरीर रोग-जरा-मृत्युपर विजय प्राप्त करले तब योग करना चाहिए। क्योंकि योग अत्यन्त कठिन तथा सहस्रशः वर्ष करना आवश्यक मानता है यह मत।

अन्तमें योग सिद्ध जीव शिवत्व प्राप्त करके शिवमें एक हो जाता है, ऐसा मत इस दर्शनका है।

ज्योतिषका ग्रह-नक्षत्र वाद

इस मतके अनुसार प्राणियोंकी आकृतियाँ, गुण, क्रिया तथा भोग नित्य हैं। उनका आविर्भाव-तिरोभाव मात्र होना है। लेकिन उनमें स्थित जीव बदलते रहते हैं। आज जो एक देह है वह उसी आकृति, गुण, क्रिया, भोगसे युक्त पहिले भी था, आगे भी होगा; किन्तु उसमें जो जीव है, वह आराधना, अनुष्ठान तथा ज्ञान तीनों ही मान्य हैं किन्तु उनके स्वरूप पर विचार उसका विषय नहीं।

स्फोटवाद या शब्दाद्वैतवाद

शब्द ही जगतका मूल कारण है। समस्त-आकृतियाँ शब्दकी ही परिणिति हैं। प्रणवोपासना, योग, सत्य एवं शुद्ध भाषणके द्वारा मूल शब्द-नाद ब्रह्मका अन्तःकरणमें श्रवण होता है। नाद ब्रह्मकी अनुभूति ही इस मतके अनुसार मोक्षका हेतु है।

इस प्रकार ये नौ प्राचीन दर्शनशास्त्र हैं जो विभिन्न रूपोंमें परम पुरुषार्थका प्रतिपादन करते हैं। इनके अतिरिक्त शांकर आदि ब्रह्मसूत्रकें आधारपर चलनेवाले मत हैं। उनकी संख्या बारह है, किन्तु भगवद्दर्शन सम्बन्धी उनकी मान्यताकी दृष्टिसे उनका भेद करने पर उनकी संख्या बहुत कम रह जायगी

शांकर या अद्वैत मत

आदि शंकराचार्य इसके मुख्य प्रवर्तक हैं। वैसे तो यह स्मरण रखना चाहिए कि सभी आचार्य अनादि परम्परा प्राप्त ज्ञानका ही उपदेश करते हैं।

एक ही नित्य, निर्गुण, चिन्मय सत्ता है। समस्त दृश्य प्रपञ्च उसमें अज्ञानसे सूर्यकी किरणोंमें जलकी भाँति प्रतीत होता है। यह अज्ञान ही जीवके जीवत्व एवं जन्म-मरणका हेतु है। षट-सम्पत्ति-सम्पन्न जिज्ञासु

श्रवण-मनन-निदिध्यासन द्वारा इस अज्ञानका निराकरण कर लेता है। इस प्रकार अपरोक्ष रूपमें ब्रह्मात्मैक्यका अनुभव ज्ञान है। यह प्रत्यक चैतन्याभिन्न ब्रह्मकी अपरोक्षानुभूति ही मोक्ष है।

सगुण माननेवालोंका भगवद्दर्शन

सगुण साकार परमात्माको स्वीकार करनेवाले विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, अचिन्त्य-भेद-भेद इन पांच दार्शनिक वैष्णव मतोंमें कहिये अथवा श्रीरामानुजाचार्य, श्रीरामानंदाचार्य, श्रीनिम्बकाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीविष्णुस्वामी, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीहितहरिवंश, स्वामीश्री हरिदास एवं श्रीचैतन्यदेव–इस प्रकार इन नौ वैष्णवाचार्योंके सम्प्रदायोंमें कहिए–भगवद्-दर्शनके स्वरूपोंमें कोई अन्तर नहीं है। इसी प्रकार शैव मतोंमें पाशुपत-मत भी भगवद्दर्शनके विचारसे इन वैष्णव मतोंके समान ही मान्यता रखता है।

इन सभी मतोंमें जीव, ईश्वर तथा प्रकृतिके सम्बन्धोंके विचारमें मौलिक भेद हैं। आराध्यके स्वरूपके सम्बन्धमें भी भिन्न-भिन्न मान्यताएँ हैं और साधनमें तो भेद है ही; किन्तु भगवद्दर्शनके स्वरूपमें एक विचार हैं सबके।

इन मतोंके अनुसार भगवान् निखिल दिव्यगुण गणैक धाम, सगुण, साकार हैं। उनका धाम नित्य है जहाँ वे अपने परिकर पार्षदोंके साथ सदा विराजमान रहते हैं। उन परम प्रभुकी आराधना-शरण ही जीवका धर्म है। वे सर्वसमर्थ स्वेच्छासे अवतार भी ग्रहण करते हैं। अपने आराधकको कृपा करके प्रत्यक्ष स्वप्नमें, अन्तःकरणमें या किसी अर्चा-विग्रहादिमें आवेश-के रूपमें दर्शन देते हैं। भक्त अपनी आराधना तथा भगवत्कृपासे भगवान्का सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य या सायुज्य इनमें-से कोई मोक्ष प्राप्त करके आवागमनसे छूट जाता है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन

महेश्वरका प्रतिजीव आभिमुख्यज्ञान ही प्रत्यभिज्ञा है। परमेश्वरकी प्राप्तिसे जीवको परासिद्धि (मुक्ति) तथा अपरा सिद्धि (अभ्युदय) प्राप्त हो जाती है। परमेश्वरका दासत्व सम्पत्तिकी पराकाष्ठा है। साधन तथा शास्त्रानुसन्धानसे परमेश्वर जब जीवके सम्मुख प्रकट होते हैं, तब ज्ञान होता है। इस ज्ञानसे ईश्वर और अपनेमें अभेदका बोध होता है। सामान्यतः जीव महेश्वरका दास है। महेश्वरसे एकत्व स्थापित होनेपर वह सब विषयोंके ग्रहणमें समर्थ होता है।

शिवाद्वैत

धर्माचरण ही महेश्वरकी आराधना है। फलेच्छा-त्यागपूर्वक कर्म करनेसे पाप नाश होकर चित्त शुद्ध होता है। तब ज्ञान होता है इस प्रकार कर्म एवं ज्ञानके समुच्चयसे मोक्ष होता है। जीवका परम पुरुषार्थ शिवकी समान-गुण-रूपता मुक्ति है। यह शिव-कृपासे ही सिद्ध होती है। उपासना द्वारा यह शिव-कृपा मिलती है। मुक्त जीवमें भी अन्तःकरण रहता है। कर्म, उपासना तथा ब्रह्मविद्यासे शिवत्वकी प्राप्ति होती है।

लकुलीश पाशुपतमत

मुक्ति दो प्रकार की—१. दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति, २. पारमैश्वर्यकी प्राप्ति पारमैश्वर्य है दृक् शक्ति (सर्वज्ञता) तथा क्रियाशक्ति (इच्छित वस्तु) की प्राप्ति। यह सम्प्रदाय भगवद्दासत्वको बन्धन मानता है। वैराग्य तथा शिव-की आराधनासे दोनों प्रकारकी मुक्ति प्राप्त होती है।

शाक्त सम्प्रदाय

नाद एवं बिन्दु यही मूल तत्त्व हैं। नाद-नारी तत्त्व तथा बिन्दु पुरुष तत्त्व। ये दोनों तत्व मिलकर अर्धनारीश्वर हुए। इस प्रकार इस शक्ति दर्शनका अथवा तन्त्रशास्त्रका सिद्धान्त तो व्यापक है; किन्तु वेद, वैष्णव शैव, दक्षिण, वाम तथा कुलमें सात आचार जीवके उद्धारके इस मतमें माने गये हैं। दिव्य भावके आश्रयसे देव साक्षात्कार, वीरभाव-से क्रिया सिद्धि तथा पशुकी प्राप्तिसे ज्ञान-सिद्धि मानी है इस मतमें। जीव आचार एवं आराधनासे शक्तिकी कृपा प्राप्त करके शिवत्वको प्राप्त होता है। तभी पाशमुक्त होता है।

आर्य समाज

इन प्राचीन सम्प्रदायोंके अतिरिक्त एक आधुनिक सम्प्रदाय आर्य-समाज है। इसके प्रवर्तक हैं स्वामी दयानन्दजी सरस्वती। वेदोंको ही यह सम्प्रदाय परम प्रमाण मानता है।

आर्यसमाज एक सुधारवादी समाज है। सगुण-साकार अथवा निर्गुण निराकार ईश्वर न मान कर इस सम्प्रदायमें सगुण-निराकार ईश्वरकी मान्यता है। अवतार, मूर्तिपूजा, श्राद्धादि कर्मोंमें इस मतको आस्था नहीं है।

यज्ञ और योगमें दो साधन माने हैं स्वामी दयायन्दजीने और उनमें भी योग ही मोक्षप्रद माना है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि स्वामी दयानन्दजी नित्यमुक्ति नहीं मानते। जीव एक कल्पके लिऐ ही मुक्त होता है। नवीन सृष्टिमें पुनः जन्म लेगा यह उनकी मान्यता है।

भगवद्दर्शन अन्तःकरणमें योग इसके द्वारा चित्तकी एकाग्रता सम्पन्न होने पर परमज्योतिके रूपमें होता है, यह मतको मान्य है।

(ख) अवैदिक भारतीय सम्प्रदायोंमें भगवद्दर्शन

भारतमें वेदोंको परम प्रमाण न मानने वाले जिन धर्मोंका उदय हुआ, उनमें मुख्य-मुख्य हैं जैन तथा बौद्ध धर्म। इन दोनोंके अतिरिक्त कबीर, नानक, दादू आदि सन्तोंके सम्प्रदायोंको भी इसी कोटिमें रखा जा सकता है। क्योंकि ये सन्त-सम्प्रदाय भी परम प्रमाण वेदोंको नहीं मानते। इनमें अपने मुख्य गुरुओंके वचन ही प्रमाण माने जाते हैं।

सन्त-सम्प्रदाय

संत-सम्प्रदाय भी दो प्रकारके हैं। उनमें सब अवैदिक हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उनमें अनेक तो वेद शास्त्र पुराणादिको प्रमाण मानकर चलनेवाले सम्प्रदाय हैं। ऐसे वैदिक सन्त-सम्प्रदायोंकी तो यहाँ चर्चा करनी नहीं है। जो अवैदिक सुधार-प्रिय सन्त-सम्प्रदाय हैं, उनमें भी दो धाराएँ हैं--१. निर्गुणवादी, २. लययोगी।

कबीर पन्थ क्रियाकी दृष्टिसे साधनके क्षेत्रमें शब्दयोगी सम्प्रदाय है; किन्तु है वह सिद्धान्ततः निर्गुण-निराकार तत्त्वको मानने वाला। दादूपन्थ तथा सिख भी ऐसे ही सम्प्रदायोंमें है। इस प्रकारके सभी सन्त मार्गोमें नाद-साधन अर्थात् अनहृद श्रवणका प्रयत्न चलता है। साधनमें भेद भी है, जैसे सिख पन्थमें; किन्तु वह भेद साधन तक ही है। जहाँ तक भगवद्दर्शनकी बात है--आत्मानुभव ही इन सम्प्रदायोंमें परम स्थिति मानी गयी है। वसे इस अवस्थाके नाम सबके अपने-अपने हैं।

सुरत-शब्दयोग तो अधिकांश सन्त-मार्गोका साधन है; किन्तु राधास्वामी-मत-जैसे एक दो आधुनिक सन्त-मार्गोमें केवल शब्द-साधनके

इस मार्गसे ही अनहद या नाद विशेषके श्रवण मात्रको परम स्थिति माना जाता है। उसीको नित्य धाम या दिव्यदेशकी प्राप्ति मानते हैं।

जैन

जैन धर्म अत्यन्त प्राचीन धर्म है। जैनोंके आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव जी हैं, जो अपने पौराणिक मतसे भी भगवान्के चौबीस अवतारोंमें हैं। ऋषभदेवजीका अवतार सतयुगमें हुआ था। पुराणोंके अनुसार जैन धर्मका प्रादुर्भाव कलिके प्रारम्भमें हुआ। विद्वानोंके मतसे भी यह धर्म अत्यन्त प्राचीन है। इस धर्मका साहित्य विशाल है, इसमें दर्शन ग्रन्थ तथा पुराण भी हैं--प्रचुर हैं।

जैन धर्म परमात्मा या ईश्वरकी सत्ता मानता; किन्तु कर्त्ता—जीवकी नित्य सत्ता मानता है। अतएव इस धर्मके अनुसार भगवद्दर्शन तो कोई वस्तु नहीं है, किन्तु जीवको अर्हत् प्राप्त होनेपर तीर्थङ्करत्वकी प्राप्ति होती है, ऐसा यह धर्म मानता है। सृष्टिकी आदिसे अब तक जैन धर्ममें चौबीस तीर्थङ्कर हुए--ऐसा माना जाता है। प्रथम तीर्थङ्कर भगवान ऋषभदेव तथा अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर स्वामी।

जैन धर्ममें तीर्थङ्करोंको नित्य पुरुष माना जाता है। मन्दिरोंमें तीर्थङ्करोंकी ही मूर्तियाँ स्थापित होती हैं, उनकी पूजा होती है। तीर्थङ्कर जीवोंपर निग्रह अनुग्रह समर्थ माने जाते हैं।

जैन धर्मके अनुसार मुक्तिका हेतु धर्म साधन है। धर्मका सम्यक आचरण करनेसे जीव पुद्गलसे रहित होता है। संवर जो मुक्तिका मुख्य हेतु है और जो संसार-प्रवाहको ढकने वाला है, उसका स्वरूप है गुप्ति (अशुभसे शरीर, मन तथा वाणीको रोकना), समिति (अहिंसा), निर्जरण (तपसे सञ्चित कर्मोंका नाश)।

मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और प्रमादके कारण जीवमें आस्रवके कारण उसका पुद्गलसे योग होता है। स्पर्श, रस तथा वर्णवाला तत्त्व पुद्गल है। इस पुद्गलसे जीवका योग ही उसके पुनर्जन्मका हेतु है। सम्यक् दर्शन, सम्यक् चरित्र तथा सम्यक् ज्ञान--ये तीन मोक्षके हेतु हैं।

.जीव जब सम्यक् दर्शन, सम्यक् चरित्र तथा सम्यक् ज्ञान सम्पन्न करता है, तब पुद्गलसे उसका योग नहीं रह जाता। इससे उसके आस्रवकी निवृत्ति हो जाती है। देह सम्बन्ध दूर होने पर सम्वर उस शुद्ध जीवका

अलोकाकाशमें पहुँचा देता है। यहाँ वह जीव मुक्तिशिलापर स्थित होता है। यही मुक्ती है। यही शाश्वत स्थिति है।

बौद्ध

बौद्ध मतका विस्तार अवश्य श्रीगौत्तमबुद्धसे हुआ; किन्तु इस मतमें भी अनेक बुद्ध होनेकी बात है और बौद्ध धर्मको भी प्राचीन कहा जाता है। लेकिन गौतमबुद्धसे पूर्व इसकी कोई परम्परा उपलब्ध नहीं है।

बुद्धका धम क्षणिकवादी है। वह नित्यतत्त्व कोई नहीं मानते। सब क्षणिक हैं, सब प्रवाही है। सब नश्वर है, सब दुःख स्वरूप है। जब कोई नित्यतत्त्व माना ही नहीं जाता, तब परमात्माको मानने और भगवद्दर्शनका प्रश्न ही कहाँ उठता है ?

बुद्धके मतमें जैसे देह परमाणु-प्रवाह रूप है, वैसे ही सभी तत्त्व प्रवाह रूप ही हैं। जीवका पुनर्जन्म भी प्रवाह रूपमें ही मान्य है, क्योंकि नित्य जीव तो यह मत स्वीकार नहीं करता।

मार--कामनाओंपर विजय, यही परम लक्ष्य है। योग तथा आचारमें दोनों अनुष्ठेय है। इनके सम्यक् अनुष्ठान तथा शून्यत्व, क्षणिकत्व, दुःख रूपत्वकी निरन्तर भावना करते हुए शून्यमें विलीन होजाना ही निर्वाण है।

क्योंकि जीवका जीवन-प्रवाह वासनाके कारण चल रहा है, वासनाका आत्यन्तिक क्षय हो जानेपर उस प्रवाहकी समाप्ति होजाती है। जीवन धाराकी यह समाप्ति ही निर्वाण है।

इस प्रकार जैन तथा बौद्ध दोनों ही मतोंमें मुक्ति अर्थात् पुनर्जन्मकी समाप्ति स्वीकार की गयी है। साधनके क्षेत्रमें जैन-धर्म तपःप्रधान है और बौद्ध धर्म मध्यम-मार्गको अपना कर विचारकी प्रेरणा देता है। योग दोनोंको ही अभीष्ट है। लेकिन भगवद्दर्शन या आत्म-साक्षात्कार जैसी कोई स्थिति इन धर्मोंको मान्य नहीं है।

यदि हम सन्त मार्गोंको छोड़ दें तो भारतीय और अभारतीय सभी अवैदिक धर्मोंके सम्बन्धमें कह सकते हैं कि उनमें भगवद्दर्शन या आत्म साक्षात्कारकी स्थिति नहीं। केवल सूफी मत अपवाद होगा और वह सन्तमार्ग है।

—x—

(ग) अभारतीय धर्मों में भगवद्दर्शन

आज विश्वमें जो धर्म प्रचलित हैं, उनमें-से कुछका उदय भारतवर्षमें हुआ है और कुछका भारतसे बाहर। वैसे तो विज्ञानने संसारको आज बहुत छोटा कर दिया है। फलतः विश्वके सभी प्रमुख राष्ट्रोंमें अनेक धर्मोंके मानने वाले मिल जाते हैं और भारत तो अपनी सहिष्णुता एवं उदारताके लिए प्रख्यात है ही। फलतः यहाँ विश्वके प्रायः सभी धर्मोंके अनुयायी मिलेंगे। हम जब अभारतीय धर्मकी बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य उन धर्मोंसे होता है जिनका उदय भारतसे बाहर हुआ।

विश्वमें धर्मोंकी मूल परम्परा केवल दो हैं—१-वैदिक धर्म, २-अवैदिक धर्म। वैदिक धर्मोंका उद्गम स्थान भारत है। भारतमें अवैदिक धर्मोंका उदय नहीं हुआ, ऐसा तो हम नहीं कह रहे हैं; किन्तु भारतमें जिस भी धर्मका उदय हुआ, उसपर भारतीय वैदिक धर्मका प्रबल प्रभाव पड़ा, यह स्वीकार करना चाहिए।

भारतीय वैदिक धर्म अत्यन्त सहिष्णु धर्म है। यहाँ विचारकी स्वाधीनता तथा आचारकी दृढ़ता आवश्यक मानी गयी है। भारतमें यह तो आवश्यक माना जाता था कि आचरण सामाजिक मर्यादाके अनुसार ही किया जाय। आचरणकी च्युति एवं उच्छृंखलता यह अत्यन्त निन्दनीय समझी जाती थी, किन्तु विचारके सम्बन्धमें कोई प्रतिबन्ध या असहिष्णुता नहीं थी।

ईश्वरके अस्तित्व तथा वेदोंकी प्रामाणिकताको अस्वीकार करनेवाले समय-समयपर भारतमें होते ही रहे हैं, किन्तु न यहाँ चार्वाकको प्राणदण्ड मिला, न उनके अनुयायियोंको सताया गया। इस विचार स्वातन्त्र्यके कारण भारतमें अनेक प्रकारके, सर्वथा भिन्न-भिन्न मान्यतावाले धर्म उत्पन्न हुए और फैले।

भारतसे बाहर प्रायः सर्वत्र धार्मिक विचारोंके सम्बन्धमें समाज अत्यन्त संकीर्ण रहे हैं। वहाँ धार्मिक मान्यताओंमें थोड़ा भी परिवर्तनकी बात कहनेवालेको प्राणदण्ड मिला है। बुरी तरह सताया गया है। ईसा,

सुकरात मन्सूर इस प्रकारके नामोंकी एक लम्बी सूची है। प्रायः सभी देशोंका धार्मिक इतिहास रक्त रंजित है।

इस संकीर्णताका परिणाम यह हुआ कि भारतसे बाहर जितने धर्म हैं, वे केवल एक मूल परम्पराके हैं। जो प्राचीनतम परम्परा चली आयी, उसकी मूल मान्यताओंमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। केवल बाह्याकृतिके परिवर्तनसे ही नये-नये धर्म बने।

उपनिषदोंमें एक कथा है कि असुरराज विरोचन तथा देवराज इन्द्र एक साथ प्रजापति ब्रह्माजीके समीप तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करने गये। ब्रह्माजीने उपदेश किया—'यह जो जलमें दीखता है, दर्पणमें दीखता है, स्फटिकमें दीखता है, नेत्रमें दीखता है, वह आत्मा है।'

दोनों ही लौटे, किन्तु इन्द्रको मार्गमें सन्देह हो गया और फिर ब्रह्माजीके पास गये। उनसे पूछा–'प्रभो ! जलमें, दर्पणमें, नेत्रमें दीखने वाला देह तो विकारी है, परिवर्तनशील है, मरण-धर्मा है। वह आत्मा कैसे ?' इस प्रकारके सन्देहके कारण तीन बार इन्द्र मार्गसे लौटे और तत्त्वज्ञान प्राप्त किया उन्होंने। इन्द्रसे वह तत्त्वज्ञान देवलोकमें और वहाँसे ऋषियोंमें आया। वैदिक परम्परा उसी तत्त्वज्ञानकी परम्परा है।

'वेदानुवचन' में स्वामी रामतीर्थजीके गुरु बाबा नगीनासिंहने उपनिषद्की इस कथाका अपने ढङ्गसे परिचय देते हुए लिखा है—"असुर राज विरोचन सन्तुष्ट होकर लौट आया। उसने असुरोंको बताया—'यह देह ही आत्मा है। इसीका पालन-पोषण करना चाहिए। देहको सुरक्षित रखना चाहिए मरनेपर। प्रलयके समय सृष्टिकर्ता तुरही बजा कर सबको उठावेंगे और तब सबके कर्मोंका निर्णय होगा।"

बाबा नगीनासिंहजीका कहना है कि 'सभी वे धर्म इसी परम्परामें हैं, जिनमें शवको गाड़नेकी प्रथा है और जिनमें प्रलयके समय कर्म निर्णयकी बात कही गयी है।'

यह बात सर्वमान्य है कि पारसी धर्म वैदिक; धर्मकी ही एक शाखा है; किन्तु उसमें परमात्माको 'अहुरमज्द' अर्थात् असुर श्रेष्ठ कहा जाता है। पारसी धर्मकी मूलभूमि ईरान (फारस) है। इस्लामके आक्रमणके समय कुछ पारसी भारत चले आये और तब केवल भारतमें ही इस धर्मके अनुयायी हैं।

पारसी धर्मकी आचार-परम्परा बहुत कुछ वैदिक धर्मसे मिलती है। भारतके बाहरके धर्मोंकी ज्ञात परम्परा यहूदी धर्मसे प्रारम्भ होती है। यहूदी, ईसाई, मुसलमान और सूफी। यह एक ही परम्परा है, इसमें इतिहासके किसी विद्यार्थीको सन्देह नहीं हो सका; किन्तु विशेष अन्वेषण बतलाता है कि मिश्र, रोम आदि देशोंमें भी कभी अग्निपूजा प्रचलित थी। इसका अर्थ यह हुआ कि यहूदी धर्म कब पारसी धर्मसे निकला, यह भले न बताया जा सके, किन्तु मूसासे पूर्वका समाज पारसी धर्मके ही भेदोपभेदोंमें था।

इन धर्मोंका इतिहास तथा परम्परा देनेका यहाँ कारण है और वह कारण यह है कि इनमें भगवद्दर्शनका जो स्वरूप माना जाता है, उसे ठीक-ठीक समझ लिया जा सके। यहूदी, ईसाई और मुसलमान धर्मोंमें भगवद्दर्शनका एक ही स्वरूप माना जाता है। केवल पारसी धर्म तथा सूफी सम्प्रदायमें कुछ अन्तर इस मान्यतामें है।

पारसी धर्मके अनुसार भी प्रलयके समय जीवके कर्म निर्णयकी बात मानी जाती है; किन्तु सत्कर्म सदाचरणके द्वारा जीवकी चित्तशुद्धि हो जाती है और शुद्धचित्तमें उसे भगवत् साक्षात्कार होता है—यह बात पारसी मानते हैं। उनके मतसे इस प्रकार भगवत्साक्षात्कार प्राप्त जीव भगवान्में एक हो जाता है।

सूफी सम्प्रदाय कोई स्वतन्त्र धर्म नहीं है। यह इस्लामकी ही एक शाखा है। लेकिन इस सम्प्रदायपर भारतीय अद्वैत वेदान्तका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। 'अहं ब्रह्मास्मि' के रूपमें जीव एवं खुदाका एकत्व अनुभव इस सम्प्रदायका चरमलक्ष्य है। इसी अनुभवकी घोषणा 'अनलहक' थी, जिसके कारण मन्सूरको शूली दी गयी। यह एक उदार सम्प्रदाय है और इसमें कुछ संतोंने तो पुनर्जन्मवादको भी मान्यता दे दी है। वैसे भारतीय धर्मोंको छोड़कर विश्वका दूसरा कोई धर्म पुनर्जन्म स्वीकार नहीं करता।

यहूदी, ईसाई और मुसलमान धर्मोंमें यह बात समान रूपसे मानी जाती है कि ईश्वर निराकार है। जीव मृत्युके पश्चात् भी अपने देहांशमें ही सुप्त रहता है। प्रलयके समय ही जीवोंके अच्छे बुरे कर्मोंका निर्णय परमात्मा करता है। अच्छे कर्म करनेवालोंको वह बहिश्त (स्वर्ग) भेजता है तथा बुरे कर्म करने वालोंको दोजख (नरक) में डालता है।

इन धर्मोंमें तथा पारसी धर्ममें भी जीवको बहका कर प्रलोभनोंमें लगाने, बुराईमें प्रवृत्त करने वाली एक शक्ति मानी गयी है। उसे शैतान

कहा जाता है। इस शैतानके अतिरिक्त ईश्वरके आज्ञानुवर्ती कुछ फरिश्ते भी इन सब धर्मोंमें माने गये हैं।

ईश्वर निराकार है, अतएव उसका दर्शन तो इन धर्मोंमें मान्य है नहीं। अवश्य ही तपस्वियों, उच्च साधकों पर खुदाका जलवा अफरोज होता है। अर्थात् हृदयमें वे ईश्वरीय सत्ताका अनुभव करते हैं अथवा बाहर वे उसकी दिव्य ज्योति देखते हैं।

फरिश्तोंके दर्शन भी अच्छे पुरुषों तथा 'पहुँचे' फकीरोंको प्राप्त होते हैं। आकाशवाणीके रूपमें ईश्वरीय वाणी भी सुनायी पड़ती है—यह बात भी इन धर्मोंमें आयी है। लेकिन 'खुदाका जलवा अफरोज होना' भारतीय आत्मानुभावके ढंगकी कोई स्थिति है इस भ्रममें नहीं पड़ना चाहिए। यह स्थिति किसी विशेष आदेश देनेके लिए होती है। अत: शुद्ध चित्तमें ईश्वरीय प्रेरणा प्राप्त करनेकी बात जो भारतीय सन्तोंमें कही जाती है, उसके समान ही यह स्थिति है।

वह अवस्था आत्मानुभवके समान नहीं है, यह बात इसलिए भी पुष्ट है कि इन धर्मोंमें 'मुक्ति' को कोई स्थान नहीं। 'खुदाका जलवा अफरोज' होनेके बाद भी जीव दूसरे जीवोंके समान कयामत तक तो प्रसुप्त रहेगा ही। शुभ कर्मोंके निर्णयका दिन तो कयामतका दिन ही होगा।

इस प्रकार हम भारतीय जिसे भगवद्दर्शन कहते हैं, वह अवस्था इन सभी धर्मोंमें एक स्थितिके रूपमें अन्त:करण प्रेरणा, आकाशवाणी तथा बाहरका कोई आदेश देनेके लिए व्यक्त ज्योति पुञ्जके रूपमें ही मानी गयी है।

—※—

भगवानके विविध रूप और उनकी उपासनाका रहस्य

मुख्यतः भगवान्‌के तीन रूपमाने जाते हैं—१. निर्गुण-निराकार, २. सगुण-निराकार, ३. सगुण-साकार।

निर्गुण-निराकार

इनमें-से निर्गुण निराकार-स्वरूप अनुभवैक गम्य है। वह आत्म-स्वरूप है। योग द्वारा समाधिकी स्थितिमें अथवा श्रवण-मनन-निदिध्यासनके पश्चात् महावाक्य श्रवण द्वारा अविद्या-ग्रन्थिका उच्छेद होनेपर इसका अनुभव साक्षात् अपरोक्ष होता है। तीव्रतम साधन-निष्ठ, सदाचारी, ब्रह्म-चर्य व्रती योगी अथवा बुद्धिप्रधान साधक अधिकारी हैं इस भगवत्स्वरूपानु-भवके।

निर्गुण-निराकार न मनका विषय है और न वाणीका। उसका वर्णन सम्भव नहीं तथा चिन्तन भी सम्भव नहीं। उसके वर्णन या चिन्तन-की एक ही प्रणाली है—'नेति-नेति' अर्थात् निषेध प्रणाली। जो कुछ दीखता है या मनमें आता है, उस सबका निषेध करते चले जाओ। 'यह नहीं, यह भी नहीं, इस प्रकार अन्तमें निषेधके लिए कुछ न रहनेपर निषेधकी क्रिया स्वतः समाप्त हो जायगी और तब अपना आपा ही रह जायगा। सत् उसे इसलिए कहते हैं कि असत् नहीं, चित्त कहनेका तात्पर्य केवल अज्ञानका निषेध है और इसी प्रकार आनन्द कहा जाता है दुःखका निषेध करनेके लिए। अन्यथा 'यह है' इस प्रकार उसका वर्णन सम्भव नहीं है।

सगुण-निराकार

परमात्मा सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, कृपासिन्धु, अनाथनाथ है। निखिल दिव्यगुणोंका धाम है। लेकिन है वह निराकार। उसका कोई रूप नहीं है। जैसे वायु, आकाशादि सगुण हैं; किन्तु निराकार हैं, वैसे ही भगवान् भी सद्गुणैकधाम तथा निराकार है।

केवल आर्यसमाज ही नहीं, कई अन्य भारतीय सम्प्रदाय भी परमात्माको सगुण-निराकार ही मानते हैं। यहूदी, ईसाई मुसलमान आदि सम्प्रदायोंमें भी ईश्वरको सगुण-निराकार माना जाता है।

सगुण-निराकार परमात्माके गुणोंका वर्णन एवं चिन्तन तो संभव नहीं है। क्योंकि ध्यान तो साकार तत्त्वका ही किया जा सकता है। निराकार तत्वके गुणोंका चिन्तन मात्र सम्भव है।

फलतः सगुण निराकारवादी मतोंमें साधनके रूपमें तपस्या, प्रार्थना, यज्ञ, योग तथा निष्काम कर्म अपनाये जाते हैं। सगुण परमात्मा प्रार्थना सुनकर, तप या यज्ञसे अथवा योगसे प्रसन्न किया जा सकता है और निष्काम कर्मसे भी उसकी प्रसन्नता प्राप्त हो सकती है।

सगुण साकार

तीसरा स्वरूप परमात्माका सगुण-साकार स्वरूप है। भगवान्के नित्य, सौन्दर्यमाधुर्यघन दिव्य-रूप हैं। वे समय-समयपर अवतार धारण करके धरापर हमारे मध्य आते हैं। इस प्रकार आकृतिवान परमात्मा माननेवाले यह मानते हैं कि उनके उसी साकार ईश्वरका एक रूप निर्गुण-निराकार तथा एक रूप सगुण-निराकार भी है। उसके ये तीनों रूप परस्पर अभिन्न हैं।

सगुण-साकार ईश्वरका वर्णन, चिन्तन, ध्यान सभी सुगम हैं इतना ही नहीं, प्रेमकी प्रबलता होनेपर उसे हम अपने सामने, अपने वांछित रूपमें, प्रत्यक्ष प्राप्त कर सकते हैं। इस रूपमें हम उसे देख सकते हैं, आलिंगन कर सकते हैं, उसका अङ्ग छू सकते हैं उससे बातचीत कर सकते हैं। इतना ही नहीं, उसे हम अपना स्वामी, मित्र, पुत्र, पति, पत्नी या कोई भी सम्बन्धी वना कर उस सम्बन्धके अनुसार उससे व्यवहार कर सकते है।

इस प्रकार सगुण-साकार रूपमें परमात्मा सर्वथा हमारा हो जाता है। वह अत्यन्त सुगम होता है और सर्वाधिक प्रिय बन जाता है। भावना प्रधान मनुष्यके लिए भगवान्का यह सगुण-साकार रूप अत्यन्त प्रिय है।

पञ्चदेवोपासना

सगुण-साकार भगवद्रूपोंके भी मुख्य पाँच भेद माने जाते हैं और वे भी दो प्रकारके हैं। १. वैदिक एवं २. पौराणिक। वेदोंने प्रत्यक्ष तत्वों-

को भगवान्का रूप मान कर उसका स्तवन किया है। इन रूपोंमें वैदिक पञ्च देवता हैं—१. अग्नि, २. इन्द्र, ३. वरुण, ४. सूर्य, ५. सोम।

लेकिन वेदोंने ही पौराणिक पञ्चदेवोपासनाके भी सूत्र दिये हैं और वेदके अङ्गभूत उपनिषदोंमें तो यह उपासना पद्धति सम्यक् प्रकारसे पुष्ट होगयी है। अतः पञ्चदेवोपासना पौराणिक या स्मार्त (स्मृति प्रवर्तित) ही नहीं है, वह श्रुति सम्मत वैदिक उपासना ही है।

इस उपासनाके पञ्चदेव हैं—१. शिव, २. शक्ति, ३. गणेश, ४. विष्णु, ५. सूर्य

ब्रह्मा

यद्यपि ब्रह्मा, विष्णु और शिव—ये सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयके अधीश्वर हैं; किन्तु उपासनाका मुख्य उद्देश्य मोक्ष है और मोक्षकी उपलब्धि सृष्टिके देवता ब्रह्मासे नहीं होती, इससे ब्रह्माजीकी उपासना प्रचलित नहीं हैं। सन्तति प्राप्ति—सन्तान परम्पराकी रक्षाके लिए ब्रह्माकी पूजा की जा सकती है। देशमें पुष्करके अतिरिक्त भी दो-चार मन्दिर ब्रह्माजीके हैं, किन्तु वे समाजके आराध्य नहीं रहे।

पुराणोंके वर्णनोंसे ऐसा लगता है कि ब्रह्माजीकी आराधना असुरकुलोंमें अधिक प्रिय थी। अमरत्व एवं ऐश्वर्यको ही परमपुरुषार्थ माननेवाले असुरोंका ध्यान स्वाभाविक रूपसे सृष्टिके निर्माताकी ओर जाता था और वे अपनी साधनासे उन्हें सन्तुष्ट करनेका प्रयत्न करते थे।

सूर्य

कोई समय था जब देशमें सूर्योपासक और सम्प्रदाय व्यापक था। भारत हीमें नहीं, मिश्र और दक्षिण अमेरिका तकमें सूर्यकी मूर्तियाँ पायी गयी हैं। इन्डोनेशियामें तो ये मूर्तियाँ पर्याप्त है। बालिद्वीप, थाईलैंड, बरमा आदिमें भी। सभी विद्वान् इस बातमें सहमत हैं कि भारतसे ही इन मूर्तियोंके उपासक एवं निर्माता इन देशोंमें पहुँचे थे।

लेकिन देशमें अब सूर्योपासक सम्प्रदाय लुप्त होगया है। प्रधान सूर्यतीर्थ कोणार्क (उड़ीसाकी राजधानी भुवनेश्वरसे ४४ मील)का सूर्यमन्दिर भग्न पड़ा है। केवल एक मन्दिर है देशमें जहाँ सूर्यकी प्रतिमा प्राचीनकालकी है और आज भी पूजित होती है और वह स्थान है आरसाविल्ली। दक्षिण रेलवेमें वाल्टेयरसे मद्रास जाते समय श्रीकाकुलम् रोड स्टेशन पड़ता

है, जहांसे १० मील मोटर बस रोडपर यह स्थान है। वैसे गुजरातमें एक वैश्यजाति विशेषके आराध्यका सूर्य मन्दिर भी है।

गणेश

जैसे सन्ध्याके समय सूर्यका उपस्थान द्विजमात्र करते हैं, वैसे ही प्रत्येक मंगल कार्यमें हिन्दूमात्र गणेशजीकी प्रथम पूजा करते हैं। देशमें गणेशजीके मन्दिरोंकी भी कमी नहीं है, किन्तु गाणपत्य सम्प्रदाय सौर सम्प्रदायके समान उच्छिन्न भले न होगया हो, उसकी जनसंख्या इतनी कम है कि देशके अधिकांश जनोंको यह भी पता नहीं कि यह सम्प्रदाय विद्यमान है।

श्रीगणेशजी ही परब्रह्म, परात्पर, परमतत्व हैं और वे ही सबके मूल कारण हैं, इस प्रकारकी जिनकी निष्ठा हो, वे ही गाणपत्य कहे जा सकते हैं। इस प्रकारका सम्प्रदाय केवल महाराष्ट्रमें रह गया है। गाणपत्य सम्प्रदायका मुख्य तीर्थ भी महाराष्ट्रमें है और वहाँ तथा उसके समीप ही इस सम्प्रदायके अधिक लोग भी हैं।

महाराष्ट्रसे केलगाँव रेलवे स्टेशनसे १६ मील मोटर बस रोडपर मोरगाँव नामक स्थान है। करहा नदीके तटपर वसा यह स्थान ही प्रधान गणेशतीर्थ है।

शिव

देशमें अब व्यापक रूपसे शैव, शाक्त तथा वैष्णव उपासनाएँ ही प्रचलित हैं। प्रायः सर्वत्र ही इन तीनोंके मन्दिर तथा उपासक प्राप्त होते हैं।

भगवान् शिवके अनेक रूप हैं। द्विभुज, चतुर्भुज तथा बहुभुज रूप। एक मुख तथा पञ्चमुख रूप। कर्पूर गौर एवं नीललोहित रूप भी। लेकिन सभी रूपोंमें भगवान् शंकर त्रिलोचन, नीलकंठ, चन्द्रमौलि, गंगाधर, अहि-भूषण, त्रिशूल डमरूधारी माने गये हैं।

भगवान् शंकर रुद्र, प्रलयङ्कर भी हैं और अवढर दानी आशुतोष भी। वे भस्माङ्ग लिप्त, भूतनाथ, चर्माम्बरधर योगीश्वर, योगियों, विरक्तों, त्यागियोंके परमादर्श भी हैं तथा भे अर्धनारीश्वर ही तान्त्रिकोंके आराध्य भी हैं।

समस्त विद्याओंके सभी योग साधनाओंके वे आद्याचार्य माने जाते हैं। शैवोंके वे परमाराध्य है तो वैष्णवानां यथा शम्भुः' कहते हैं।

शाक्त

शक्तिके भी बहुत अधिक रूप हैं। लक्ष्मी, सरस्वती उमा—ये त्रिशक्तियाँ तो है ही, नवदुर्गा, मातृका आदि भेदसे शक्तिके शताधिक मुख्य रूप हो जाते हैं। शाक्त सम्प्रदायोंमें मुख्य रूपसे जगदम्बा पार्वतीके ही विविध रूपोंकी उपासना है।

त्रिपुर सुन्दरी गौरी, पार्वती आदि जहाँ शक्तिके सौम्य रूप हैं, वहीं चामुण्डा, महाकाली, उग्रतारा आदि आदि उनके विकराल स्वरूप भी हैं। सच पूछा जाय तो उग्रतम भावोंकी पराकाष्ठा शक्तिके रूपोंमें होती है; साथ ही कोमलतम भाव जगन्मातृत्व भी उन्हींमें प्रतिष्ठित है।

शैव एवं शाक्त उपासनाएँ प्रायः समन्वित रूपमें ही चलती हैं। अपने आराध्यकी नित्य सहचरीको कैसे त्याग सकते हैं? शाक्तोंकी उपासना ही शिवके बिना कैसे सांगता प्राप्त कर सकती है। अन्तर केवल प्रधानताका है। शैव परमतत्व शिवको और शाक्त परमतत्व शक्तिको मनाते हैं

तान्त्रिकोंका अधिकांश सम्प्रदाय शाक्त है। मानवबलिकी प्रथा तो समाप्त होगयी है, किन्तु अब भी पशुबलि स्थान स्थानपर चलती है तथा प्रच्छन्न रूपमें वीभत्स क्रियाओंके प्रचलन भी अभी इस समाजमें हैं।

मनुष्यमें आसारभावका ही यह प्रतीक है कि जगदम्बाके सौम्य रूपों, सात्विक उपासनाओंके बदले वह उग्र रूपों एवं उग्र उपासनाओंमें रुचि रखता है।

वैष्णव

भगवान् नारायण तथा भगवदवतारोंके उपासक सभी सम्प्रदाय वैष्णव ही कहलाते हैं। देशमें मत्स्य, कच्छप, वाराह, वामन एवं नृसिंहके मन्दिर तो हैं; किन्तु इनके सम्प्रदाय नहीं; सम्प्रदाय तो भगवान नारायण, श्रीराम तथा श्रीकृष्णकी उपासनाके ही हैं।

वैष्णव उपासनामें उग्रोपासना है ही नहीं, यह कहना ठीक नहीं होगा। वाराह एवं नृसिंह-दोनों ही भगवान्के उग्ररूप हैं। अनेकों स्थान-

पर वाराहकी प्राचीन मूर्तियाँ मिली हैं जो सूचित करती हैं कि किसी समय देशमें वाराह भगवान्की उपासना भी प्रचलित थी; भगवान् नृसिंहके मंदिर एवं उपासक भी देशमें हैं ही; किन्तु प्रधानता वैष्णवोपासनामें शांत, माधुर्य, वात्सल्य, सख्य जैसे सुकोमल भावोंकी, शुद्धाचारकी तथा भगवान नारायण या श्रीराम कृष्णके परम सौम्य, परम सुन्दर स्वरूपकी ही हैं।

देशको वैष्णव एवं शैव-शाक्त सम्प्रदायोंने प्रचुर कला मन्दिर, विपुल साहित्य तथा अनुपम भाव परम्परा प्रदानकी है।

विभिन्न रूपोंकी उपासना क्यों ?

भगवान्के इतने रूप क्यों माने जाते हैं ? अन्तः भगवान् तो एक ही हैं। इतने रूपोंकी उपासनाका रहस्य क्या ? एकमें अनेक तथा अनेकमें एककी भावना हिन्दू धर्मकी विशेषता है। इस विशेषताको समझे बिना ही इस प्रकारका प्रश्न उठता है।

क्षुधा-निवृत्ति तथा शरीरकी पुष्टि ही भोजनका उद्देश्य है। ऐसी अवस्थामें ये नाना प्रकारकी मिठाइयाँ, अनेक प्रकारके व्यञ्जन क्यों ? लेकिन भाई, सबको न मीठा प्रिय होता, न सबको नमकीन या खट्टा। अपनी-अपनी रुचि पृथक्-पृथक है। एक ही पदार्थको कई रंगोंमें प्रस्तुत करना पड़ता है क्योंकि मनुष्यकी रुचिके अनुकूल पदार्थका रंग रूप तथा स्वाद हो तो उसे वह उत्सुकतासे ग्रहण करता है।

एक जीवनके पोषणके लिए इतने रूप, रंग, स्वाद और शाश्वत जीवन जिससे पुष्ट होता है उस आराधनामें रुचिका ध्यान अनिवार्य नहीं ? अरे भाई, वहाँ भी रुचिके अनुरूप साधन तथा आराध्यका रूप हो तो मन चावसे लगेगा और वहाँ चावपूर्वक लगाना बहुत आवश्यक है शान्त उग्रादि भगवानके विविध रूप उनकी विविध उपासना पद्धतियाँ इसी रुचि भेदके लिए हैं। इतने रूपोंमें होकर भी वे हैं एक ही।

———

साधक एवं भक्तोंका भगवद्दर्शन

साधनासे भगवद्दर्शन होता है, यह बात तो शास्त्र सम्मत ही है और प्रेमसे भगवद्दर्शन होता है यह बात भी शास्त्र तथा सत्पुरुषोंके द्वारा समर्थित है। साधनाके द्वारा भगवद्दर्शन होता है—१. यज्ञसे, २. तपसे, ३. मन्त्रानुष्ठानसे और भक्ति द्वारा भगवद्दर्शन होता है, ४ प्रीतिपुरःसर एवं ५. भगवत्कृपासे। इन पाँचके अतिरिक्त एक छठवाँ भगवद्दर्शन भी है, तत्त्वदर्शन या आत्मसाक्षात्कार।

१. यज्ञसे भगवद्दर्शन

पुराणोंमें बहुत अधिक कथाएँ ऐसी हैं, जब किसीके यज्ञमें यज्ञ पुरुष भगवान् प्रकट हुए हैं। लेकिन इस रूपमें भगवानका एक नाम 'त्रियुग' है अर्थात् वे सतयुग-त्रेता तथा द्वापरमें ही यज्ञोंमें प्रकट होते हैं। कलियुगमें यज्ञमें वे प्रकट नहीं हुआ करते।

कलियुगमें भगवान् यज्ञमें क्यों नहीं प्रकट होते ?' यह जाननेके लिए सतयुग त्रेता आदिके यज्ञोंकी कथाओंसे पर्याप्त प्रकाश मिलता है, जिन यज्ञोंमें प्रकट नहीं हुए और उनके प्रकट न होनेके कारणों पर विचार किया गया।

'भगवान् मेरे इस यज्ञमें क्यों प्रकट नहीं हुए ?' यज्ञकर्ता यजमान यज्ञान्तमें भी यज्ञपुरुषके प्रकट होनेपर ऋषियोंसे दुःखी होकर पूछता हो—यह स्वाभाविक है।

'मेरा धन पवित्र है। यज्ञके लिए जो सामग्रियां मैंने एकत्रकीं वे धर्मपूर्वक एकत्र की तथा वे शुद्ध हैं। आप ऋत्विक जनोंने सस्वर मन्त्रोच्चारण किया, सविधि आहुति दी। आप तपस्वी हैं, नियमनिष्ठ हैं। आपमें कोई दोष हो नहीं सकता। मुझे भी अपना ऐसा कोई पाप स्मरण नहीं जिसका प्रायश्चित न हुआ हो। कोई प्रमाद मैंने नहीं किया—अब मेरा पूर्व जन्मका क्या दोष है जो प्रभु मेरे यज्ञमें आविर्भाव स्वीकार नहीं करते ?'

यजमानके प्रश्न प्राय: सर्वत्र ऐसे ही हैं । इन प्रश्नोंमें ही सम्पूर्ण जानकारी आ गयी है । तपस्वी शुद्ध चरित, सम्यक् विधि-विधानके ज्ञाता प्रमादहीन ऋत्विक चाहिए जो यज्ञ करावें। यज्ञ करनेके लिए शास्त्र निर्दिष्ट सब सामग्री चाहिए—ऐसी सामग्री जो सर्वथा निर्दोष हो । वह सामग्री स्वरूपसे तो शुद्ध हो ही, धर्मपूर्वक प्राप्त की जाय। न्यायके उपार्जित धनसे सामग्री एकत्र हो। जो यज्ञ करे । जन्मसे तब तक उसके छोटे-बड़े सब पापोंका शास्त्र-निर्दिष्ट प्रायश्चित्त यज्ञारम्भसे पूर्व करके वह सर्वथा निष्पाप हो चुका हो। आप यह सब इस युगमें सम्भव मानते हैं ? इसीलिए यज्ञ इस युगका साधन नहीं ।

२. तपस्यासे भगवद्दर्शन

तपस्वियोंको भी भगवद्दर्शन होनेके वर्णन पुराणोंमें है। लेकिन शास्त्रीय विधिका त्याग करके मनमानी हटधर्मी तामस तप है और उससे कोई लाभ नहीं होता, यह बात यहाँ समझ लेना चाहिए।

'भगवान्‌का दर्शन करनेके लिए मैं अनशन करूँगा; प्राण त्याग दूँगा यदि दर्शन न हुआ।' ऐसा एक हठ भरा पत्र मुझे एक युवकका एक बार मिला था।

'किसी दरिद्रका बालक पिताको डरा सकता है कि मेरा अमुक हठ पूरा नहीं करोगे तो कुर्ता फाड़ दूँगा; किन्तु जो कपड़ेकी मिलोंका स्वामी है, उसका पुत्र कुर्ता फाड़नेकी बात करे—पितापर उसके दुराग्रहका क्या प्रभाव पड़ेगा ?' मैंने उन्हें पत्र लिखकर समझाया—भगवान्‌के पास शरीरोंका कोई अभाव नहीं है। अनशन करके देह त्यागकी धमकीसे वे प्रभावित नहीं किये जा सकते। देहके प्रति अतिशय महत्व बुद्धि ही अनशनको उत्साहित करती है। अनशनसे मरोगे तो फिर देह मिलेगा। वे एक नहीं, एक लाख देह देनेमें समर्थ हैं।'

लेकिन शास्त्र सम्मत तप क्या है ? यह आप पूछना चाहेंगे। गर्मियोंमें पञ्चाग्नि तापना, वर्षामें दिनरात खुले आकाशके नीचे रहना, सर्दियोंमें गले तक नदी सरोवरके जलमें खड़े होकर जप करना—वानप्रस्थाश्रमके लिए शास्त्रने यह तप बतलाया है। वानप्रस्थाश्रम ही तपस्याका आश्रम है । वैसे दूसरे आश्रमके लोग भी यह तप कर सकते हैं।

एकासनपर वर्षों बैठे रहना, एक पैरपर वर्षों खड़े रहना, दीर्घकाल तक भस्म या सूखे पत्ते खाकर रहना, ये सभी तप हैं। लेकिन आजके अल्प सत्व, क्षीणकाय, दुर्बल प्राण मनुष्य तप कर सकेंगे ?

तनिक सर्दी लगी और न्यूमोनिया, तनिक गर्मी बढ़ी और लू, तनिक ऋतु-विपर्यय हुआ और ज्वर; आजके दुर्बल स्वास्थ्य मनुष्यके लिए तपस्या कैसे सम्भव है ? इसलिए तपस्या भी इस युगका साधन नहीं है ।

३. मन्त्रानुष्ठानसे भगवद्दर्शन

शास्त्रोंमें मन्त्र बहुत हैं। सभी मन्त्रोंके अनुष्ठानोंकी विधियाँ हैं । उन सभी मन्त्रोंके अपार माहात्म्य हैं । ठीक-ठीक विधि एवं श्रद्धा पूर्वक मन्त्रानुष्ठान करनेसे जिस देवताका मन्त्र है, उस देवताका दर्शन अवश्य होता है ।

मन्त्रानुष्ठानमें भी बहुतसी बातें होती हैं । कोई मन्त्र किसीका मित्र होता है, किसीका शत्रु; किसीका ऋणि होता है, किसीका धनी । मित्र तथा ऋणी मन्त्रका अनुष्ठान शीघ्र फल देता है । उदासीन मन्त्रका अनुष्ठान देरसे फल देता है । शत्रु तथा धनी मन्त्र फल देता ही नहीं । अतएव किसी मन्त्र शास्त्रज्ञसे अपने जन्म, नक्षत्र, राशि आदिके अनुसार पहिले तो उपयुक्त मन्त्र लेना पड़ता है ।

गायत्री-मन्त्रका पुरश्चरण चौबीस लाख जप हैं । प्रतिदिन आठ-दस घण्टे जप किया जाय तो लगभग साढ़ेतीन वर्ष लगते हैं । इतना ही समय प्राय: सभी मन्त्रोंके पुरश्चरणमें देना पड़ता है ।

जपसे पूर्व मन्त्रका शापोद्धार, उत्कीलन आदि संस्कार आवश्यक हैं । साथ ही अङ्गन्यास, करन्यास, मन्त्रन्यास, मन्त्र-देवताका पूजन, मन्त्र-पूजन आदि पुरश्चरणकी सब विधियाँ यथावत् होनी चाहिए ।

मन्त्रमें सुप्त, मूर्छित, मत्त आदि दोष होते हैं । एक पुरश्चरणसे उद्देश्य पूर्ण न हो तो मन्त्रका ताड़नादि संस्कारोंमें एक-एक संस्कार करते हुए एक-एक पुरश्चरण करना पड़ता है । इस प्रकार अधिकसे अधिक इक्कीस पुरश्चरण तक करने पड़ सकते हैं ।

इसका अर्थ हुआ कि मन्त्रानुष्ठानसे भगवद्दर्शनके लिए कमसे कम दश घण्टे नित्य अनुष्ठान विधि पूर्वक एक सहस्र दिन और अधिकसे-अधिक इक्कीस सहस्र दिन (लगभग ६३ वर्ष) करना पड़ सकता है । इतना श्रम एवं धैर्य हो तो मन्त्रानुष्ठानसे अवश्य भगवद्दर्शन हो जायगा ।

एम. ए. की डिग्री पानेके लिए ही लगभग सोलह वर्ष लगते हैं । इस दृष्टिसे देखा जाय तो भगवद्दर्शनके लिए ६३ वर्ष कुछ अधिक नहीं कहे

जायँगे। जन्म जन्मकी साधनाकी सफलताके लिए यह अवधि थोड़ी ही है, किन्तु मनुष्य कमसे-कम १४ वर्षकी आयुमें ही तो अनुष्ठान प्रारम्भ कर सकता है। वह पूरे ७७ वर्ष जीवित ही रहेगा और बराबर स्वस्थ रहेगा, उसका अनुष्ठान बीचमें रोग भङ्ग नहीं कर देंगे, यह आप सम्भव मानते हैं?

एक बात यहाँ और विचारणीय है। शास्त्र तथा सत्पुरुष भी कहते हैं—'भगवान् साधन साध्य नहीं हैं' भगवती श्रुति कहती हैं—'यमेवैषवृणुते तेन लभ्यः।' अर्थात् मनुष्यका कोई श्रम, कोई प्रयत्न भगवत्प्राप्तिका मूल्य नहीं बन सकता। भगवान्को वह विवश नहीं कर सकता।

दूसरी ओर यज्ञपर तथा मन्त्रानुष्ठानसे भगवद्दर्शन होनेकी बात तो शास्त्रोंमें है। भले वह इस युगके लिए न हो। यहाँ एक मत है कि यज्ञ, तप तथा मन्त्रानुष्ठानसे होने वाला भगवद्दर्शन केवल अर्थ, धर्म, कामका दाता है। उससे मोक्ष या भगवत्प्राप्ति नहीं होती। अधिकसे अधिक सिद्धि या स्वर्ग। निर्विवाद नहीं है यह मान्यता; किन्तु यह बात समझमें आनेकी है कि कर्मकी—मानव प्रयत्नकी गति ब्रह्मलोक तकके भोगों तक ही है।

४. प्रीतिपुरःसर भगवद्दर्शन

भगवद्दर्शन होता है प्रेमसे, भक्तिसे। भगवद्दर्शनका यही श्रुति-शास्त्र-सत्पुरुष-सम्मत प्रशस्त पथ है। भगवद्दर्शनकी तीव्रतम उत्कण्ठा, उस परम प्रेमास्पदको प्राप्त करनेकी परम व्याकुलता जब प्राणोंमें जागृत हो जाती है, वे प्रेम स्वरूप भी अपनेको रोक नहीं पाते। जीवन धन्य हो जाता है।

ऐसा प्रगाढ़ प्रेम, ऐसी तीव्रतम उत्कण्ठा केवल विशुद्ध हृदयमें ही जागृत होती है। सांसारिक भोगोंकी आसक्ति जब सर्वथा मिट जाती है, स्वजनों एवं शरीरकी ममता जब निर्मूल हो जाती है, सब दिव्य प्रेमका हृदयमें प्रादुर्भाव होता है। विषय-विदूषित चित्तमें भगवद्भक्तिका प्रकाश हुआ नहीं करता।

चित्तकी शुद्धिके लिए, वासनाओंके निर्मूलनके लिए, ममताके मलको स्वच्छ करनेके लिए ही शास्त्रोंने साधन भक्तिका उपदेश किया है।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम्
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।

ये भक्तिके साधन सामान्यजनोंकी हृदय शुद्धिके लिए ही हैं। इनका आश्रय ग्रहण करके चलनेपर क्रमशः हृदयकी शुद्धि होती है। शुद्ध हृदयमें भगवत्प्रेमका प्रकाश होता है। जव भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो गयी, तब भगवद्दर्शन कोई समस्या नहीं रह गयी। भगवान् तो अपने प्रेमियोंको दर्शन देनेके लिए उत्कण्ठित रहते हैं।

५. भगवत्कृपासे भगवद्दर्शन

भगवद्दर्शन जव भी होता है, भगवत्कृपासे ही होता है। भगवान् साधन साध्य नहीं हैं; वे अपनी कृपासे ही जीवको प्राप्त होते हैं। भगवद्दर्शनके लिए प्रेमाकुल भगवद्भक्तोंको भी कृपापूर्वक ही भगवान दर्शन देते हैं। लेकिन कुछ ऐसे भी महाभाग हैं—हुए हैं कि भगवानको उनपर विना माँगे कृपा करनी पड़ती है। उनपर कृपा किये बिना भगवान रह नहीं पाते। इस प्रकार जब बिना चाहे, बिना प्रार्थनाके भगवद्दर्शन होते हैं—कृपाजनित दर्शन हैं वे।

पण्ढरपुरमें श्री विट्ठलके प्रादुर्भावकी कथा पढ़ी है आपने? भक्त पुण्डरीक माता-पिताको ही भगवत्स्वरूप मान कर उनकी सेवामें परम सन्तुष्ट थे, लेकिन उस विशुद्ध हृदय भक्तको दर्शन दिये बिना स्वयं पुण्डरीक प्रभुको चैन नहीं था। वे जब रुक्मिणी देवीके साथ दर्शन देने पधारे—न कोई स्वागत, न स्तुति। पितृ-सेवामें लगे पुण्डरीकने एक ईंट मात्र फक दी आसनके लिए और उसी ईंटपर खड़े हो गये कटिपर हाथ धरे वे त्रिभुवनके नाथ और खड़े रहे। श्रीविग्रह रूपमें वे आज भी वैसे ही खड़े हैं पण्ढरपुरमें।

भक्त पुण्डरीक ऐसे अकेले नहीं हैं। रन्तिदेवने ही उन्हें कब पुकारा था? वे अपनी अतिथि-सेवासे सन्तुष्ट! उदाहरण भरे पड़े हैं। कोई श्री विग्रहकी सेवामें परम प्रसन्न तथा कोई अपने अन्य किसी साधनमें। लेकिन 'धर्मस्य प्रभुरच्युतः' धर्मके प्रभु हैं श्रीहरि। कोई हृदय जब विशुद्ध हो जाता है, स्वतः उनके लिए वहाँ आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। ऐसे परमधन्य महानुभावोंको प्रार्थना नहीं करनी पड़ती। भगवान् स्वयं कृपा करके उन्हें दर्शन देने आते हैं।

६. तत्त्वदर्शन

यहाँ तककी बात हुई भगवानके सगुण साकार स्वरूपके दर्शनकी; किन्तु भगवानका केवल सगुण साकार रूप ही तो नहीं है। उनका तो

सगुण निराकार रूप भी है और निर्गुण निराकार स्वरूप भी। इन रूपोंके प्रेमियोंको इन रूपोंका भी दर्शन होता ही है। अवश्य ही दर्शन शब्दका प्रयोग न होकर यहाँ प्राप्तिका प्रयोग हुआ करता है।

सगुण निराकारके उपासक भगवत्प्राप्ति करते हैं—भगवद्दर्शन करते हैं ज्योतिके रूपमें। वे अपने हृदयमें इस ज्योति स्वरूपका दर्शन करते हैं अथवा बाहर उस सबके मालिकका 'जलवा' उनपर जाहिर हो सकता है।

भगवानके निर्गुण-निराकार स्वरूपका दर्शन या प्राप्ति नहीं, अनुभूति हुआ करती है। क्योंकि निर्गुण-निराकार स्वरूप तो आत्मस्वरूप—अपना पाता है। अपना दर्शन या अपनी प्राप्ति क्या? इसीलिए यहाँ उस स्थितिको आत्मज्ञान, आत्मानुभव या अपरोक्षानुभूति कहा जाता है।

यह आत्मानुभूति भी दो प्रकारसे उपलब्ध होती है। योगसे तथा विचारसे। योगसे मनोलयके पश्चात् असम्प्रज्ञात समाधिमें आत्मानुभव होता है। श्रवण-मनन-निदिध्यासनसे भी अविद्याकी हृदयग्रन्थिका उन्मूलन हो जाता है और अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर स्वयं प्रकाश आत्मस्वरूपका अपरोक्ष बोध होता है।

इस प्रकार आत्मानुभव होनेपर परिच्छिन्न देहमें अहंभावका लोप हो जानेसे शरीरको लेकर होनेवाली अहंता तथा ममताका भी हो जाता है। एकमात्र अपरिच्छिन्न स्वयम्प्रकाश आत्मतत्त्व ही रहता है।

—×—

सर्व सामान्यका भगवद्दर्शन

जो भगवान्‌को मानते-जानते ही नहीं, उनको तो भगवद्दर्शन होनेसे रहा और जो भगवानको मानते तो हैं; किन्तु केवल मानते हैं—भगवान्‌के लिए कुछ करने अथवा भगवान्‌को पानेकी बात सोचनेका जिन्हें अवकाश नहीं, भगवद्दर्शन उन्हें भी कैसे हो सकता है ?

जनगणना करने बैठेंगे तो आपको ऐसे लोगोंकी संख्या बहुत कम मिलेगी जो भगवान्‌को मानकर उन्हें पाना भी चाहते हो। लेकिन इन पाना चाहने वालोंमें भी अधिकांश लोग ऐसे होंगे जो आरामसे पाना चाहते हैं। भगवद्दर्शनकी कोई शीघ्रता नहीं उन्हें और न कोई विशेष आवश्यकता ही वे अनुभव करते हैं। कमाते-खाते, घर-आफिसका काम करते यदि कहीं किसी दिन भगवान् भी राह चलते मिल जायँ तो बड़ी अच्छी बात—आप जानते ही हैं कि भगवान्‌के पास भी ऐसे महोदयोंसे 'इण्टरव्यू' करनेका अवकाश नहीं हो सकता।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।

यह ठहरा कलियुग और गीतामें भगवान्‌ने घोषणा की थी द्वापरके अन्तमें। अतएव यदि घोषणाको युगानुरूप बनना हो तो 'मनुष्याणां सहस्रेषु' को 'मनुष्याणांतु लक्षेषु' कर देना पड़ेगा। विश्वास न हो तो गणना कर देखिये। संसारकी जनसंख्या लगभग दो अरब है। उसमें भी एक अरबके लगभगकी जनसंख्या है रूस-चीन तथा अन्य साम्यवादी देशोंकी। शेष आधी जनसंख्यामें भी आधेसे अधिक ही बालक हैं और आधेके लगभग साम्यवादी तथा अन्य निरीश्वरवादी।

संसारमें सर्वाधिक आस्तिक देश भारत है। भारतमें भी राजनीतिमें व्यस्त, व्यापार-व्यस्त, कालेजके युवकोंका एक बड़ा वर्ग, मजदूर किसान—आप सहस्रमें एक ऐसा व्यक्ति यदि यहाँ पालें जो भगवद्दर्शनके लिए कुछ प्रयत्न करता हो तो विश्वमें यह औसत लाखमें एक बैठेगा—यह भी संदिग्ध ही है।

सहस्रोंमें हों या लक्षोंमें हों, जिन्हें भगवद्दर्शन किसी भी प्रकार प्राप्त हो सकता है, वे जनसामान्य तो वही हैं जो भगवद्दर्शनकी प्राप्तिको महत्त्व

देते हैं, उसकी प्राप्तिके लिए उत्सुक हैं और उसे पानेके लिए कुछ थोड़ा-बहुत साधन-भजन भी करते हैं। जब हम सर्वसामान्यके भगवद्दर्शनकी बात करते हैं, तब सर्वसामान्यसे हमारा तात्पर्य इसी वर्गसे होता है।

भगवद्दर्शनकी इच्छा रखनेवाले तथा उसके लिए कुछ प्रयत्न भी करनेवाले इस वर्गको पाँच प्रकारसे भगवद्दर्शन होते हैं—१. अर्चा-विग्रहके दर्शन, २. लीलास्वरूप-दर्शन, ३. ध्यान-दर्शन, ४. स्वप्न-दर्शन, ५. संस्कार जनित दर्शन।

१. अर्चा-विग्रहके दर्शन

मैं किसी देवमूर्तिमें आराध्यके प्रत्यक्ष होजाने—अर्चावतारकी बात नहीं करता हूँ, मैं बात करता हूँ मन्दिरमें प्रतिष्ठित या घरमें पूजाके सिंहासनपर विराजमान भगवान्‌की मूर्तिकी।

मन्दिरमें हो या घरमें हो भगवन्मूर्तिका यह दर्शन भगवान्‌का ही दर्शन है। कोटि-कोटि श्रद्धालु नर-नारी मन्दिरोंमें पत्थर, लकड़ी, धातु या मिट्टीकी मूर्ति देखने नहीं जाते। वे भगवानका दर्शन करने जाते हैं और उन्हें भगवानके दर्शन होते हैं वहाँ।

मूर्ति पत्थर, लकड़ी, धातु, मिट्टी या चित्र तो उनके लिए हैं जो उसे जड़ मानते हैं। जिनमें श्रद्धा है, भगवद्‌भाव है—उनके लिए मूर्तिका भगवद्दर्शन है, इसमें शङ्का-सन्देहको कहीं कोई स्थान नहीं है।

२. लीला स्वरूप दर्शन

श्री वृन्दावन धाममें बौहरेजीकी रासमण्डली बहुत समय तक प्रसिद्ध रही है। श्रीबौहरेजी सम्पन्न थे और भावुक भक्त थे। रासमें श्रीराधाकृष्ण तथा सखी बनने वाले ब्रजवासी ब्राह्मण बालकोंको आप साक्षात् श्रीराधा श्रीकृष्ण तथा सखी मानते थे। उन बालकोंकी अष्टयाम सेवा होती थी। इस सेवामें ही बौहरेजीको सम्पूर्ण सम्पत्तिका सद्व्यय हुआ।

बौहरेजीकी भक्ति एवं उनके अनेक चमत्कार प्रसिद्ध हैं। एक बार एक सज्जन बौहरेजीके पीछे पड़—'हमें भगवद्दर्शन करा दीजिये!' उन्हें आशा थी कि बौहरेजी यह बात बड़ी कठिनाईसे स्वीकार करेंगे, कदाचित न भी स्वीकार करेंगे; किन्तु आशाके विपरीत बौहरेजीने उल्लास पूर्वक कहा—'अवश्य! आज ही आप रात आठ बजे मेरे यहाँ पधारें!'

निश्चित समयपर जब वे पहुँचे, रासमण्डलीमें श्रीराधा-कृष्णके स्वरूप पधार चुके थे। बौहरेजीने उनको समीप बुलाकर कहा—'श्रीठाकुर-जीके भरपूर दर्शन कर लीजिये।

लेकिन ये तो रासके स्वरूप हैं !' उन्होंने शङ्काकी और बौहरेजी रुष्ट हुए--"रासके स्वरूपका अर्थ ? ये साक्षात् श्रीकृष्ण श्रीराधा नहीं हैं ? तुम मुझे मूर्ख मानते हो कि मैंने इनके श्रीचरणोंमें अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया है ?

श्रीबौहरेजीका रोष अनुचित नहीं था। रासलीला हो या रामलीला, उसमें जो स्वरूप बने हैं--वे साक्षात् भगवत्स्वरूप हैं। लीलाके इन स्वरूपोंमें हम स्वयं भगवानके दर्शन करते है। जैसे मूर्तिका दर्शन भगवद्दर्शन है, वैसे ही लीला-स्वरूपका दर्शन भी भगवद्दर्शन ही है।"

व्रज में, श्रीअवधमें, मिथिलामें ऐसे श्रद्धालुजन पर्याप्त हैं जो लीलामें भगवत्स्वरूप बनने वाले किसी बालकमें भगवद्भाव कर लेते हैं--भगवद्-भाव प्राप्त कर लेते हैं, यह कहना चाहिए और फिर आजीवन उसी व्यक्ति-त्वमें, वृद्ध होनेपर भी उसमें उनका भगवद्भाव रहता है और सदा भगवद्भावसे ही वे उनका सत्कार करते हैं।

ऐसे भी लोग पर्याप्त संख्यामें हैं जो लीला-स्वरूपोंमें तब तक भगवद्-भाव रखते हैं, जब तक वे स्वरूपमें बनते हैं। इस अवधिमें वे स्वरूप बने हों या अपने साधारण वेषमें हों उनके प्रति वे श्रद्धालुजन भगवद्भाव ही रखते हैं।

श्रद्धाका जहाँ इतना परिपाक नहीं हुआ, वहाँ भी जिनमें श्रद्धा है, वे मुकुट धारण किये रहने तक लीलास्वरूपको भगवत्स्वरूप मानते है और इस प्रकार रासलीला या रामलीलाके स्वरूपोंमें उन्हें भी भगवद्दर्शन होता है।

३. ध्यान दर्शन

देव-मन्दिरमें मूर्ति-दर्शन तथा रासलीला या रामलीला-स्वरूपका दर्शन तो वहाँ जाने वाले सभीको हो जाता है। चर्म चक्षुओंसे जन सामान्यके लिए भगवद्दर्शन इन्हीं दो रूपोंमें सुगम है।

अब जो लोग भजन-ध्यान करते हैं, उन्हें अपने ध्यानमें भगवानके दर्शन होते हैं। यही अवस्था ध्यानके प्रगाढ़ होनेपर, योग-दर्शनके शब्दोंमें धारणाकी स्थितिसे ऊपर उठकर ध्यानावस्थामें पहुँचनेपर प्राप्त होती है।

ध्यानका प्रारम्भ तो चित्र या मूर्तिके ध्यानसे ही किया जाता है। निराकारको मानने वाले शब्द या ज्योतिका ध्यान करते हैं।

ध्यानमें मूर्ति या चित्र भली प्रकार स्पष्ट हो जाय, उसका प्रत्येक अङ्ग, प्रत्येक रेखा, प्रत्येक रङ्ग, स्पष्ट चित्तमें दीखने लगे तो धारणा ठीक हो रही है, यह समझना चाहिए। अब उस चित्र या मूर्तिमें चैतन्यकी भावना करनी चाहिए। वह ज्योतिर्मय होगयी है। नेत्र पलकें चलने लगी हैं मूर्ति चलती, हिलती, मुस्कराती है। भगवानके आभूषणोंके शब्द, उनकी अङ्गगन्धादिकी भावना करनी चाहिए।

इस प्रकार भावनाका अभ्यास दृढ़ होनेपर ध्यानकी मूर्ति चेतन हो जाती है। वह सचमुच ज्योतिर्मय हो जाती है। उसमें गति आती है। अङ्ग तथा माला आदिकी गन्धका अनुभव होता है। आभूषणोंका शब्द सुनायी पड़ता है।

अब ध्यानकी मूर्ति हँसती है, चलती है, बोलती है। जो लोग ज्योति या शब्दका ध्यान करते हैं। उनके ध्यानमें भी नाना प्रकारके अनुभव होने लगते हैं।

ध्यानमें इस प्रकार भगवद्दर्शन अच्छे साधकोंको प्रायः होता है। लेकिन यहाँ यह बात स्पष्ट होजानी चाहिए कि यह ध्यानका भगवद्दर्शन ही सब कुछ नहीं है। यही पूर्णावस्था है, ऐसा मानकर सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए।

दूसरी एक बात और--ध्यानमें इस प्रकार भगवद्दर्शन होने पर वह ध्यानकी मूर्ति बहुत बार आदेश देती है, कुछ, या कोई भविष्यवाणी करती है। इन आदेशों तथा भविष्यवाणियोंपर निर्भर होने वाले धोखा खाते हैं। क्योंकि ये क्रियाएँ अपना ही मन उस रूपमें कर रहा है। भविष्य-वाणियों पर तो ध्यान देना नहीं चाहिए और जो आदेश बहिर्मुख करने-वाले हों, यश या भोगमें लगाने वाले हों, जिनमें साधन या तितिक्षाको शिथिल करने या त्यागनेको कहा गया हो अथवा और कोई बात धर्म एवं साधनके प्रतिकूल लेजाने वाली हो, उन आदेशोंको भूल कर भी स्वीकार

नहीं करना चाहिए, चाहे वे आदेश नित्य और दीर्घकाल तक ही क्यों न मिलते रहें।

४. स्वप्न दर्शन

अनेक वार, अनेक लोगोंको स्वप्नमें भगवानके विविध रूपोंके दर्शन होते हैं। स्वप्नमें दर्शन साधकोंको ही हों, यह आवश्यक नहीं है। ऐसे लोगोंको भी स्वप्नमें दर्शन होते हैं, हो सकते हैं जो साधनमें नहीं लगे हैं।

स्वप्नमें भगवानके दर्शन अपने संस्कारोंसे, मनकी चिन्ताधाराके कारण अथवा भगवत्कृपासे भी हो सकते हैं। चाहे जैसे स्वप्नमें भगवद्दर्शन हुए हों, उससे चित्त पवित्र होता है उससे यह भी सूचित होता है कि चित्त अज्ञात दशामें भी भगवद्दर्शनकी ओर उन्मुख है। ऐसा व्यक्ति यदि साधन-भजनमें मनलगावे तो उस प्रत्यक्ष भगवद्दर्शन अपेक्षाकृत सुगमता पूर्वक एवं शीघ्र होनेकी सम्भावना है।

ध्यानमें भगवद्दर्शनकी भाँति स्वप्नके भगवद्दर्शनमें भी आदेश मिल सकते हैं तथा भविष्यवाणियाँ हो सकती हैं। यहाँ मन धोखा देता है। अतएव स्वप्नकी भविष्यवाणियोंपर भी ध्यान देना चाहिए और स्वप्नके भी वे आदेश नहीं स्वीकार करने चाहिए जो धर्माचरण, त्याग, साधन-भजनके विपरीत हों, वहिर्मुख करनेवाले हों।

एक ही प्रकारका स्वप्न बार-बार दिखायी पड़ सकता है और एक ही आदेश उसमें बार-बार दुहराया जा सकता है। यह सब अपने मनका ही खेल नहीं है, ऐसा विश्वास पूर्वक नहीं कहा जा सकता। इसलिए बार-बार दुहराये जानेके कारण किसी स्वप्नादेशको स्वीकार करना चाहिए।

५. संस्कार-जनित भगवद्दर्शन

स्वप्नमें ही नहीं, जागृत दशामें—अर्द्ध तन्द्राकी अवस्थामें भी भगवद्दर्शन होता है। व्यक्ति समझता है, वह सर्वथा जागृत है। वह अपने आस-पास होने वाले शब्द सुनता रहता है। वाह्य ज्ञान उसमें पूरा होता है और उस अवस्थामें बहुत कम ऐसा होता है। जब नेत्र खुले हों, अन्यथा नेत्र पलक बन्द होते हुए ही वह खुले नेत्रोंकी भाँति—प्रत्यक्षके समान भगवद्दर्शन करता है। नेत्र पलक बन्द रहनेकी दशामें वह अनुभव करता है कि प्रयत्न करके भी वह पलकोंको खोल नहीं पाता है।

इस प्रकारका भगवद्दर्शन भी चित्तके संस्कारोंका ही परिपाक है। स्वप्न-दर्शनसे कुछ अधिक उन्नत स्थिति यह अवश्य है ; किन्तु है यह भी उसी स्वप्नदर्शनकी श्रेणीकी बात।

इस अवस्थामें भी आदेशादि मिलते हैं—मिल सकते हैं, किन्तु वे भी विश्वासनीय नहीं है। उनमें भी अपना मन अपनेको धोखा देता हो सकता है। अतएव उनके सम्बन्धमें भी बहुत सावधानी आवश्यक है। ध्यान-दर्शन या स्वप्न दर्शनके जैसे आदेश अस्वीकार करने योग्य बताये गये हैं, इस अनास्थामें प्राप्त उस प्रकारके आदेश भी उसी प्रकार, उन्हीं कारणोंसे स्वीकार योग्य नहीं मानना चाहिए।

इस प्रकारका श्रीविग्रह (मूर्ति) का दर्शन, लीला स्वरूपका दर्शन, ध्यानमें दर्शन, स्वप्नमें दर्शन और संस्कार जनित दर्शन—ये पाँच प्रकार हैं जिनसे जन सामान्यको भगवद्दर्शन प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त भगवद्दर्शनके छै उच्च प्रकार हैं। उनकी चर्चा अब अगले प्रसङ्गमें करना अच्छा होगा।

मूर्ति-पूजा-रहस्य

आप कागजपर छपी तस्वीर अथवा पत्थरोंकी पूजा क्यों करते हैं ? मेरे एक परिचितने पूछा। मैं पहिले-पहिले वृन्दावन आया था और गुरुकुलके समीप वृन्दावन परिक्रमा मार्गमें एक गौड़ीय गोस्वामीकी उदारताका लाभ प्राप्त करके उनकी कुटियामें रहने लगा था।

मुझे प्रतिदिन गुरुकुलके घेरेमें होकर ही नगर तक आना-जाना पड़ता था और इस प्रकार गुरुकुलके कुछ छात्र तथा अध्यापक परिचित होगये थे उनमें-से एक उच्च कक्षाके छात्रसे घनिष्टता बढ़ गयी। वे मेरे समीप आने-जाने लगे और पीछे मेरे मित्रोंमें हो गये। उनमें विभिन्न विषयोंपर तर्क-वितर्क होता ही रहता था।

"हड्डीकी,, माँसकी, चमड़ेकी कोई पूजा करे इसकी अपेक्षा पत्थरकी पूजा क्या अच्छी नहीं?" मैंने उनसे पूछा ।

"लेकिग हड्डी, मांस या चमड़ेकी पूजा तो प्रचलत नहीं है ।" तनिक रुक कर वे पुनः वोले—,'मैं नहीं जानता कि किन्हीं तान्त्रिकोंमें ऐसी पूजा प्रचलित है या नहीं, किन्तु हो तो वह और भी घृणित है।"

मैं तात्रिकोंकी नहीं, आपकी बात कहता हूँ ।" मैंने अपनी बात स्पष्ट की—"आपके पिताजीका शरीर हड्डी, माँस, चमड़े आदिका ही तो है मैं मानता हूँ कि आप धूप-दीपादिसे हमारी भाँति पूजा नहीं करते; किन्तु पूजा-पद्धतिमें भेद होने मात्रसे तो यह नहीं कहा जा सकता कि आप पूजा नहीं करते ।"

मैं पिताजीकी पूजा करता हूँ, उनका सम्मान करता हूँ । वे अच्छे पितृ-भक्त थे और यह हम आप सभी जानते हैं कि यह उत्ताम बात है— उन्होंने कहा—"लेकिन यह तोश्रुति-शास्त्र सम्मत समस्त शिष्ट जन समर्थित मार्ग है ।"

'पिताजीकी पूजा उनके हड्डी, माँस, चर्मकी पूजा ?" मैंने गम्भीर रहकर ही पूछा ।

"पिताजीकी पूजा" उन्होंने कहा—लेकिन उनके शरीरको छोड़ देने पर उनकी पूजा या सेमा हो कैसे सनती ? उनके प्रति सम्मान तो उनके शरीरके सम्मानमें ही व्यक्त किया जा सकता है ।

इसका अर्थ यह हुआ कि जो चेतन एवं सूक्ष्म तथा इन्द्रियोंके द्वारा दृश्य नहीं, उसकी सेवा-पूजा. उनके प्रति सम्मान व्यक्त करनेके लिए हमें स्थूल एवं जड़का सहारा लेना पड़ेगा । उसे माध्यम बनाये विना हमारे पास और कोई मार्ग नहीं—मैंने कहा ।

"बात तो आप की ठीक है ।" दो क्षण सोच कर बे बोले—लेकिन पिमाजीका देह तो उनका अपना देह है और इस अपने चित्र या मन्दिरकी मूर्तियोंको तो आप परमात्माका देह कह नहीं सकते ।"

आपके पिताजीका यह देह उनका कितने जन्मोंका अपना देह है ? —मैंने पूछा—"बचपनमें जो जल मिट्टी आदि उनके शरीरमें थे, वे अब पता नहीं कहाँ होंगे । मृत्युके पश्चात् इस देहके जड़ तत्वोंमें उनका क्या

रहेगा ? इसी समय शरीरके तत्वोंमें उनका अपना क्या है? उसके प्रत्येक कण बदल रहे हैं—बदलते जा रहे है।"

. उस देहमें उनकी अहंता आबद्ध है, । वे न्याय शास्त्रके छात्र थे। तर्कमें उनसे त्रुटिकी आशा नहीं की जा सकती थी। उन्होंने सोचकर उत्तर दिया—'इस अहंताके कारण ही उनके देहका सम्मान उनका अपना सम्मान बन जाता है।

"केवल अहंता" मैंने कहा—वैसे शरीरमें उनका अपना कुछ नहीं है। यह शरीर न पूर्व जन्मोंमें उनका था, न मृत्युके पश्चात उसके किसी कण पर उनका स्वत्व रह सकता है। अर्थमें तो अब भी कोई स्वत्व नहीं।"

वे बोले नहीं। चुप सुनते रहे और बोलनेको था भी क्या ? मैंने बात स्पष्ट की—'और ईश्वर सर्वव्यापक है। मेरे इस आराध्य चित्रमें तथा मन्दिरकी मूर्तियोंमें वह नहीं ऐसा आप कह नहीं सकते। इनका कण-कण सदासे उसका है, सदा उसीका रहेगा।"

"लेकिन तब इन जड़ तत्वोंकी पूजा?"कहते-कहते भी वे संकुचित हो रहे थे। उन्हें स्वयं लग रहा था कि उनका तर्क अब लंगड़ा हो चुका है।

"आप जब अपने पिताका सम्मान करते हैं, वह सम्मान उनके शरीरका होकर भी शरीरके चमड़े,माँस,हड्डी,रक्त आदिका होता है या उस देहमें स्थित चेतन आपके पिताका ? " मैं फिर प्रश्न-पद्धति पर आगया।

"चेतन पिताका ?" वे समझ गये थे कि मुझे क्या कहना है।

और जड़ शरीरको आधार बनाये बिना चेतन पिताका सम्मान करनेका आपके समीप कोई उपाय है ?" दूसरा प्रश्न था।

'सो तो नही है। उन्होंने स्वीकार किया।

'देखो भाई,हम मूर्ति-पूजा करनेवाले न चित्र पूजते,न मिट्टी, पत्थर, लड़की या धातु। हम तो भगवान्की पूजा करते हैं। मैंने अब अपनी बात स्पष्ट की—'मिट्टी,पत्थर, कागज, लकड़ी या धातु जो उसे देखते समझते हैं, वे पूजा नहीं करेंगे। जैसे देहको हड्डी-माँस देखने वाले गीध तथा सिंहादि उसे पूजनेकी अपेक्षा भक्षण करना उचित मानेंगे; किन्तु देहका जो सम्मान करता है, उसकी दृष्टि देहस्थ चेतनपर है। इसी प्रकार मूर्ति-पूजककी दृष्टि मूर्ति जिस भौतिक तत्वसे बनी है उस तत्वपर नहीं, कण-कणमें व्याप्त

परम चेतन पर है। वह उस मूर्तिमें उस सर्वव्यापक, सर्वसमर्थ, सर्वेशकी पूजा करता है।'

स्थूलको आधार बनाये बिना सूक्ष्म-चेतनकी पूजा सम्भव नहीं।' वे और सुनने की मुद्रा में थे; अतः मैंने स्पष्ट किया—इस लिये उस परम चेतनकी आराधनाके लिए हमने मूर्तिको आधार बनाया है।'

'तब अमुक ही मूर्ति क्यों ?' बहुत शिथिल स्वर में उन्होंने पूछा।

'आप स्वयं समझ रहे हैं कि आपका प्रश्न अकारण है।' मैंने कहा—'हम कहां अमुक मूर्ति का ही आग्रह करते हैं ? जिसकी जहाँ श्रद्धा हो, जैसी मूर्ति जिसे रुचे,उसके लिए वहीं वही पूज्य है। क्योंकि परमात्मा तो सर्वत्र है, सबमें है।'

देखिये। शरीरके मरनेसे आपके पिताका चेतन नहीं मरता किन्तु पिताके शरीरकी सुरक्षा, उसके स्वास्थ्यका आपको पूरा ध्यान रहता है।उस शरीर पर हुआ आघात एवं उसका असम्मान आपको व्यथा पहुंचाता है। आप शक्ति भर उसका प्रतिकार करना चाहते हैं।' मैंने उन्हें स्पष्ट किया अपना पक्ष, इसी प्रकार मूर्तिके टूटनेपर आराध्य न मरता एवं न उसका अंग-भंग होता; किन्तु मूर्तिकी सुरक्षा एवं सम्मान उसके आराधकका प्राण है और उसपर आघात उसे मानसिक पीड़ा पहुँचाता है।'

वे अब भी मेरे मित्र है। गुरुकुलके स्नातकसे मूर्ति-पूजाकी आशा की जा सकती; किन्तु वे अब मूर्ति पूजाकी आलोचना नहींकरते और कभी साथ हों तो मेरी भावनाका सम्मान करनेके लिए श्रीबिहारीजीके मन्दिरमें जानेमें उन्हें आपत्ती भी नहीं होती।

———

नाम-रूप–लीला-धाम

सगुण साकार रूपमें भगवद्दर्शन प्राप्ति जिन्हें अभीष्ट हैं, उनमें चार प्रकारकी निष्ठा रखने वाले भक्त होते हैं--१. नामनिष्ठ, २. रूपनिष्ठ या ध्यान निष्ठ, ३. लीला-चिन्तन निष्ठ और ४. धाम निष्ठ। इन चारोंकी परमगति भी चार प्रकारकी है १. नाम-निष्ठको सारूप्य प्राप्त होता है। वैसे उसका आग्रह तो रहता है कि वह कहीं भी रहे, नाम स्मरण चलता रहे। २.·रूपनिष्ठ सायुज्य प्राप्त करता है ३. लीला निष्ठको सामीप्य प्राप्त होता है और ४. धाम निष्ठ सालोक्य प्राप्त करता है।

नाम-रूप लीला एवं धाम--ये चारों ही परस्पर अभिन्न हैं। इन चारों रूपोंमें एक ही सच्चिदानन्दघन प्रकाशित होता है। अतः इनमें न महिमाकी दृष्टिसे कोई तारतम्य है और न इनमें साध्य-साधन प्राप्य-प्रापक भेद ही किया जा सकता है।

यह साधक—आराधककी रुचि, अधिकार एवं निष्ठापर निर्भर करता है कि वह इन चतुःरूप भगवत्स्वरूपोंमें-से किसका आश्रय ग्रहण करेगा। तत्त्वतः इन चारों रूपोंमें कोई भेद नहीं है। अब इनमें-से प्रत्येकके सम्बन्धमें पृथक-पृथक विचार करना है।

नाम

भगवन्नाम सर्वभौम साधक है। सभी धर्मोंमें, सभी सम्प्रदायोंमें, सभी प्रकारकी निष्ठा रखने वाले साधकोंमें नामका जप एवं नाम-स्मरण अनिवार्य साधनके रूपमें अपनाया जाता है। कोई युग, कोई देश, कोई धर्म नहीं जो नामका आश्रय न स्वीकार करता हो।

चहुँ जुग चहु स्रुति नाम प्रभाऊ।
कलिविशेष नहिं आन उपाऊ ॥

चारों युगोंमें, चारों वेदोंमें नामका प्रभाव प्रख्यात है किन्तु कलियुग-का तो भगवन्नाम विशेष साधन है। इस युगमें तो भगवत्प्राप्तिका दूसरा उपाय ही नहीं।

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ॥
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

नामके बिना नामीका स्मरण सम्भव नहीं है। अतः रूप, लीला, धाममें निष्ठा रखनेवाले सगुणोपासक, आत्मसाक्षात्कारके पथिक निर्गुण विचारक, आत्मदर्शनके इच्छुक योगी आदि सभी नामका आश्रय लेते हैं और नाम उनको उनके मार्गमें प्रगति देता है। उनके पथको सुगम बनाता है। उनके विघ्नोंको शमित करता है।

लेकिन नाम दूसरे साधनोंका सहायक मात्र नहीं है। वह स्वयं सम्पूर्ण साधन है और साध्य भी है। नामका जापक और कोई साधन करे, कोई और रूपादिका चिन्तन, ध्यान, विचार, योगादि करे: यह न अनिवार्य है और न आवश्यक। केवल नाम-जाप नाम-स्मरण ही उसके लिए पर्याप्त है। नाम हीसे वह जन्म-मरणसे विमुक्त होकर परमार्थ तत्त्वको प्राप्त कर सकता है।

यहाँ तककी बात तो सब लोग समझ लेते हैं; किन्तु नाम स्वयं साध्य है, यह बात जल्दी गले नहीं उतरती। नाम स्वयं साध्य है, स्वयं प्राप्य है। उसका नामी है और नामके द्वारा वह नामी प्राप्त होता है, यह सत्य होते हुए भी यह परम सत्य है कि नाम बिना किसी नामीके स्वयं परम तत्त्व है। वह स्वयं प्राप्तव्य है। श्रुति उसीको शब्द ब्रह्म कहती है। सच्चा नाम निष्ठ साधक वह है जो नामजपके लिए नामजप करता है। जिसे कोई अन्य नामी, कोई अन्य पद अभीष्ट नहीं, जो नाममें भी नित्य-अनन्तकाल तक लगा रहना चाहता है।

नाम और नामी अभिन्न हैं। लेकिन यह बात नित्य दिव्य भगवन्नामों-के सम्बन्धमें ही है। लौकिक नामोंमें यह बात सम्भव नहीं है; क्योंकि लौकिक नाम कल्पित हैं। अग्नि कहनेसे मुख जलता नहीं और चीनी कहने-से मुख मीठा नहीं होता; क्योंकि अग्नि पदार्थ या चीनी पदार्थके ये नाम कल्पित हैं। एक भाषामें इनके एक नाम तथा दूसरी भाषामें दूसरे नाम हैं। ये नाम हमारी कल्पनाने गढ़े हैं। पदार्थोंसे इनका कोई नित्य सम्बन्ध नहीं है। लेकिन भगवन्नाम तो कल्पित नहीं हैं। भगवत्तत्त्वसे उनका नित्य सम्बन्ध है। अतः भगवन्नाम लेते ही हमारा भगवत्तत्त्वसे सम्बन्ध हो जाता है।

नामकी महिमा शास्त्रोंमें भरी पड़ी है। 'परमार्थ' में भी वह अनेकों द्वारा बार-बार व्यक्तकी गयी है। इसलिए मैं यहां उसका विस्तार नहीं करूँगा। नाम स्वयं भगवत्स्वरूप है—यह कह देनेके पश्चात् और कुछ कहनेको रह भी नहीं जाता है।

वाणीके चार रूप शास्त्रोंने तथा सन्तोंने माने हैं। परा, पश्यन्ती, मध्मा तथा वैखरी। इनमें परा वाणीमें उच्चरित शब्द—भगवन्नाम अनावरण भगवद्रूप होते हैं और भगवतत्त्व उनके उच्चारणके साथ प्रकाशित होता है। पश्यन्ती वाणी सत्त्वगुण समन्वित वाणी है। उसमें रसानुभव भरपूर है। उसके द्वारा उसके नाम-स्मरण होते समय स्मरणमें तन्मयता एवं आनन्दकी उपलब्धि होती है, किन्तु वही परमस्थिति नहीं है।

मध्यमा वाणी साधककी एकाग्रताकी वाणी है। एकाग्रताका प्रयत्न करनेपर यह रजोगुण युक्त वाणी प्राप्त हो जाती है। इसे प्राप्त करनेपर नाममें रुचि होने लगती है। वैखरी वाणी तो तामस वाणी है और इसे सभी बोलते हैं। सबकी बातचीत वैखरीमें ही चलती है। जब तक नाम-जप इस वैखरी वाणीमें होता है, साधकको उसमें कोई रसास्वाद या विशेषानुभव प्राप्त नही होता।

परा वाणी नाभिसे. पश्यन्ती हृदयसे, मध्यमा हृदयके ऊपर वक्षसे और वैखरी कण्ठसे बोली जाती है। लेकिन प्रारम्भ सदा वैखरीसे ही होता है। आप इस वैखरी वाणीमे ही जप प्रारम्भ करदें और चेष्टा करें कि अपने जपको स्वयं सुनते रहा करें। जप वाचिक या उपांशु प्रारम्भ करना चाहिए। स्वयं एकाग्रताके प्रयत्न स्वरूप जप मध्यमा वाणीमें होने लगेगा और इसका लक्षण यह है कि जपमें रुचि हो जायगी। जब तक जपमें आनन्द न मिलने लगे जप उपांशु ही करें। आनन्द मिलने लगेगा तो स्वयं पश्यन्ती वाणी खुल जायगी और तब मानसिक जप प्रारम्भ कर लेना ठीक होगा। परा वाणी व्यक्त हुई और साधककी साधना धन्य हो गयी समझना चाहिए।

रूप

भगवान्‌के नित्य दिव्य चिन्मय रूप अनन्त है। जो परम तत्त्व निर्गुण, निराकार, विभु ब्रह्म है, वही सच्चिदानन्दघन अपने दिव्य लोकोंमें नाना प्रकारके आनन्दघन श्रीविग्रह धारण करके विहार कर रहा है। शिव, नारायण, शक्ति, गणेश, सूर्य, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि उसीके परमदिव्य रूप हैं। ये सब भगवद्रूप नित्य हैं, सनातन हैं। इनमें परस्पर कोई भेद नहीं। इनमें छोटे-बड़ेका भेद सोचना भी भगवदापराध है।

मनुष्यकी रुचि समान नहीं है और जिसकी जैसी रुचि है, उसी प्रकारके कार्य एवं चिन्तनमें वह सरलता पूर्वक लग सकता है। इसी रुचिका नाम अधिकार है साधन क्षेत्रमें। किसी उग्र-प्रकृति सैनिकका मन मुरली-मनोहर श्यामसुन्दरमें कैसे लग सकता है ? इसी प्रकार कोई सर्वथा वीतराग

महाराजाधिराज श्रीरामके वैभवके चिन्तनसे मन लगा सके, यह स्वाभाविक है। आप किसी सुकुमार भावनाशील कवि या चित्रकारसे महाकाली या दिगम्बर अहिभूषण प्रलयंकरके चिन्तनकी आशा नहीं कर सकते। अतः भगवान्‌ने अनुग्रह करके इतने दिव्य रूप धारण कर रखे है कि सब अपनी रुचिके अनुसार रूपमें उनका चिन्तन करके उन्हें पा सकें।

स्मरण रखने योग्य बात यहाँ केवल इतनी है कि हम जिस किसी भगवद्‌रूपका चिन्तन करें—उसीमें पूरी निष्ठासे लगें। साथ ही दूसरे भगवद्‌रूपोंके प्रति सम्मान भाव रखें। उनकी निन्दा तो नहीं ही करें। उनके चिन्तन एवं आराधक भी हमारे आराध्यके ही चिन्तक-आराधक हैं, इस बातका मनमें कोई विकल्प सन्देह नहीं रहना चाहिए।

भगवन्मूर्तियों एवं चित्रोंके रूपमें हमें एक आधार मिलता है रूप-चिन्तनके लिए। रूपका साधन ध्यानका साधन है और वह अपेक्षा करता है एकाग्रताकी। प्रारम्भमें बैठकर ही सुगमता पूर्वक यह चल सकता है। अभ्यास हो जानेपर इसे आप चलते-फिरते सोते-वैठे सभी अवस्थाओंमें कर सकते हैं।

रूपका ध्यान प्रथम तो मूर्ति या चित्रका ही ध्यान रहता है। मूर्ति या चित्र पूर्णतः सर्वांग रूपमें, सब वस्त्र, आभरण, माला आदिके साथ मनमें प्रकट होने लगे, यह उत्तम प्रारम्भ मानना चाहिए। लेकिन आप जड़का ध्यान करनेवाले नहीं हैं, इसलिए इच्छा करते रहें कि मूर्ति चेतन बने।

ध्यान कुछ-ही प्रगाढ़ होनेपर ध्येय मूर्ति ज्योतिर्मय हो उठेगी। वह कोमल हो जायगी और उसमें चेतनता व्यक्त होगी। सच बात तो यह है कि चेतन मूर्तिका ध्यान ही रूप-ध्यानका प्रारम्भ कहा जाना चाहिए। जब ध्यानकी मूर्तिके पलक गिरते दीखें, वस्त्र हिलें और हास्य, अंग सञ्चालनादि क्रिया भी उसमें दीखे, तब ध्यान ठीक प्रारम्भ हुआ।

रूपका ध्यान अपूर्ण है यदि वह केवल रूपका ही ध्यान है। भगवान्‌की माला, चन्दन तथा शरीरसे भी सुगन्ध आती है। उनकी दिव्य देहमें, नील कमलकी सुगन्ध है, उनके चन्दनमें, उनकी मालामें, उनके केशोंमें लगे तेलमें भिन्न-भिन्न सुगन्ध हैं। वे हृदयमें पधारते हैं तो इन सुगन्धोंका अनुभव होता है। उनके नूपुर करधनी, कंकण आदिका शब्द भी सुनायी पड़ता है। इस प्रकार जब रूपके साथ गन्ध एवं शब्दका अनुभव होने लगे तो ध्यान ठीक होता है--यह जानना चाहिए। प्रारम्भमें तो रूपके समान शब्द एवं गन्धकी भी भावना ही करनी पड़ती है।

लीला

रूप-चिन्तनकी अपेक्षा लीला-चिन्तन अधिक सुगम है। भगवान्‌ने अपने नाना अवतारोंमें नाना प्रकारकी लीलाएँ की हैं। अपने आराध्यकी उन लीलाओंको प्रतिदिन नियम पूर्वक पढ़ना चाहिए और फिर उन पर विचार करना चाहिए कि प्रभुने किस प्रकारवे लीलाएँ की होंगी।

सब बातें पुस्तकोंमें लिखी नहीं मिल सकतीं। यह तो चिन्तनका ध्यानका विषय है। प्रभु उठते हैं, बैठते हैं, शयन करते हैं, भोजन करते हैं, स्नान करते हैं, लोगोंसे यथायोग्य मिलते हैं। इस प्रकार प्रति दिन बहुत-सी क्रियाएँ करते हैं। उनके करते समय उनके अंग, नेत्र आदि किस प्रकार हिलते तथा क्रिया करते हैं; उनके वस्त्र, आभूषण, केश, माला आदिमें कब कहां कैसी गति आती है; वे कैसे बोलते हैं, इस प्रकार छोटीसे छोटी बातों-का चिन्तन करना होता है और अल्प प्रयाससे ही मन लीला-चिन्तनमें पर्याप्त समय तक लगा रह सकता है।

लीला चिन्तनमें भी केवल रूपका ध्यान नहीं करना चाहिए। शब्द तथा गन्धकी भावना भी करनी चाहिए और प्रभुके स्पर्श तथा उनके प्रसाद-के आस्वादन रसका चिन्तन भी किया जाय तो लीला-चिन्तन अधिक सम्पूर्ण होगा।

धाम

भगवद्धाम अपने वास्तविक रूपमें तो मायासे परे है; किन्तु पृथ्वीपर भारतवर्षमें भगवानके जो लीला धाम है, उनका उन नित्य दिव्य धामोंसे अभिन्न सम्बन्ध है। अतएव धराके ये धाम भी दिव्य धाम ही हैं। वृन्दावन, अयोध्या, काशी श्रीरंगम् आदि भगवान्‌के दिव्य धाम शास्त्रोंमें कहे गये हैं। इनमें भगवान्‌की नित्य सन्निधि मानी गयी है।

सभी लोग धाममें जाकर सदाको बस जायँ यह सम्भव नहीं; किन्तु जो जाकर बस गये हैं, उनके लिए यह सबसे सुगम साधन है। धाममें निवास धामसे बाहर किसी भी दशामें किसी भी कारणसे न जाना—बस धाम निष्ठाका यही स्वरूप है।

धाममें रहना और देह त्यागके पश्चात् दैहिक तत्त्वोंका धामकी रजमें मिल जाना मात्र धामनिष्ठा है, किन्तु साधन मात्र मनुष्यके लिए हैं। दिव्य भगवद्धाममें हूँ यह अनुभूति जिसमें सदा जागृत है—धामवासका सम्यक् फल वही प्राप्त करता है।

साधनोपयोगी प्रश्नोत्तर

क्या देश-भक्ति ईश्वर-भक्ति है ?
देश-भक्ति श्रेष्ठ है या ईश्वर-भक्ति ?

अभी-अभी यह प्रश्न एक मित्रने अपने पत्रमें पूछा है और उन्होंने देशके एक सम्मान्य अग्रणीका नामोल्लेख किया है कि वे देश-भक्तिको ही ईश्वर-भक्ति बतलाते हैं। जहाँ तक धार्मिक व्यक्तियोंका प्रश्न है, वे इस सम्बन्धमें सन्देहहीन हैं; किन्तु नये युवकोंके मनमें विकल्प उठ खड़ा हुआ है। अतएव आवश्यक है कि हम देश-भक्ति तथा ईश्वर-भक्तिकी सीमाएँ समझ लें।

देश पृथ्वीमें एक सीमित भूखण्ड है और उस भूखण्डके प्रति भक्तिका अर्थ है उसके निवासियोंके प्रति प्रेम, सेवाकी भावना। लेकिन यह देश-भक्ति सदा ही सत्प्रेरणा देती रहे, यह कोई आवश्यक बात नहीं है। सामान्य मनुष्य अपने वैयक्तिक स्वार्थमें रचा-पचा होता है। अतएव जब वह देहासक्तिसे ऊपर उठकर परिवारके लिए कष्ट-सहन, त्याग तथा श्रम करता है तो उसका व्यक्तित्व विकसित हुआ, यह माना जाता है। परिवारमें आसक्तिकी अपेक्षा अपने मुहल्लेमें, उससे अच्छा ग्राममें, इस प्रकार नगर, प्रान्त, जाति, स्वभाषा भाषी एवं पूरे देशमें आसक्ति, भक्ति होना उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है और इससे व्यक्तित्वके विकासका एक क्रम सूचित होता है।

आज जो विचारशील उदार मनुष्य हैं, वे राष्ट्रीयतासे मानवताकी महत्ता स्वीकार करने लगे हैं। इस पृथ्वीमें देश कितना छोटा है! फिर एक देशका स्वार्थ दूसरे देशके स्वार्थके सदा अनुकूल ही रहे, ऐसी बात नहीं है। प्रायः ये स्वार्थ परस्पर विरुद्ध होते हैं और ऐसी अवस्थामें कट्टर राष्ट्रीयता अथवा देश-भक्ति झगड़े, कलह तथा युद्धको उत्साहित करती है। इस बातको आप कुछ उदाहरणोंके द्वारा भली प्रकार समझ सकते हैं।

भारतमें सत्याग्रह आन्दोलन चल रहा था। ब्रिटिश सरकार कठोरतासे दमन कर रही थी। यह निश्चित बात थी कि भारतके ब्रिटिश साम्राज्यसे निकल जानेपर साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो जायगा और

ब्रिटेनकी शक्ति घट जायगी। सचमुच यही बात हुई, यह आप देख ही रहे हैं। अब आप बताइये कि अंग्रेजोंके लिए उस समय सत्याग्रहके दमनका समर्थन करना उचित था या भारतको स्वाधीनता देनेकी माँगका समर्थन करना? इंगलैण्डके प्रति उनकी देश-भक्ति उन्हें न्यायके लिए प्रेरित करती या अन्यायके लिए? यह सत्य हमें स्वीकार करना चाहिए कि अंग्रेज जाति सामूहिक रूपमें न्यायप्रिय है और उसने देशके स्वार्थकी अपेक्षा न्यायको महत्ता दी थी और ब्रिटेनका सामान्य जनमत तब भी दमनके पक्षमें नहीं था।

मैं वे प्रश्न जान बूझ कर नहीं उठा रहा हूँ, जिनमें हम-आप एक पक्ष हैं। क्योंकि ऐसे विषयोंमें हमारा मन ठीक निर्णय नहीं कर पाता। लेकिन दो क्षणके लिए मान लीजिये कि आप संयुक्त राष्ट्र अमेरिकाके नागरिक हैं और महायुद्ध प्रारम्भ ही होने वाला है, यह सूचना आपको मिल गयी है। आप यह विश्वस्त रूपमें जान गये हैं कि सोवियत रूस अगले दो चार घंटोंमें अमेरिकापर राकेट आक्रमण करने ही वाला है। आप अपने देशके राष्ट्रपतिसे क्या माँग करेंगे? ठीक इसके विपरीत कल्पना कीजिये कि आप सोवियत नागरिक हैं और अमेरिका द्वारा निश्चित राकेट-आक्रमण होने जा रहा है. यह सूचना आप पाते हैं। दोनों ही अवस्थाओंमें आप अपने देशके नायकसे जो माँग करेंगे, उसमें क्या यह विचार रह सकता है कि उस माँगको पूरी करनेमें निरीह निर्दोष मानवताका कितना विनाश होगा?

विश्वके सम्मुख आज यह अवस्था बहुत स्पष्ट है। इसलिए जहाँ प्रायः सभी देशोंमें देशभक्ति, राष्ट्रगौरवकी चर्चा बड़े अभिमानसे बड़े आडम्बरसे बहुत बड़े सद्गुणके रूपमें की जाती है, इस देश-भक्तिकी पूजा होती है, वहीं विश्वके प्रबुद्ध विचारक अब राष्ट्रीयताको भी उसी कोटिका दोष मानने लगे हैं, जिस कोटिके दोष साम्प्रदायिकता, जातीयता अथवा प्रान्तीयता हैं। इसके अतिरिक्त इन दोषोंमें कोई अन्तर नहीं कि एकका क्षेत्र संकुचित है और दूसरेका उससे कुछ बड़ा हैं; किन्तु संकीर्णता दोनोंमें है और इस संकीर्णतासे जो बुराइयाँ आती हैं वे सभी बुराइयाँ इस राष्ट्रीयतामें हैं।

आजका विद्वान उदार, महान-चिन्तक विश्वमैत्री, विश्व-मानवताकी दृष्टिसे विचार करने लगा है आज जैसे आप अपनी जाति, अपना सम्प्रदाय,

अपने प्रान्तकी वात सोचनेवालेको संकीर्ण विचार, क्षुद्रचेता, प्रगति विरोधी कह कर तिरस्कृत करना चाहते हैं, वैसे ही वह प्रबुद्ध चिन्तक इस राष्ट्रीयताकी भावनाको संकीर्णता एवं तिरस्करणीय मानता है।

आजका महान विचारक कहता है—'देशभक्ति या राष्ट्रीयताकी पिशाचीने वहुत युद्ध कराये। मानवताका वहुत अधिक रक्तपान कर चुकी यह। अब इसे मानव शवोंके समूहपर अपना उद्दाम नृत्य और नहीं करने दिया जा सकता। इसे समाप्त करो! दफना दो इसे!'

विश्वमानवता—लेकिन आपका विश्व, आपकी पृथ्वी इस सौर जगतमें कितनी छोटी है? आपका सूर्य ही तारक-मण्डल (नीहारिका मण्डल) में कितना नगण्य है। इससे कई-कई सहस्र गुने बड़े तारे (सूर्य) इस अपनी देवयानी नीहारिका मण्डलमें हैं और इस मण्डलके तारोंकी संख्या अरबोंमें है। यह नीहारिका मण्डल भी अकेला नहीं। विज्ञानने ऐसे २२ मण्डल देख लिए हैं, सब कितने हैं, किसे पता हो सकता है। संख्या मनमें न आसके इतने सूर्य और उनके सम्मुख यह क्षुद्र पृथ्वी!

कलको आकाशीय यान उन्नति करलें और मनुष्य दूसरे ग्रहोंपर निवास करने वालोंके सम्पर्कमें आजाय। विश्वमानवता वही संघर्ष, वही झगड़े और युद्ध नहीं करावेगी ग्रहोंमें, जो आज राष्ट्रीयता कराती है? यह विश्व मानवता भी तब राष्ट्रीयताके समान ही संकीर्णता एवं दोष नहीं बन जायगी? सच्ची बात यह है कि संकीर्णता दोष है, दोषोंकी जननी है। आप अपनी सीमा मत बनाइये! अपनी उदारताकी, अपनी भक्तिकी जहाँ भी सीमा बना लेंगे, वहीं वह दोष बन जायगी।

ईश्वर अनन्त है। ईश्वरकी कोई सीमा नहीं। यहाँ तककी वह दिक-कालसे भी परे है। उस ईश्वरकी भक्ति सीमित नहीं होती, संकीर्ण नहीं होती। भक्ति स्वयं महान है। भक्तिसे बड़ा सद्गुण दूसरा कोई नहीं। लेकिन जब आप भक्तिके लिए एक सीमा बना देते हैं तो बँधे पानीके समान उसमें सड़ान प्रारम्भ हो जाती है। तब उस सीमित भक्तिका नाम आप कुछ रखें, वह भक्ति नहीं होती। उसका ही नाम संकीर्णता है। एक सीमाके भीतर ही रागका नाम संकीर्णता है और वह दोष है! इसलिए भक्तिको देह, परिवार, ग्राम, जाति, सम्प्रदाय, प्रान्त, देश या मानवताकी सीमामें मत बाँधिए।। छोटी सीमाकी अपेक्षा बड़ी सीमा अच्छी है; किन्तु वह भी सीमा ही। इसलिए मैं देशभक्तिको भी ईश्वर-भक्ति या भक्ति नहीं मान

सकता। वह भी संकीर्णता ही है। भक्ति तो ईश्वर भक्ति ही है; क्योंकि ईश्वर सीमा हीन है। अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड ईश्वरमें ही स्थित हैं।

ईश्वर भक्ति अमुक देशीय, अमुक प्रान्तीय या अमुक आकार वाले प्राणीके लिए आपके स्नेह, सहायता, श्रम, त्याग एवं सहानुभूतिको सीमित सुरक्षित तथा बन्दी नहीं बनाती। वह समस्त प्राणियोंके लिए उसे उन्मुक्त कर देती है। फिर वे किसी प्रान्तमें, किसी देशमें किसी ग्रहमें और किसी भी योनिमें क्यों न उत्पन्न हुए हों। आपके व्यक्तित्वका—आपके ममत्वका यह जो सीमारहित अनन्त विस्तार है, इसीका नाम भक्ति है।

एक पिताके दस पुत्र हैं। उन पुत्रोंके स्वार्थ परस्पर भिन्न हैं और इसलिए वे परस्पर संघर्ष-रत भी रहते है। पिता सब पुत्रोंके लिए समान रूपसे स्नेहशील है। वह उन्हें अवसरके अनुसार सहायता देता है—दण्ड भी देता है, यदि उनमें-से किसीकी सुरक्षा अथवा उन्नतिके लिए दण्ड आवश्यक हो। आप उन पुत्रोंमें-से एक पुत्रकी भक्ति करते हैं। उस पुत्रकी सेवा-सहायता तथा उसके लिए दूसरोंसे लड़ाई-झगड़ा, संघर्ष सब करते हैं। आपकी यह भक्ति उस पुत्रके पिताकी भी भक्ति है या नहीं ?

आप उस पितासे पूछें, तो जानते हैं कि आपको वह क्या सम्मति देगा ? वह कहेगा—'भैया' तुम अपनेको पृथक रखो। तुम एकके पक्षमें होकर जो करते हो, वह सन्तुलन बिगाड़ देता है। इससे संघर्ष घटता नहीं, बढ़ता है। तुम एकके मित्र होकर औरोंके शत्रु होगये हो और मुझसे यह आशा करते हो कि मैं अपने नौ पुत्रोंके शत्रुसे इसलिए प्रेम करूँ कि वह मेरे एक पुत्रका मित्र है ?'

आप किसी पुत्रकी सेवा-भक्ति छोड़कर पिताकी भक्ति करने लगते हैं। स्वभावत: पिता जब जिसकी जो सेवा करना चाहता है, वह सेवा कार्य कुछ अंशमें आपसे ले लेता है। इस प्रकार आपको समय-समयपर उसके दसों पुत्रोंकी सेवा प्राप्त होती है। आप उन दसोंके मित्र हैं। भले वे परस्पर घोर शत्रु हों; किन्तु आप उनमें-से किसीके शत्रु नहीं हैं।

यह उदाहरण है इस बातके लिए कि ईश्वर भक्ति तो विश्व-सेवा है, देश-सेवा है, मानव मात्रकी सेवा है; किन्तु देश-भक्ति या प्रान्त-भक्ति ईश्वर भक्ति नहीं है। देशभक्ति यदि निर्दोष है, मानव सेवाके रूपमें ही है तो वह हृदय शुद्धिका हेतु बन सकती है; किन्तु कोई भी–चाहे वह कितना भी महान व्यक्ति क्यों न हो, यह कहे कि—'देश-भक्ति ही ईश्वर-भक्ति

है'–तो इसका अर्थ यह है कि वह सत्यसे दूर है और दूसरोंको भी दूर कर रहा है ।

भ्रान्तिके लिए एक स्थान है और उसे दूर कर देना चाहिए । कुछ लोगोंमें बहुत अधिक लोगोंमें यह धारणा बन गयी है कि जप, कीर्तन; पूजन, ध्यान कथा-सत्सङ्ग और धर्म ग्रन्थका पाठ तो ईश्वर भक्ति है और दुःखी-रोगीकी सेवा, पीड़ितकी पीड़ा दूर करनेका उपाय देश भक्ति है। इस धारणाको मनमें लेकर जब ईश्वर-भक्ति और देश-भक्तिका प्रश्न किया जाता है. तब बात बे-ठिकाने हो जाती है। क्योंकि यह वटवारा सही नहीं है जैसे जप, कीर्तन आदि ईश्वर भक्तिके साधन हैं, वैसे ही रोगीकी सेवा, दुःखीकी सहायता, अशिक्षितको शिक्षा, आचरण भ्रष्ट लोगोंके सुधारका प्रयत्न भो ईश्वर भक्तिके ही साधन हैं और महत्त्वपूर्ण साधन हैं । ईश्वर-भक्तिकी सर्वप्रथम प्रेरणा है प्राणिमात्रकी सेवा । यह बात सदा ध्यानमें चाहिए । दीन-दुखियोंकी उपेक्षा करके भक्ति नहीं हुआ करती ।

—××—

भौतिकविज्ञानके इस युगोंमें श्राद्ध तथा मूर्ति-पूजाकी क्या उपयोगिता है

यह भौतिक विज्ञानका युग है, इतनी बात तो ठीक है; किन्तु भौतिक विज्ञानने मनुष्यकी शारीरिक और मानसिक रचनामें तथा विश्वके मूलभूत सिद्धान्तोंमें कोई परिवर्तन कर दिया है क्या ? यदि कोई परिवर्तन नहीं किया है तो उन कार्योंपर भौतिक विज्ञानका क्या प्रभाव पड़ता है, जो मनुष्यकी मूलभूत मानसिक या आध्यात्मिक आवश्यकताएँ हैं ?

सच्च बात यह कि भौतिक विज्ञानकी उपलब्धियोंने उन लोगोंको चौंका दिया है, जो विचारके क्षेत्रमें अपरिपक्व हैं । उनका चौंकना इस प्रकारका है जैसे निद्रामग्न खरगोशोंके समूहपर अचानक तीव्र प्रकाश डाल दिया जाय । ऐसी अवस्थामें खरगोश पिंजरेमें घासके मध्य वनाये अपने विलको भूल जाते हैं और घबड़ाहटमें भागते हुए पिंजड़ेकी दीवालोंसे टकराने लगते हैं। ठीक इसी प्रकार ये चौके हुए लोग अब इधर-उधर

अपने तर्कको उन तथ्योंसे टकराने लगे हैं, जहाँ कोई परिवर्तन नहीं हुआ। ये लोग भूल जाते हैं भौतिक विज्ञान कोई नवीन तथ्य निर्माण नहीं करता। वह प्रकृतिके उन तथ्योंको ज्ञात करनेकी एक प्रणाली है, जिन्हें हम सामान्यत: अब तक नहीं जानते थे।

श्राद्ध और मूर्ति-पूजा यदि आवश्यक हैं, किन्हीं बातोंके ठीक सम्पादनके लिए तो वे सदा आवश्यक थे और रहेंगे और यदि आज वे अनावश्यक हैं तो सदा अनावश्यक थे—उनको अज्ञानवश ही किया जाता था। लेकिन भौतिक विज्ञानकी किसी उपलब्धिने उन्हें अनावश्यक नहीं बतलाया है। सच तो यह है कि उनकी मीमाँसा भौतिक-विज्ञानके क्षेत्रके भीतर नहीं आती।

हमारे मनमें यह प्रश्न इसलिए उठता है कि हम श्राद्ध अथवा मूर्ति-पूजाके तथ्यको ठीक-ठीक जानते नहीं हैं। इनको जान लेनेपर हम भौतिक-विज्ञानको कभी इस क्षेत्रमें घसीटनेका प्रयत्न नहीं करेंगे। लेकिन श्राद्ध और मूर्ति-पूजा ये दो भिन्न-भिन्न कार्य हैं और इनके लक्ष्य भी भिन्न हैं अत: इनका निर्वचन भी पृथक-पृथक ही होना चाहिए।

श्राद्ध

मैं उन लोगोंसे यहाँ कोई बहस नहीं करना चाहता, जो पुनर्जन्म नहीं मानते। श्राद्धकी सम्पूर्ण मान्यता पुनर्जन्मके सिद्धान्तपर आधारित है। अत: जो लोग पुनर्जन्ममें विश्वास करते हैं, केवल उनके सम्मुख ही यह प्रश्न है कि श्राद्ध होना चाहिए अथवा नहीं? श्राद्धका फल मृत प्राणीको प्राप्त भी होता है या नहीं?

अन्तर्ग्रहीय यात्राके युगमें देवलोक एवं पितृलोककी मान्यता कहाँ तक ठीक है? इस शीर्षकसे लिखे गये निबन्धमें यह स्पष्ट रूपसे बताया गया है कि पितृलोक क्या है और वहाँ कैसे लोग रहते हैं। पितृलोकके प्रशासकोंको छोड़ दें तो वह संक्षिप्त रूपमें प्रतीक्षा लोक है और वहाँ वे परलोक गत प्राणी रहते हैं जिन्हें किन्हीं कारणोंसे किसी भी लोकमें जाने या जन्म लेनेमें अनुकूल अवसरकी प्रतीक्षा करनी है। यह प्रतीक्षाकाल बहुत थोड़ा अथवा बहुत अधिक हो सकता है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है, क्योंकि इसका विस्तृत विवेचन पुनर्जन्म होता है या नहीं? कितने समयमें होता है? किस रूपमें होता है? इस शीर्षकके निबन्धमें किया गया है।

पितृलोक प्रतीक्षा लोक है, भोगलोक नहीं है। अतएव वहाँ जो प्राणी है उसके अपने कर्म वहाँ उसके लिए कोई भोग उपस्थित नहीं करते। दूसरी बात यह कि पितृलोकमें पहुँचे व्यक्तिके अतिवाहिक देहकी आकृति वैसी ही होती है जैसी पृथ्वीपर उसके स्थूल देहकी आकृति थी। आकृतिका यह साम्य उसे अपने पृथ्वीपर व्यतीत किये जीवनकी स्मृति तथा उस जीवनके स्वजनोंके प्रति एक लगाव भी देता है। अतएव पितृलोक गत पितर अपने पृथ्वीपर स्थित वंशजोंसे आशा करते हैं कि वे उन परलोक गत स्वजनोंकी तुष्टि-तृप्तिके लिए कुछ करें।

हम लोगोंके लिए यह जाननेका कोई उपाय नहीं कि हमारे कितने पूर्वज अभी पितृलोकमें अपने जन्मकी प्रतीक्षामें हैं और कितनोंने जन्म ले लिया है; क्योंकि प्रतीक्षाका समय निश्चित नहीं है। अतएव हमें सबका ही श्राद्ध करना चाहिए, यह हमारा इसलिए भी कर्तव्य है कि पितृलोकमें पितरोंकी तृप्तिके लिए उनके कर्मोंसे कोई भोग नहीं मिलते हैं और पृथ्वी-पर हमें उनके द्वारा उपार्जित सम्पत्ति प्राप्त हुई है।

यहाँ आकर यह प्रश्न होता है कि श्राद्ध पितरोंको कैसे मिलता है? यह बात समझना बहुत सरल है। यह फल उन्हें वैसे ही मिलता है, जैसे हमको यहाँ मिल सकता है। हमें दो आवश्यकता होती हैं—१. क्षुधाकी निवृत्ति और २. तुष्टि। इसमें क्षुधा स्थूल देहमें लगती है और वहीं निवृत्त होती है; किन्तु तुष्टि सर्वथा मानसिक वस्तु है। जब हम कोई पदार्थ मुखमें लेते हैं तो वह पदार्थ हमारे स्थूल देहका मिलता है और उस पदार्थको मिलनेका सन्तोष मनको होता है। जैसे आप भूखे हों और हलवा खाना चाहते हों, मैं आपको पूड़ी खिला दूँ तो आपकी भूख मिट जायगी; किन्तु हलवा खानेकी इच्छा पूरी न होनेसे आपको तृप्ति नहीं होगी। इससे क्षुधा-निवृत्ति और तृप्तिकी पृथकता सिद्ध है।

पितरोंके पास स्थूल शरीर नहीं है लेकिन उनके पास हमारे समान ही कारण शरीर तथा सूक्ष्म शरीर है। इसलिए उन्हें भूख तो नहीं लगती किन्तु अतृप्ति होती है। स्थूल पदार्थ सदा स्थूल शरीरको मिलता है, मनको तो केवल तृप्ति मिलती है। स्थूल शरीर न होनेसे पितरोंको स्थूल पदार्थ पानेकी आवश्यकता भी नहीं है; लेकिन स्थूल पदार्थ मिलनेसे होनेवाली तृप्ति उन्हें अवश्य चाहिए; क्योंकि उनके पास भी हमारे जैसा ही मन है।

यही एक प्रश्न आता है—स्थूल पदार्थ मिले बिना उससे मिलने वाली तृप्ति कैसे प्राप्त हो ? आप रसगुल्ला खाना चाहते हैं, क्या ऐसा कोई उपाय है कि रसगुल्ला खिलाये बिना आपकी इस इच्छाको तृप्त कर दिया जाय ? सामान्यतया ऐसा उपाय नहीं है; लेकिन यदि आपका कोई अत्यन्त प्रिय पुत्र हो और उसे रसगुल्ला दिया जाय तो बहुत अधिक सम्भावना है कि आपकी तृप्ति हो जाय ।

पितरो वाक्यमिच्छन्ति भावमिच्छन्ति देवयः ।

यही शास्त्र कुछ बातें बतलाता है और उनपर श्रद्धा करके ही हमारा काम चल सकता है । शास्त्र कहता है—"यह शरीर जड़ है । इसमें तुम्हारा अपनापन केवल अहंभावके कारण है । जिस देहमें तुम्हारा प्रगाढ़ 'अहं' भाव या 'मम' भाव है, उस देहको मिले स्थूल पदार्थसे तुम्हारे मनकी तृप्ति हो जाती है । वेद वाक्योंके द्वारा पितरोंके लिए जो पिण्ड उत्सर्ग होते हैं, उनमें यह मुझे दिया गया !" यह भाव पितरोंका हो जाता है । इसी प्रकार सविधि जो ब्राह्मण श्राद्धमें भोजनके लिए बैठता है—'यह मेरा प्रतीक भोजन कर रहा है ।' ऐसा भाव उसमें पितरोंका बन जाता है । इसलिए पिण्डदान तथा ब्राह्मणको भोजन करानेसे पितरोंकी तृप्ति प्राप्त होती है ।'

मेरे एक मित्रने पूछा—'श्राद्ध आश्विनके कृष्ण पक्षमें ही क्यों ?'

यह इसलिए कि पितरोंका दिन ६ महीनोंका और रात्रि ६ महीनेकी । जब सूर्य उत्तरायण हों तो उनकी रात्रि और देवताओंका दिन और जब सूर्य दक्षिणायन हों तो पितरोंका दिन और देवताओंकी रात्रि । पितरोंके दिनमें मध्याह्नके लगभग आश्विनका कृष्ण पक्ष पड़ता है, अतः यह श्राद्धपक्ष—पितरोंका भोजन काल है ।

मूर्ति-पूजा

यह श्राद्धसे सर्वथा भिन्न उपासना तत्त्व है । उपासना या सेवाका माध्यम सदा स्थूल ही होगा । कोई उपाय है आपके पास कि आप अपने पिता माता, गुरु या किसी भी सम्मानित व्यक्तिकी सेवा उसके शरीरके माध्यमको छोड़कर कर सकें ? जो भी प्रत्यक्ष सेवा आप करेंगे, वह शरीरकी सेवा होगी और शरीर जड़ है, पाञ्चभौतिक है, नश्वर है । आप यह सब बातें अवश्य जानते हैं ।

आप शरीरकी सेवा न करके मानसिक चिन्तन करेंगे अपने श्रद्धेय पुरुषका। अच्छा यह चिन्तन उसके शरीरका ही होगा या और किसीका ? लेकिन शरीर जड़ है और वे श्रद्धेय तो चेतन हैं। आप जड़का चिन्तन क्यों करते हैं ? चेतनका चिन्तन कीजिये। जड़को एक किनारे रख कर चेतनका चिन्तन करनेका कोई उपाय दीखता है आपको ? देखिये, हम शुद्ध चेतनकी केवल भावना कर सकते हैं। उसके बिना जड़को माध्यम बनाये कोई सम्पर्क नहीं स्थापित कर सकते और जड़को माध्यम बना लेनेसे चेतन जड़ नहीं हो जाया करता। हमारे आपके समस्त व्यवहारोंका माध्यम यह जड़ शरीर है; किन्तु इसीलिए हम लोग जड़ नहीं हैं।

आपके माता, पिता, गुरु या जिस किसीको भी आप सत्कृत करना चाहें उसके शरीरका सत्कार करें। यह जड़ शरीरके माध्यमसे उस शरीरमें स्थित चेतनका सत्कार है। क्योंकि प्रत्येक जीवका किसी न किसी शरीरमें अहंभाव है, अतः उसी शरीरके माध्यमसे उसका सत्कार हो सकता है। जिस शरीरमें उसकी उपस्थिति नहीं और जिस शरीरमें उसका अहंभाव नहीं, उसके सत्कारको वह अपना सत्कार नहीं मानता।

ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जिसमें ईश्वरका अहंभाव हो। इसलिए किसी भी मूर्तिके माध्यमसे ईश्वरकी पूजा हो सकती है। ईश्वरमें उस मूर्तिके प्रति अहंभाव नहीं है; किन्तु आराधककी भावना वह देख सकता है कि वह किस भावनासे पूजा कर रहा है।

ईश्वरके समान देवता सर्वव्यापी नहीं हैं; किन्तु वे सर्वत्र जा सकते हैं और आराधककी भावना देख सकते हैं। अतः मूर्तिमें देव-बुद्धि करके की हुई आराधना उसी प्रकार उनकी आराधना बन जाती है, जिस प्रकार आपके जड़ देहकी सेवाको आप अपनी सेवा मान लेते हैं।

कर्ताकी भावनाका ज्ञान हो जाय तो उस भावनाको जानने वालेपर भावनाका पूरा प्रभाव पड़ता है। इसे समझनेके लिए एक दृष्टान्त लें। एक व्यक्ति आपके सामने कह रहा है—'रामलाल, तू बड़ा मूर्ख, बड़ा नीच है।' संयोगवश आपका नाम रामलाल है। आप क्रुद्ध हो उठते हैं और उसे डाँटते हैं। वह नम्रता पूर्वक कहता है—'बाबूजी, क्षमा करें ! मेरे इस पड़ोसीका नाम रामलाल है। मैं इसे ही कह रहा हूँ।' आप चार पद आगे बढ़ कर सुनते हैं—'रामलाल ! तू अत्यन्त धूर्त है।' अब यह रामलालको दी गयी गाली आपको क्रुद्ध नहीं करती; आपको बुरा नहीं लगता। यद्यपि

अब भी आपका नाम रामलाल ही है; किन्तु आम बोलनेवालेकी भावनासे परिचित होगये हैं कि उसका उदिष्ट रामलाल और है।

मूर्तिमें ईश्वर है–उस सर्वव्यापक चेतनकी वहाँ उपस्थिति है और यदि देव मूर्ति है तो देवता उसमें हो सकनेमें समर्थ है। देवता तथा ईश्वरको ज्ञात है कि आराधक किसके लिए यह पूजा कर रहा है। बिना जड़को माध्यम बनाये चेतनकी पूजा चलेगी नहीं। अतएव मूर्तिके माध्यमसे देवता अथवा ईश्वरकी पूजा जड़-पूजा नहीं चेतन देवता या ईश्वरकी पूजा है।

किसी सजीव व्यक्तिकी पूजा तब क्यों नहीं? यह प्रश्न आप कर सकते हैं। बहुतसे सम्प्रदायोंमें गुरुको साक्षात परमेश्वर मान कर पूजा होती है लेकिन व्यक्तिमें अहंकार तथा उसके गुण-दोष भी होते हैं। अतः यहां उसका अहंकार इस पूजाको अपनी पूजा-जीव पूजा बना लेगा और उसके गुण दोष आराधकको प्रभावित करेंगे। इसलिए देव-मूर्ति ऐसी होती है, जहाँ व्यक्तित्वका कोई अहं पहिलेसे न बैठा हो।

—※—

संतोष एवं उद्योगकी सीमाएँ क्या हैं ? इसमें सामञ्जस्य कैसा होना चाहिए ?

"बिनु संतोष न काम नसाहीं।
काम तछत सुख सपनेहु नाहीं॥

—राम चरित मानस

"संतोषादुत्तम सुख लाभः।"

—योग दर्शन

ये और इस प्रकारके बहुत अधिक वाक्य अपने प्राचीन धार्मिक ग्रन्थोंमें भरे पड़े हैं। इनके पीछे केवल श्रद्धाकी बात नहीं, ठोस दार्शनिक-मनोवैज्ञानिक तर्क हैं और उन्हे आजके युगमें भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह एक ओरकी स्थिति है।

'असन्तोष चिरजीवी हो !' अकेला यह नारा दूसरी ओर होता तो एक बात थी। अभी भारतके प्रधान मन्त्रीने देशवासियोंको एक नारा दिया है आराम हराम है !' बात नारोंकी नहीं है बात इस तथ्यकी है कि आज देशको अपने नागरिकोंके प्रबल उद्योगकी आवश्यकता है। आज जो विश्वमें भौतिक उन्नतिकी दौड़ चल रही है, उसमें जो पिछड़ जायगा-मर जायगा, वही। उसे टिकनेके लिए कहीं स्थान नहीं है।

मनुष्यकी कामनाएँ कभी तृप्त नहीं हो सकतीं जितना उन्हें तृप्त करते जायँगे, वे बढ़ती जायँगी। कामना अतृप्त रहेगी, तो अशान्ति रहेगी, असन्तोष रहेगा, दुख रहेगा और कामनाओंको तृप्त करके शान्त कर देना सम्भव नहीं है। यह तो आग है जो घीकी आहुतिसे बढ़ती है। तब एक ही उपाय है शान्ति-सुख एवं निश्चिन्तता पानेका कि कामनाओंको दबा दिया जाय। उनकी पूर्तिका प्रयत्न न करके सन्तोष कर लिया जाय। इसके बिना मानसिक शान्ति नहीं मिलेगी। यह जीवनका एक शाश्वत सत्य है और इसमें कभी परिवर्तन नहीं होगा।

लेकिन युगकी आवश्यकता ? वह भी जीवनकी आवश्यकता है। कौन चाहेगा कि भारत उद्योगकी दौड़में पिछड़ जाय ? शत्रु इसे पदाक्रान्त करलें। कहां रहेगी तब भारतकी गौरवमय संस्कृति ? विश्वको सुप्रकाश वाले तत्वज्ञानको जन्म देनेवाला भारत क्या दीन, हीन, दलित रहनेके लिए है ? यह अवस्था किसे स्वीकार होगी ?

अतएव इस युगका यह अत्यन्त आवश्यक, अत्यन्त अनिवार्य प्रश्न है कि सन्तोष एवं उद्योगकी सीमाएँ क्या हैं और उनका सामंजस्य क्या है ? उनका कोई सामंजस्य अवश्य चाहिए। दोमें-से एकका बहिष्कार करके हम नहीं रह सकते। हमारे लिए दोनों जीवनकी आवश्यकताएँ हैं।

सचमुच हमारे लिए दोनों जीवनकी अवश्यकताएँ हैं। जीवन दोनोको मिलाकर ही पूर्णत्व प्राप्त करता है। आज समाजका एक छोटा वर्ग है जो संतोषको लिये बैठा है – निरुद्योग, आलसी वर्ग ! आप कोई भी उच्चतम नाम उसे दें, है यह वर्ग समाजके लिए एक रोग और इस रोगको दूर किया जाना चाहिए। रोगका स्वागत-सत्कार कभी कहीं समझदारी नहीं मानी गयी।

समाजका दूसरा वर्ग—समाजका अधिकांशभाग है असंतोषकी अग्निमें जलता, झुलसता, छटपटाता और उस ज्वालाको बुझानेके लिए

भ्रमके कारण रात-दिन उसमें लकड़ियोंका ढेर डालनेमें व्यस्त । यह उद्योगमें जुटा वर्ग है; किन्तु इसके उद्योगकी दिशा कामना ! ! और कामना तथा उसकी पूर्तिका अथक श्रम ! यह पहलीसे बड़ी बीमारी है। मुझे यह पहलीसे अधिक कष्ट साध्य ही नहीं असाध्यप्राय बीमारी लगती है।

•यह अच्छी बात रही—संतोष भी रोग और उद्योग भी रोग; किन्तु मित्र ! प्रत्येक बात विकृत होकर सीमासे बाहर जाकर, अविवेक-प्रत्युत्तार होकर रोग हो जाती है, यह आप जानते हैं। वैसे संतोष और उद्योग परस्पर विरोधी तत्व हैं यह समझना ही भ्रम है । दोनो एक दूसरेके अनूपूरक हैं और दोनो एक दूसरेको स्वस्थ, निस्कलंक एवं परिपूर्ण बनाने वाले हैं।

देखिये, भूल कहां है ? यहां कि आप दोनोको एक स्तर पर देखते हैं। पर देखते हैं । संतोष मानसिक भाव—मनकी एक अवस्था है। उसका शरीरसे कोई सम्वन्ध नहीं है आप चलते हों तो सन्तुष्ट या असन्तुष्ट ? आप बोलते हों तो सन्तुष्ट या असन्तुष्ट ? आप हाथ हिलाते हों तो सन्तुष्ट या असन्तुष्ट ? आप देखेंगे कि इस प्रकार शरीरकी किसी क्रिया अथवा चेष्टामें संतोषकी व्याख्या नहीं है। प्रत्येक क्रिया सन्तुष्ट एवं असन्तुष्ट दोनो अवस्थाओंमें हो सकती है । इसी प्रकार उद्योग शारीरिक व्यापार है। उसका सम्बन्ध मनसे कम, तनसे अधिक है। सन्तुष्ट-असन्तुष्ट दोनो ही अवस्थाओंमें उद्योग किया जा सकता है।

तनके मन्दिरमें ही मन रहता है; अतः तन-मन दोनोंका सर्वथा विभाजन सम्भव नहीं है। मन तनको प्रभावित करता रहता है और तन मनको । अतः मन या तनके कार्य एक दूसरेको प्रभावित नहीं करेंगे, यह मैं नहीं कह रहा हूँ। मैं कह यह रहा हूँ कि उन कार्योंमें यह विभाजन कर लीजिये कि कौन मुख्यतः मनका है, कौन मुख्यतः यनका है। इस विभाजनमें आपने देखा कि संतोष मनके क्षेत्रमें है।

क्षेत्र विभिन्न होनेके साथ दोनोमें शत्रुता है या मित्रता ? बड़ी सरलता-से आप यह बात वता सकते हैं किसी कार्यके करते समय आपका मन सन्तुष्ट हो तो कार्य अधिक, अच्छा, निर्दोष होगा या मन असन्तुष्ट रहे तब ? कोई उद्योग आपकी रुचिके अनुकूल चल रहा हो, आप उसमें जुट पड़े हों तब मन आपका सन्तुष्ट रहता है या कार्य ठीक न चल पारहा हो आप उसमें ठीक न लगे हों तब मनको सन्तोष होता है ? आप देखते हैं कि

सन्तोष तथा उद्योग परस्पर शत्रु नहीं हैं। ये एक दूसरेकी पूर्ति करनेवाले मित्र हैं और इनका सहयोग जीवनमें हमें पद-पद पर वाञ्छित है। इनमें-से एकको छोड़ देनेकी तो बात ही मूर्खता है।

आपको लगता है कि मैंने मूल प्रश्नको टाल दिया है। ऐसा नहीं है। मैं दोनोकी निश्चित सीमा कहां है, यही स्पष्ट करने जारहा हूँ उनका सामञ्जस्य तो अपने आप स्पष्ट हो जायगा। दोनोकी निश्चत सीमाको जान लेना ही गीताका निष्काम कर्मयोग अथवा अनासक्तियोग है। गीतामें यह कर्मयोगके पूर्ण रूपको सूचित करने वाली चतु: सूत्री है—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषुकदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्भू मा ते संगा ऽत्व कर्मणि॥"

२।४७

१—कर्म करनेमें हो तुम्हारा अधिकार है। २—फलमें (तुम्हारा अधिकार) कभी नहीं है। ६—कर्मफलके कारण मत बनो। ४—अकर्ममें तुम्हारी आसक्ति न हो।

गीतोक्त कर्मयोगके इन चार सूत्रोंमें-से पहला और चौथा सूत्र उद्योगकी दिशा निर्धारित करता है और दूसरा तथा सीमा सूचित करके सन्तोषकी सींमा भी सूचित कर देता है।

फलमें मनुष्यका अधिकार नहीं है। अतएव ऐन्द्रियक भोगोंकी उपब्धिके लिए पागल मत बनो। अपने उद्योगकी योजनाएँ वासना-प्रेरित मनसे मत बनाओ। अपने आपको आसुरी भावोंसे आक्रान्त मत होने दो कि वह सोचने लगे —

इदमद्य मया लब्धमिमंप्राप्स्ये मनोरथम्।

गीता १६।१३

प्रारब्धसे संयोगसे परिस्थितिसे जो भोग प्राप्त हैं उनमें मनको सन्तुष्ट रखो। मनको लालायित मत होने दो। साथ ही उद्योगसे जो फल प्राप्त होता है, उसे केवल अपने कर्मका फल मानकर हर्ष-शोकमें मत पड़ो। वह प्रारब्ध तथा अनेक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंका परिणाम है। अत: उस फलका अपनेको कारण मत बनाओ। यह तुम्हारे सन्तोषकी सीमा है। मन अपनी प्राप्त परिस्थितिमें सन्तुष्ट होना चाहिए। कोई भी परिणाम आवे उसे शान्त सह लेनेमें सक्षम होना चाहिए।

जब हम अपनी परिस्थितिमें सन्तुष्ट हैं, कुछ पाना नहीं कोई लालसा नहीं कोई अतृप्ति नहीं, तो उद्योग क्यों करें ? मूर्ख है जो यह प्रश्न करता है। ठीक उद्योग तो इसी अवस्थासे प्रारम्भ होता है; क्योंकि कर्त्तव्यका ज्ञान तो चित्तकी इसी अवस्थामें होता है। जो असन्तुष्ट है, कामनासे व्याकुल है, वह कर्त्तव्याकर्त्तव्य क्या जाने ? वह अपने हितके लिए भी सोचनेका ठीक अवकाश कहाँ भाता ? उसका उद्योग तो प्रायः अस्तव्यस्त उसके हितके प्रति भी पूर्ण सावधानीके अभावमें ही चलता है।

कामना न होना, प्राप्त स्थितिमें सन्तुष्ट रहना क्या अर्थ रखता है—यह भी स्पष्ट समझ लीजिये। सन्तोषका अर्थ है अपने अहंसे सम्बन्धित स्वार्थकी पूर्तिके प्रति सन्तुष्ट रहना। इसका यह अर्थ नहीं है कि दूसरोंके अभाव,क्लेश एवं विपत्तिकी स्थितिके प्रति आप सन्तुष्ट हैं और उसके सम्बन्धमें आपका कोई कर्त्तव्य ही नहीं है। जगत जैसा भी चलता है—ठीक है। यह संतोषका अर्थ करना अनर्थ करना ही कहा जायगा।

कर्म करनेमें आपका अधिकार है और अकर्ममें—निरुद्योग पड़े रहनेमें आपकी आसक्ति नहीं होनी चाहिए। यह अतिन्म चौथा सूत्र संतोष-की सीमा दिखा देता है कि कहां संतोषको रुक जाना है। उद्योग नहीं करेंगे,कर्म करनेमें रुचि नहीं लगें यह अकर्मकी आसक्ति संतोष नहीं है। यह तो आलस्य पतन है। इसलिए इस पतनसे दूर रहना है इसको छोड़कर ही जीवन-दिशा निर्धारित करनी है।

अकर्ममें आसक्ति नहीं करनी है और कर्म करनेमें अपना अधिकार भी है तो कर्म करना है—उद्योगकी सीमाएँ है; किन्तु उद्योगकी सामने रखकर लगना है। वे सीमाएँ हैं—फलमें अधिकार नहीं है। अर्थात् अमुक परिणाम होना चाहिए इस आग्रहको त्याग कर उद्योग करना है। उद्योग इसलिए करना है कि वह कर्त्तव्य है। वह करणीयके रूपमें सम्मुख उपस्थित है। प्रयत्न करने पर अनुकूल परिणाम हो गया तो हर्षमें फूलनेकी आवश्यकता नहीं। परिस्थिति अनुकूल थी, परिणाम ठीक हुआ; किन्तु कर्त्तव्यका पथ अनन्त है। उसमें विश्राम नहीं है। कही उद्योग विफल हुआ, निराश होने की आवश्यकता नहीं। मनुष्य वह जो हारना न जाने। हम परिस्थतिको अनुकूल बनाके रहेंगे।

निष्काम कर्म, फलासक्ति रहित उद्योग—यह उद्योगकी सीमा है। ऐसा उद्योग अपने आपमेंनिर्दोष, पूर्ण एवं सब ओरसे सुरक्षित होता है।

व्यवहारिक दृष्टिसे भी फलाशा-पूर्ण उद्योगकी अपेक्षा कर्त्तव्यभाव-प्रेरित-उद्योग त्रुटिहीन, अधिक उत्पादक एवं दूसरोंको कम उद्वेजित करने वाला तथा अधिक शान्ति-सन्तोष देने वाला होता है।

सबसे बड़ी बात यह कि असन्तोष-प्रेरित उद्योग विश्वमें पथ-भ्रष्ट होकर जो संघर्ष, अशान्ति तथा अनेक अनर्थोंकी सृष्टि करता है, वे सब दोष इस कर्त्तव्यक-प्रेरित-उद्योगमें नहीं होते। इससे प्रतियोगितामें आनेवाले भी सन्तुष्ट तथा स्नेहशील बने रहते हैं। क्योंकि जब आप स्वार्थ-प्रेरित न होकर केवल कर्तव्य-प्रेरित प्रयत्न करते हैं तब वह प्रयत्न जिनके स्वार्थको चोट पहुँचाता है, वे भी अपेक्षाकृत कम उत्तेजित होते हैं और शीघ्र ही आपके प्रति उनमें सम्मानका भाव उदय होता है जो उनकी अपनी हानिको सह्य बना देता है।

इसी प्रकार कर्तव्य प्रेरित उद्योग आपके मानसिक सन्तोषको भी बराबर पुष्ट ही करता जाता है। यह एक ऐसा सन्तोष है जो आपको सुखी शान्त बनाये रखनेके साथ उद्यमकी प्रेरणा देता है। यही सच्चा सन्तोष है और यही सन्तोष हमें अभीष्ट होना चाहिए।

— ✿ —

क्या दृश्यमान जगतके मूलमें चेतन तत्वका होना आवश्यक है ?

आवश्यक और अनावश्यककी एक बात एक ओर रखकर आप पहले विश्वके मूलमें है क्या, इस सम्बन्धमें शोध करने वाले विश्वके प्रतिष्ठित भौतिक विज्ञानके पण्डितोंकी बात सुन लीजिये।

"मीठा और कड़वा, ठण्डा और गर्म तथा विभिन्न रङ्ग–ये सब चीजें हमारे विचारोंमें ही है। यथार्थतः इनका अस्तित्व नहीं है। वस्तुतः अस्तित्व है अपरिवर्तनीय कणोंका, परमाणुओंका और शून्य दिक्में उनकी गतिका।"

यह बात यूनानी दार्शनिक डेमोक्रेटिसने आजसे २३ शताब्दी पहिले कही थी; किन्तु खण्डित होनेके स्थानमें विज्ञानसे इस मान्यतामें बराबर संशोधन प्राप्त हुआ और संशोधनोंका वह क्रम कम आकर्षक नहीं है।

"मैं यह प्रमाणित कर सकता हूँ कि न केवल प्रकाश, रंग, ताप और इस प्रकारकी अन्य चीजें; बल्कि गति, आकार और विस्तार भी वस्तुके ऊपरी गुण हैं।"

यह मत किसी दार्शनिकका नहीं, महान् जर्मन गणितज्ञ लिबनिजका है। इससे आगे बढ़कर पदार्थवादका घोर विरोधी वर्कले कहता है—

"स्वर्गकी मोदमयता और संसारकी सभी सामग्रियाँ--एक शब्दमें वे सभी तत्व जिनसे इस संसारका ढाँचा निर्मित हुआ है—मानसको छोड़ देनेके वाद कोई तथ्य नहीं रखते। जब तक हम उन्हें इन्द्रियोंसे ग्रहण नहीं करते या जब तक वे हमारे अथवा किसी अन्य प्राणीके मानसमें अपना अस्तित्व नहीं रखते, तब तक उनका या तो एक दम अस्तित्व ही नहीं होता, या फिर वे किसी सनातन शक्तिके मानससे अपना अस्तित्व रखते हैं।"

अव इस युगके सर्वमान्य सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक श्रेष्ठ है डा० आइन्स्टीन और वे कहते हैं--

"दिक्-काल भी केवल अन्तर्ज्ञानके रूप हैं। इनको रंग, रूप एवं आकारकी धारणाओंकी भाँति चेतनासे विलग नहीं किया जा सकता।"

इस प्रकार भौतिक विज्ञानका चरम विश्लेषण पदार्थोके रंग, रूप, आकारको ही नहीं, उनके अणुओंको, उनकी सत्ताको और दिक् तथा कालको जिसमें कि उनकी सत्ता है, चेतनसे भिन्न नहीं मानता और यहाँ भौतिक विज्ञान लगभग अद्वैत वेदान्तकी ही बात कुछ भिन्न शब्दोंमें अपनी सर्वथा भिन्न प्रक्रियाके आधारपर कहता है।

"गेंद फुटबालके बराबर स्पुतनिक अथवा उपग्रह आकाशमें फेंक देनेके लिए लोग किसी देश तथा उसके वैज्ञानिकोंके बुद्धि कौशलकी प्रशंसा करते नहीं थकते हैं और उन्हीं लोगोंको आकाशमें ये जो असंख्य अरबों टनके स्पुतनिक करोड़ों वर्षसे उड़ रहे हैं, उनकी उड़ानेवाली बुद्धि अनावश्यक दीखती है—यह कैसी बुद्धिमत्ता है।"

मेरे एक मित्र यह बात प्रायः व्यंग पूर्वक कह दिया करते हैं। आप उनके व्यंगको अस्वीकार करदे सकते हैं; किन्तु जगत-संचालनके मूलमें

जो एक अदभुत बात है—अनिश्चयात्मकता भरी निश्चयात्मकता, उसका कोई हेतु नहीं दे सकते, यदि जगतके मूलमें कोई चेतन शक्ति नहीं है।

सम्भवतः मुझे अपनी बात समझा देनेके लिए अधिक स्पष्ट करना चाहिए। न्यूटनने जड़वादकी प्रतिष्ठाको सबसे अधिक महानता प्रदान की। 'ब्रह्माण्ड यन्त्रवत् चलता है और उसके सब नियम सुनिश्चित हैं।' यह मान्यता भौतिक विज्ञानके क्षेत्रमें आजसे लगभग ५० वर्ष पहिले तक अकाट्य थी। यह अकाट्य बनी रहती तो जगतके मूलमें चेतन तत्त्व है, यह कहना सर्वथा असंगत होता; किन्तु अब स्वयं भौतिक-विज्ञानने ही इस मान्यताके धुर्रे उड़ा दिये हैं।

"विज्ञान इस बातकी व्याख्या कर सकता है कि कोई बात कैसे होती है—यह निश्चयात्मकता लगभग २० वर्ष पहले धूमिल पड़ने लगी और अब यह प्रश्न आ उपस्थित हुआ है कि क्या वास्तवमें आजका वैज्ञानिक यथार्थता'से तनिक भी सम्पर्क स्थापित कर सका है या करनेकी आशा कर सकता है।" —लिंकन बारनेट।

आजके भौतिक-विज्ञानने स्वीकार कर लिया है कि वैज्ञानिक-सिद्धान्तोंका आधार केवल संख्या बाहुल्यपर निर्भर संयोग मात्र है। जैसे विश्वकी समस्त बीमा कम्पनियाँ बीमा कराने वालोंकी अनिश्चित मृत्युका एक औसत मान कर चलती हैं। यह औसत इसलिए ठीक है कि सहस्रों लोग बीमा कराते हैं। लेकिन यदि किसी कम्पनीमें दस-बीस लोग ही बीमा करायें तो क्या मृत्युके औसतका नियम ठीक निकलेगा? यही दशा आज सभी क्षेत्रोंमें वैज्ञानिक-सिद्धान्तोंकी है। यूरेनियमके अणुओंके विस्फुटित होनेका ठीक समय क्या है? किसीको कुछ पता नहीं है; किन्तु अणु अरबों हैं, अतः उनमें-से लगभग आधे कितने वर्षमें विस्फुटित हो जायँगे, यह विज्ञानके गणितसे निश्चित हो जाता है। लेकिन कौनसे अणुमें कब स्फोट होगा, यह कुछ पता नहीं है। यहाँ तक कि एक परमाणुमें न्यष्टि (प्रोटान) के चारों ओर घूमने वाले विद्युत अणु (इलेक्ट्रान) किस नियमसे घूमते हैं, कब उनमें-से कोई उलटी ओर घूमने लगेगा, यह भी विज्ञानको पता नहीं है।

आप इन सूक्ष्म बातोंको छोड़ दें और बड़ी बातोंको लें तो विज्ञान नहीं बता सकता कि एक पिताका रंग, रूप, नेत्र एवं बालोंकी आकृति उसकी सन्तान परम्परामें कितनी पीढ़ी तक छिपी रहेगी और कब प्रकट

होगी। अनेक बार पुत्र ही यह सब बातें आजाती हैं और अनेक बार कई पीढ़ी बाद वे प्रकट होती हैं।

इससे भी मोटी बात—कोई नहीं बता सकता कि किस गर्भकी सन्तानके हाथ अथवा पैरमें छः अंगुलियाँ होंगी। यहाँ मेरे एक परिचित व्यक्ति हैं उनके शरीरमें हृदय बायें भागमें न होकर वृक्षके दाहिने भागमें है और यकृत तथा आमाशय बायें भागमें हैं। ऐसा क्यों हुआ ? इसका कोई उत्तर नहीं है विज्ञानके पास।

जड़का-यन्त्रका एक नियम है कि वह समान रूपसे चलता है। समान उत्पादन करता है। उसमें अन्तर तभी आता है जब कोई परिस्थिति यन्त्रको प्रभावित करदे; किन्तु प्रभावित होनेके पश्चात् यन्त्र पुनः उस प्रभावित ढङ्गसे, किन्तु समान काम करने लगता है। एक सांचेमें ढली मूर्तियाँ एक-सी होंगी। एक करघेपर बुने वस्त्र यदि सूत समान है तो एक जैसे होंगे। क्या यह एकरूपता आपको सृष्टिमें दिखायी पड़ती है ?

एक माता-पिताकी समान परिस्थतियोंमें उत्पन्न एवं पालित सन्तानोंकी बात तो दूर, एक गर्भसे उत्पन्न दो यमज बालकोंके भी अँगूठेकी छापमें अन्तर होता है। यह अन्तर क्यों आया ? क्यों सबके अंगुलियोंकी छाप भिन्न-भिन्न है ? क्यों सब आकृतियोंमें भेद है ?

चेतनका एक नियम है। उसकी चेष्टाओंमें भिन्नता समन्वित एकरूपता होती है—जड़के समान निश्चित एकरूपता नहीं होती। जैसे आप लाख प्रयत्न करलें; किन्तु जो अक्षर आपने लिखा या जो रेखा आपने खींची, सर्वथा वैसा ही अक्षर या वैसी ही रेखा दुबारा आप नहीं बना सकते; किन्तु लाखों व्यक्तियोंके अक्षरोंमें-से आपके हस्ताक्षर पृथक किये जा सकते हैं; क्योंकि आपके अक्षरोंमें एक विशेष एकरूपता भी सर्वत्र मिलती रहेगी।

यन्त्रकी भाँति चेतन सदा एक-सा कार्य नहीं करता। उसके कार्यमें बहुधा भिन्नता, त्रुटि अथवा विपरीतता पायी जाती है जो उसके चेतन होने—स्वतन्त्र इच्छा रखनेका प्रमाण है और जगतके नियमोंकी एकरूपतामें यह विपरीतता इतनी अधिक मिलती है कि उसके प्रमाण आप कहीं भी अपने आसपास ढूँढ़ ले सकते हैं।

× × ×

जगतके मूलमें चेतन तत्वका होना इसलिए भी आवश्यक है कि जगतमें चेतना प्रत्यक्ष है और जड़से चेतनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

किसी भी पदार्थमें जो तत्व सर्वथा नहीं है, उस तत्वकी उत्पत्ति उस तत्वसे अथवा उस प्रकारके तत्वोंके मिश्रणसे भी नहीं हो सकती। जैसे जिन पदार्थोंमें किसी भी रूपमें चीनी नहीं है, वैसे दस-बीस पदार्थोंके मेलसे भी आप चीनी नहीं बना सकते जड़ पदार्थ चैतन्यसे सर्वथा विरुद्ध धर्मा हैं, अतः उनसे अथवा उनके किसी भी संयोगसे चेतनकी उत्पत्ति होना सम्भव नहीं है।

भाषा और विचार ये जड़के धर्म हैं, यह बात सिद्ध करना विज्ञानके लिए अब तक सम्भव नहीं हुआ और आगे भी सम्भव होगा, ऐसी आशा अत्यधिक साहसी वैज्ञानिक भी नहीं करते। ये चेतनके कार्य हैं और जब जड़ चेतनके कार्य नहीं कर सकता, जगतके मूलमें चेतन तत्त्वका होना आवश्यक ही है।

इधर बीस-पच्चीस वर्षोंमें विज्ञानने जितनी प्रगति की है, सर्वसाधारण समाज उस प्रगतिके ज्ञानसे उतना ही दूर रहा है। फल यह हुआ है कि वर्तमान विज्ञानकी उपलब्धि समाजके लिए इन्द्रजाल बन गयी है और विज्ञानसे भिन्न क्षेत्रोंके विद्वान अपनी धारणाएं उन वैज्ञानिक मान्यताओं-पर स्थापित करते हैं जो विज्ञानके क्षेत्रमें खण्डित एवं भ्रमपूर्ण घोषित हो चुकी हैं। यही अवस्था जड़वादकी है। आज विज्ञान यन्त्रवत जड़-जगतकी मान्यतासे ऊपर उड़ चुका है और अपनेको ऐसे स्थानमें पाता है जहाँ संख्या बाहुल्यके कारण अपना काम चलानेको नियम तो वह बना लेता है; किन्तु यथार्थकी छाया भी उसे नहीं मिलती और यही चेतनाका स्वरूप है; क्योंकि चेतन जड़के समान स्थिर नियन्त्रित नहीं है। उसमें एक स्वतन्त्रता है जो अज्ञात रहेगी। जगतके मूलमें चेतनका होना इस कारण भी अनिवार्य है कि प्रकृतिमें अनिश्चय ही सर्वत्र उपलब्ध है।

———

वर्तमान उद्योग-प्रधान युगमें जन-पूजनादिमें लगनेके स्थानपर लोक-सेवामें लगना क्या ईश्वर-भक्तिका उत्तम मार्ग नहीं है ?

मुझसे अनेक वार यह प्रश्न पूछा गया है। दूसरोंने भी पूछा है और मेरे मनने भी पूछा है। इस युगका यह ज्वलन्त प्रश्न है और इसका उत्तर दिये बिना समाजका काम चले ऐसी स्थिति नहीं है।

मुझे लगता है कि इस प्रश्नके पीछे दो बातें हैं—एक तो भजन-पूजनके नामपर पलने वाले आलस्य-प्रमादकी प्रतिक्रिया और दूसरे धर्म तथा ईश्वरके प्रति आस्थाका अभाव।

यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि धर्मके नामपर दम्भ एवं आलस्यको इस समय हमने वहुत बड़ा प्रश्रय दे रक्खा है। अनेक अवांछ-नीय तत्त्व इस 'भजन'की आड़में पल रहे हैं। जो बुराई है, वह बुराई रहेगी। किसी भी उच्चतम अच्छाईका नाम एवं वेश दे देने मात्रसे वह अच्छाई नहीं बन जायगी। उस बुराईको अवश्य दूर होना चाहिए—कड़ाईसे दूर कर दिया जाना चाहिए। क्योंकि जव बुराई अच्छाईके नाम तथा वेशके पीछे छिपी होती है, तो वह बहुत घातक होती है।

साथ ही हमें यह सावधानी रखनी ही है कि बुराई दूर करनेकी अपनी धुनमें हम अच्छाइयोंका नाश नहीं कर दें। क्योंकि अच्छाइयोंके नाशसे तो बुराईको बल ही मिलेगा। एक सिद्धान्त, एक परम्परा यदि उत्तम है, लाभदायक है और आवश्यक है तो हमें उसे इसलिए नष्ट नहीं कर सकते कि उसका वहुत अधिक दुरुपयोग होता है। हमें उस दुरुपयोगको रोकना है। हम चाकू बनानेके कारखाने इसलिए बन्द नहीं कर दे सकते कि बच्चे उनसे हाथकी उँगलीमें चोट लगा लेते या घरके आवश्यक कागज फाड़ डालते हैं।

धर्म तथा उपासना न आलस्यका समर्थक है और न दोषोंका। दोष तथा आलस्यके यही सबसे वड़े शत्रु हैं, किन्तु यह समाजका दुर्भाग्य है

कि आज यही आलस्य तथा बहुतसे दोषोंके आश्रय बन गये हैं। इस सत्यको स्वीकार करके हमें इस आयी हुई विकृतिको दूर करनेका उपाय पूरी दृढ़तासे करना ही चाहिए।

आलसी न भक्त है, न धर्मात्मा। वह तो किसी अत्याचारी, अधर्मीसे भी गया बीता प्राणी है। तमोगुणके अन्धकारमें डूबते हुए प्राणी-पर क्रोध तो क्या आवेगा, दया आनी चाहिए और मेरी मान्यता है कि दयाका अर्थ आलसीके आलस्यका पोषण सर्वथा नहीं है। वह कठोरतम उपाय भी दया ही होगा, जो उसके आलस्यको घटा सकता हो।

लेकिन ठहरिये! कंकड़ फेंक देनेके उद्योगमें यदि आप हीरे भी फेंक देना चाहते हों तो आपको इसकी अनुमति नहीं दी जासकती। आपमें सबसे पहिले कंकड़ और हीरेमें भेद करनेका विवेक होना चाहिए। जो कर्म करता न दीखे, वह आलसी—यह परिभाषा वैसी ही है, जैसे जो कठोर लगे हाथको, वह कंकड़। ऐसी परिभाषा नहीं की जानी चाहिए। नैष्कर्म्य आलस्य नहीं है। इसी प्रकार जप, कीर्तन, ध्यान, पूजन, पाठ भी आलस्य नहीं हैं।

कर्मका निर्णय करते समय आपको गुणोंपर ध्यान रखना होगा। गुण तीन हैं—सत्व, रज और तम इनमें सत्व श्रेष्ठ है तथा तम निष्कृष्ट है। सत्व गुण हमारा लक्ष्य है प्राप्य है; क्योंकि सत्वगुणमें ही सुख है, आनन्द है, शान्ति है तथा ज्ञानका प्रकाश है। हम जीवनमें और समाजमें यही करना चाहते हैं। इसमें आपको कहीं कोई आपत्ति नहीं है। इसी प्रकार तमोगुण हमारा त्याज्य है; क्योंकि तमस्में अज्ञान है, प्रमाद है, मोह है, मृत्यु है और इनकी इच्छा हम न जीवनमें करते हैं; न समाजमें।

क्रिया सत्वगुणमें भी नहीं है तमोगुणमें भी नहीं है; किन्तु एक ज्योतिर्मय हैं जो हमारा लक्ष्य है, जहाँ हमें पहुंचाना है और दूसरा घोर अन्धकार है, जहाँसे हमें यथासम्भव शीघ्र जितना बन सके, उतनी दूर हट जाना है। यह जीवन एवं समाजका लक्ष्य है, इसपर दृष्टिको स्थिर बनाये रख कर आप जो भी निर्णय करेंगे, वह प्रायः भ्रान्तिहीन होगा।

सत्व और तमके मध्य रजोगुण है। यह क्रियाशील—क्रिया रूप है चंचल है। इसकी क्रिया तमकी ओर भी ले जाती है और सत्वकी ओर भी। स्वयं यह श्रम, गति, उद्योग ही है। यह अपने आपमें कोई लक्ष्य नहीं है; क्योंकि कार्य करना ही कोई लक्ष्य नहीं होता। कार्यका एक उद्देश्य होता

है। यदि आपने विचार पूर्वक जीवनका लक्ष्य बनाया है तो आप मानेंगे कि जो क्रिया तमोगुणके विपरीत दिशामें जितना अधिक ले जा सके, वह उतनी अभीष्ट होनी चाहिए। क्रियाके निर्णयकी यही उचित और सच्ची कसौटी है।

झूठ, हिंसा, चोरी, अनाचार—ये तमोगुण प्रधान क्रिया हैं। ये अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले जानेके बदले प्रकाशसे अन्धकारकी ओर ले जाती हैं, इसीसे हम इन्हें पाप कहते हैं। ये परित्याज्य हैं; क्योंकि हमारी प्रार्थना है—

तमसो मा ज्योतिर्गमय ! मृत्योर्मा अमृतं गमय।

अब जो क्रिया हमें सत्वगुणके अत्यन्त निकट लाती है, हमें सत्व-गुणमें पहुँचाकर स्थिर करती है, वह सर्वश्रेष्ठ सबसे अधिक अभीष्ट, 'सबसे अधिक महत्व देने योग्य होनी चाहिए या नहीं ? इस प्रश्नके दो उत्तर नहीं हो सकते। इसके उत्तरसे कतरानेका अर्थ होगा कि आप कर्मका अन्धानु-करण करना चाहते हैं, उसके उद्देश्यके सम्बन्धमें विचार करनेका साहस ही आपमें नहीं है।

ध्यान, जप, पूजन, पाठ. कीर्तन, आत्मचिन्तन—ये क्या करते हैं ? क्या आपको यह लगता है कि ये आपको तमोगुणकी ओर ले जाते है ? ऐसा तो आप कह नहीं सकते। ये रजोगुणकी क्रियाशीलताको मन्द मन्दतर करते जाते हैं और आपको सत्वगुणमें पहुंचाते हैं। यह तथ्य आपको है तो आपको यह भी स्वीकार होना चाहिए कि जीवन तथा समाजका जो लक्ष्य आपने अभी माना है, उसे प्राप्त करानेवाले ये सर्वोत्तम साधन हैं और इसीलिए ये सबसे, समस्त कर्मोंसे श्रेष्ठ हैं।

वर्तमान युग उद्योग प्रधान है, यह बात ठीक है; किन्तु उद्योगका भी तो कुछ उद्देश्य है ? यदि उद्योगका उद्देश्य मात्र वस्तुओंकी ढेरी लगा देना है तो व्यर्थ है यह उद्देश्य; क्योंकि मनुष्यको अन्तः वस्तुओंकी राशि नहीं चाहिए; उसे चाहिए ज्ञान, सुख और शान्ति। वस्तु भी वह सुखके लिए ही चाहता है। लेकिन यह ज्ञान, सुख और शान्ति उसे पदार्थोंसे मिलती है नहीं। इन्हें तो उसे अपने भीतर ही पाना पड़ेगा। जो साधन उसे यह उपलब्धि प्रदान करे, सर्वोपरि महत्व उन्हें दिये बिना दूसरा महत्व उन्हें दिये बिना दूसरा मार्ग नहीं है।

तब सब लोग जप, पूजन, ध्यानमें ही लग जाँय ? बन्द कर दिये जाँय कल कारखाने ? किसान क्यों खेतोंमें अपने रक्तको पसीना बनावें ? आपका यह जप, ध्यान सबको रोटी कपड़ा दे लेगा ?

यह प्रश्न झुँझलाहट भरा है। मैं भी झुँझलाहटके स्वरमें उत्तर देना चाहूँ तो मेरा उत्तर है—'निश्चय बन्द कर दीजिये ! यदि आप सबको भजन-ध्यानमें लगा सके तो कल नहीं, आज और अभी लगा दीजिये। रोटी-कपड़ेकी वात व्यर्थ है। मैं ईश्वरमें विश्वास करने वाला हूँ और मानता हूँ कि जो द्रोपदीकी छः गजकी साड़ी अनन्त कर दे सकता है, उसे आकाशसे अन्न तथा वस्त्रकी वर्षा कर देनेमें कोई परिश्रम नहीं होना है।

आप यह असम्भव कहने जा रहे हैं; किन्तु आपने स्वयं जो स्थिति उत्पन्न करनेकी बात की है, वह असम्भव है। कल कारखाने तथा खेती बन्द की जा सकती है या बन्द करा दी जा सकती है, यह मैं मानता हूँ; किन्तु सबको तो दूर दो-चार व्यक्तियोंको भी आप रुचि उत्पन्न हुए बिना भजन-ध्यानमें नहीं लगा सकते। होगा यह कि वे सोयेंगे, ताश खेलेंगे, झगड़ेंगे या और कोई प्रमादका कार्य करेंगे। भजन-ध्यान उनसे नहीं होगा; हो ही नहीं सकता।

मैं काल्पनिक बात नहीं कह रहा हूँ। पूज्य श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी महाराजने सन् १९३३ में झूसी (प्रयाग) में एक वर्षका एक अखण्ड संकीर्तन-यज्ञ किया था। उसमें सम्मिलित होनेवाले साधकोंको ६३ माला, 'हरे राम' महामन्त्रका प्रतिदिन जप करना पड़ता था चार घण्टे प्रति दिन कीर्तन करना पड़ता था और मौन रहनेका उनके लिए नियम था। उन्हें दूध, शाक तथा फलके भोजनपर छः महीने रहना था। झूसीके चार-पाँच भिखारी प्रयोग करनेकी दृष्टिसे भर्ती कर लिये गये। उनके पास ठीक चिथड़े भी नहीं थे और भरपेट सड़ा-गला अन्न भी उन्हें कदाचित ही कभी मिलता रहा हो। उन्हें वस्त्र दिया जाय। जितना भी चाहें उतना दूध, फल शाक तथा फलाहारी मिठाई उन्हें प्रति दिन दी जाय, यह व्यवस्था हो गयी। लेकिन उनमें एक भी पूरे सप्ताह नहीं टिका। दो तीन दिनमें ही वे चुपचाप भाग गये।

बात यह है कि आलसीके लिए क्रियाशील होना जितना कठिन है, कर्मठ रजोगुणीके लिए सत्वगुणमें स्थिर हो जाना उससे अधिक ही कठिन है। फिर कोई आलसी-तमोगुणमें, भजन-ध्यानमें लग सकेगा यह आशा तो

स्वप्नमें भी नहीं की जानी चाहिए। भजन-ध्यान तो समाजके चुने, छटे उत्कृष्टतम पुरुषोंका कार्य है और इसलिए भारतीय समाजने इस ओर लगे लोगोंको समाजमें सर्वश्रेष्ठ सम्मानित स्थान प्रदान किया।

आज जो बड़ी भारी विकृति भजन-धनके नामपर लगे लोगोंके समुदायमें है उसका कारण ही यह है कि जिनसे घरपर काम नहीं हो सका, जो श्रमसे भागनेवाले हैं, ऐसे लोग बड़ी संख्यामें भजनानन्दीका वेश बना कर एकत्र होगये। भजन तो इनसे होता नहीं, श्रम इन्होंने त्याग दिया। फल यह हुआ कि आलस्य, प्रमाद तथा अनेक बुराइयोंके ये प्रचारक-प्रसारक हो गये। ऐसे लोगोंके प्रति समाजको कठोर ही होना चाहिए। जो जन नहीं कर सकते, उन्हें श्रम अथवा लोक-सेवाके किसी न किसी काममें बलात नियोजित करना उचित ही नहीं, आवश्यक माना जाना चाहिए।

अब साथ ही लोक-सेवाका स्वरूप भी समझ लेने योग्य है। सड़क बनाना, बाँध बनाना, चिकित्सा करना अथवा अनाथ बालकों, नारियोंकी शिक्षा-रक्षाकी व्यवस्था करना, अशिक्षितोंको शिक्षा देना, राजनैतिक संस्थाओं एवं सुधारक संस्थाओंके मञ्चोंसे व्याख्यान देना, लोक-सेवाके कार्य आप मानते हैं; लेकिन लोगोंको सच्चरित्र, सत्य-सदाचारका पालन करने वाला बननेकी प्रेरणा देना क्या आप लोक-सेवाका कार्य नहीं मानते ? इससे आगे बढ़ कर जो भजन-ध्यानके सचमुच अधिकारी हैं, उन्हें मार्ग दर्शन देना समाजमें सात्विकताकी बुद्धिका प्रयास करना क्या लोक-सेवाके कार्य नहीं है ? मेरे भाई ! यह भी लोक-सेवाके ही कार्य हैं और शायद अधिक श्रेष्ठ कार्य हैं।

एक सात्विक पुरुष बिना हिले, विना एक शब्द बोले अच्छेसे अच्छे लोक नेतासे अधिक लोक-सेवा करता है। क्योंकि उसके चित्तकी शान्ति एवं उसकी सात्विकता समाजमें शान्ति एवं सात्विकताका वातावरण उत्पन्न करतो है और अज्ञातरूपसे पूरे समाजके मानसको सात्विकताकी ओर बराबर प्रेरित करती रहती है।

———

अभावोंके इस युगमें यज्ञों तथा मन्दिरोंमें उपयोगी सामग्री नष्ट करना क्या उचित है ?

यह प्रश्न पूछा तो जाता ही है। जितनी उत्तेजना-पूर्वक-पूछा जाता है—उतनी ही उत्तेजना-पूर्वक दूसरा पक्ष उसे तिरस्कृत कर देता है। फलतः समाधान तो होता नहीं, विरोध बढ़ता है। मैं जानता हूँ कि अनेक स्थानोंपर बड़े धार्मिक समारोहोंके अवसरपर कुछ लोग नोटिस बाँटते हैं और विपरीत प्रचार करते हैं। ऐसे अवसरोंपर समझदारी कम होती है, उत्तेजना अधिक।

उपयोगिताकी बात तो पीछे करनी है, पहिले सामाजिक न्यायकी बात कर लेनी है। उन देशोंकी बात मैं नहीं करता, जहाँ व्यक्ति-स्वातन्त्र्यका कुछ अर्थ नहीं है। मैं भारतकी बात कर रहा हूँ, जहाँ व्यक्तिको उपार्जन करने और उस उपार्जनको इच्छानुसार व्यय करनेकी पूरी स्वतत्रयंता मानी जाती है। केवल उसके उपार्जनकी रीति वैधानिक होनी चाहिए और उपार्जनका व्यय विधानके द्वारा निश्चित किसी नियमके विपरीत नहीं होना चाहिए।

अब उपयोगिताकी बात तो छोड़ दीजिये; किन्तु सामाजिक एवं प्रशासनके विधानकी सीमामें रहते व्यक्तिको अपनी रुचिकी तुष्टि अथवा अपने मनकी प्रसन्नता प्राप्तिके लिए अपना धन व्यय करनेका अधिकार होना चाहिए या नहीं ? निश्चय आप इसका उत्तर 'होना चाहिए' कहकर देंगे। अब मान लीजिये कि एक व्यक्तिको अपने वेतनके रुपयोंका नोट जला देनेमें आनन्द आता है। वह ऐसा करनेको स्वतन्त्र है कि नहीं ? उसका विरोध करनेका कोई अधिकार है आपको ?

आप उस व्यक्तिको पागल या मूर्ख कहना चाहेंगे। लेकिन ताश, गन्दे सिनेमा तथा इसी प्रकार दूसरे ऐसे अन्य मनोरंजनके साधन जिनसे कोई भौतिक या नैतिक लाभ नहीं, नोट फूँकनेवाले व्यक्तिके कार्यकी ही कोटिमें आते हैं या नहीं ? उससे बुरी कोटिमें आते हैं। क्योंकि इन मनोरंजनोंसे चारित्रिक हानि होती है, जब कि केवल नोटमें अग्नि लगा देना

किसी दूसरेके लिए किसी प्रकार हानिकर नहीं और जलानेवालेकी भी आर्थिक हानि छोड़कर दूसरी कोई हानि नहीं होती।

आप ताशोंका विक्रय बन्द करा दे सकेंगे ? नैतिकताका पतन कराने वाले सिनेमा-चित्रोंके विरुद्ध तो बहुत लोगोंने आवाज उठायी; सफलता मिली उन्हें ? इन मनोरंजनके साधनोंमें जितना धन नष्ट होता है, उसका कोई अनुमान है आपको ? इनसे केवल उस व्यक्तिकी ही हानि नहीं होती, जो मनोरंजन करने जाता है—पूरे समाजपर इनका व्यापक हानिकर प्रभाव पड़ रहा है। इन्हींकी श्रेणीमें आप बहुत-सी 'पार्टियों'को तथा स्वास्थ्यके लिए हानिकर खोमचोंके पदार्थों तथा कुछ विशेष बिस्कुट आदिको भी रख सकते हैं और देखते हैं कि यह आहारोपयोगी पदार्थोंका नाशमात्र ही नहीं है, समाजमें अस्वास्थ्यका वितरण भी है।

अब आप यज्ञ, मूर्ति-पूजा, तीर्थ-जलमें चढ़े दूध आदिको ले लीजिये। किसीसे छीनकर, किसीको लूट कर, किसीका गला दबाकर तो ये कार्य किये-कराये नहीं जाते ? जिनमें रुचि है, वे करते हैं और सहयोग देते हैं। उनकी व्यक्तिगत सम्पत्तिका यह व्यय अवैधानिक तो है नहीं। इससे आपकी या औरोंकी हानि नहीं होती। ऐसी अवस्थामें यही क्यों आपके सिर उपयोगिताका भूत चढ़ता है ? यही दूसरेको अपने ढंगसे अपना आनन्दोल्लास प्राप्त करनेमें बाधा-विरोध खड़ा करनेका कुतर्क क्यों आप पसन्द करते हैं ?

यज्ञ, मूर्ति-पूजा, तीर्थमें जो पदार्थ या धन नष्ट होता आपको जान पड़ता है, वह कितना है ? मैंने जो आपके प्रिय मनोरंजन गिनाये हैं, उनमें नष्ट होने वाले धनके दशांशसे वह अधिक है या कम ? एक बात और—आपको दूसरा कुछ न दीखे तो स्थूल भौतिक प्रभाव तो दीखते ही हैं। यज्ञसे वायु मण्डलमें कुछ सुगन्धि फैलती है। वातावरण कुछ स्वास्थ्यप्रद बनता है। मन्दिरमें चढ़ा इत्र पुष्प तो सुगन्धि देता ही है, धूप भी जलती है। नैवेद्यका प्रसाद तो मनुष्योंके काम ही आता है। दूध जलके मैलको पृथक करके नीचे बैठा देता है, यह आपको पता न हो तो किसी हलवाईसे पूछ देखें कि चीनीकी चाशनीका मैल दूध कैसे काटता है। किसी चर्मरोग-विशेषज्ञसे पूछें तो वह बता-देगा कि दूध मिला जल स्नानके लिए सबसे उपयुक्त चर्मरोग नाशक है। इस प्रकार आप देखते हैं कि यज्ञादिसे हानि तो कुछ नहीं, कुछ न कुछ समाजका भौतिक लाभ ही हुआ।

शुद्ध मनोरंजनकी दृष्टिसे ही आप विचार करें—सिनेमा देखनेकी अपेक्षा यज्ञमें चन्दा देकर उसमें सम्मिलित होना उत्तम एवं लाभप्रद है या

नहीं ? मैं जानता हूँ कि आपके लिए उत्तर देना अभी ही कठिन हो रहा है; क्योंकि आप स्पष्ट देखते हैं कि मनोरंजनके लिए अपने उपार्जनका व्यय करनेका सबको अधिकार है। मनोरंजनको आप व्यर्थ कह नहीं सकते, क्योंकि समाजशास्त्री इसे मनुष्यकी एक अनिवार्य आवश्यकता मानते हैं। सस्ते और हानिकर मनोरंजनकी अपेक्षा एक सात्विक तथा स्वस्थ, सुरक्षित वातावरण प्रसारित करनेवाला मनोरंजन अच्छा नहीं है, यह भी आप कैसे कह सकते हैं ?

मनोरंजनके स्तरपर ही देखें - यज्ञ, मूर्ति-पूजा, तीर्थ-सेवा आदिसे व्यक्तिको सात्विकता मिलती है न ? उसे स्वयं और पूरे समाजको सात्विक प्रेरणा प्राप्त होती है न इससे ? यदि ऐसा है तो यह केवल मनोरंजन ही कहाँ रहा ? यह पवित्र रहने—सेवाभाव धारण, त्याग, विनय, सादगी प्रभृति अनेक गुणोंके प्रचारका सामाजिक साधन हो गया या नहीं ? ऐसी अवस्थामें तो यह 'सदाचार निर्माण' का एक प्रबल साधन सिद्ध होगया और आप उसमें श्रम तथा पदार्थका अपव्यय बताते हैं ?

बहुत ध्यान देनेकी बात है कि अब तक बात यज्ञ, पूजन, तीर्थ-सेवादिको मनोरंजन मानकर की गयी है। बहुत ओछे स्तरपर की गयी है। इस स्तरपर उसके जो भी लाभ हैं, अत्यन्त गौण हैं। यद्यपि वे लाभ ही इतने कम नहीं हैं कि इन कार्योंका विरोध किया जाय। उन लाभोंके लिए ही इनका समर्थन और प्रचार किया जाना चाहिए; क्योंकि हानिकर मनो-रंजनोंका प्रभाव ये अवश्य दूर कर दे सकते हैं।

जो लोग यज्ञमें भाग लेते हैं, मूर्ति-पूजा करते हैं, तीर्थमें दूध चढ़ाते हैं, वे इन कार्योंको मनोरञ्जन मानकर नहीं करते। इन्हें मनोरंजन कहना तो उनकी भावनाका बहुत बड़ा अपमान करना है। वे इन्हें बड़ी श्रद्धासे हृदयकी गम्भीर भावनासे करते हैं। अपने तथा पूरे विश्वके कल्याणके लिए करते हैं। इस प्रकार कल्याण होता है, इसमें उनकी दृढ़ श्रद्धा है।

आप दूसरी कोई अलक्ष्य शक्ति न भी मानते हों, तो भी मनकी शक्ति ऐसी प्रत्यक्ष शक्ति है कि उसे अस्वीकार कर देना तथ्यको अस्वीकार करना कहा जायगा। व्यक्तिकी सच्ची भावना, दृढ़ इच्छा व्यक्त जगतमें अनुकूल परिणाम उत्पन्न कर लेती है, ऐसी बात मनोवैज्ञानिक मानते हैं। व्यक्तिकी सद्भावना व्यर्थ नहीं होती, यह तथ्य है। आप यह कह सकते हैं कि यज्ञ, पूजनादि करनेवालोंमें ऐसी दृढ़ श्रद्धा होती, किन्तु श्रद्धा तो होती ही है।

जितनी भी श्रद्धा, सद्भावना होती है, उसके अनुसार प्रभाव तो होता ही है। भले हम उस प्रभावको अनुभव न करें।

आजके वैज्ञानिक जगतमें भी सामूहिक प्रार्थनाके प्रभावको महत्व दिया जाता है। युद्ध-कालकी संकट पूर्ण घड़ियोंमें कई राष्ट्रोंने सम्पूर्ण नागरिकोंसे राष्ट्रका संकट दूर करनेके लिए प्रार्थना करनेकी अपील की थी। राष्ट्र-पिता बापूका तो प्रार्थनामें अटूट विश्वास था। प्रार्थनाके समान ही यज्ञ, पूजनादि भी सद्भावना-निर्माणके माध्यम हैं—अधिक सबल माध्यम हैं। अतः उनके द्वारा सद्भावनाकी अभिव्यक्तिसे जो प्रभाव उत्पन्न होता है, उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

'वर्तमान उद्योग प्रधान युगमें जप-पूजनादिमें लगनेके स्थानपर लोक-सेवामें लगाना क्या ईश्वर-भक्तिका उत्तम मार्ग नहीं है?' इस प्रश्न-का विवेचन साथ जा रहा है। उसमें विस्तार पूर्वक समझाया गया है कि मनुष्यका अभीष्ट कर्म बहुल होना या सामग्रियोंकी राशि उत्पन्न कर देना नहीं है। मनुष्य चाहता सुख-शान्ति है। इसके लिए उसे तमोगुणका परि-त्याग करना है, रजोगुणका आश्रय इस रूपमें लेना है कि वह उसे सत्त्वगुण-की ओर ले जाय। सत्त्वगुणमें प्रतिष्ठित होना मनुष्यका श्रेष्ठतम कर्तव्य है। यज्ञ, पूजन तीर्थ-सेवादि सत्वोन्मुख क्रिया हैं। ये व्यक्ति तथा समाजमें सात्विकताकी वृद्धि करती हैं। इसलिए ये सबसे आवश्यक एवं सबसे महत्त्वपूर्ण कर्म हैं समाजके लिए।

मान्यता एक वस्तु है और तथ्य दूसरी वस्तु। आप ईश्वरमें, देव-शक्तिमें विश्वास नहीं रखते, यह एक भिन्न बात है; किन्तु ये तथ्य हैं। कमसे कम आपको यह तो स्वीकार करना ही चाहिए कि आपको अपने विश्वासके अनुसार व्यवहार करनेकी स्वतन्त्रता जिस सीमा तक है, उस सीमा तक दूसरेको भी अपने विश्वासके अनुसार व्यवहार करनेकी स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

देवताओंकी सत्ता है, तीर्थमें भावना है, मूर्तिपूजा ईश्वरकी आराधना-का सुगमतम मार्ग है। इन तथ्योंपर विभिन्न निबन्धोंमें विचार किया गया है। सभी सूक्ष्म तत्त्व मनुष्यकी इन्द्रियों, यन्त्रों तथा उनके अनुगामी तर्कके द्वारा जाने नहीं जा सकते। जहाँ इन्द्रियकी गति नहीं, वहाँ हमें श्रद्धा करनी पड़ती है। यह श्रद्धा शास्त्रपर तथा महापुरुषोंपर की जाती हैं। शास्त्र तथा महापुरुष इन देवादि शक्तियों तथा इनकी उपासना प्रणालीका समर्थन करते हैं।

जहाँ तक प्रत्यक्ष प्रभावकी बात है, यज्ञसे वर्षा होने, महामारी निवारण तथा अन्य कई प्रकारके अभीष्ट पूर्ण होनेके चमत्कार देखे गये हैं। सर्वत्र ऐसा नहीं होता; क्योंकि सर्वत्र विधि सम्पूर्ण नहीं हो पाती अथवा श्रद्धा सुदृढ़ नहीं होती। लेकिन अपनी त्रुटियोंके कारण प्रभावका न होना यज्ञके महत्वको तो कम करता नहीं। प्रत्यक्ष लाभ न भी हो तो भी उसका व्यापक प्रभाव अपरोक्ष रूपसे वातावरणपर पड़ता ही है। देवताओंकी संतुष्टिसे मानव-स्वास्थ्य एवं पृथ्वीके उत्पादन सम्बन्धित पदार्थोंमें वृद्धि और दैवकोपसे अकाल, महामारी तथा हानिप्रद कीटाणुओं, मूषकादि प्राणियों-की वृद्धि होती है, यह एक तथ्य है। इस तथ्यमें जो लोग विश्वास करते हैं वे सच्ची भावनासे विश्व-हितके लिए अपने विश्वासके अनुसार प्रयत्न करते हैं। आप उनके विश्वाससे असहमत हो सकते हैं, किन्तु उनका कार्य अनेक प्रकारसे समाजके लिए हितकर है, उससे हानि कोई नहीं है, यह बात तो आपको भी स्वीकार करनी पड़ेगी।

मूर्ति-पूजा तथा तीर्थ-सेवाके चमत्कार कम नहीं हैं। श्रीसाक्षीगोपाल-की मूर्ति वृन्दावनसे पैदल चलकर उत्कल प्रदेशमें पहुँची, यह प्रसिद्ध कथा है। अनेक महापुरुषोंने मूर्तिमें भगवद्दर्शन प्राप्त किया है। अनेक घटनाएँ हैं जिनमें मूर्तिने मनुष्यके समान कार्य किया है। इसी प्रकार गंगा, यमुना, नर्मदा आदि नदियों अथवा गिरिराज गोवर्धन जैसे पवित्र स्थानोंकी श्रद्धा पूर्वक सेवासे अनेकानेक लोगोंसे जीवनमें अनेक-अनेक चमत्कार हुए हैं।

केवल तर्कके द्वारा यह श्रद्धागम्य तथ्य समझमें नहीं आसकता। लेकिन तार्किकके लिए भी इनके द्वारा होने वाले लाभ इतने कम नहीं हैं कि दिखायी न पड़ सकें। वह समझना चाहे तो विरोध करनेका अविवेक उससे कभी नहीं होगा।

———

यान्त्रिकता एवं आधुनिक विज्ञान आस्तिकताके विरोधी हैं या समर्थक ?

यान्त्रिकता और आधुनिक विज्ञान पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। दोनों सर्वथा दो भिन्न तत्त्व हैं। आधुनिक विज्ञान प्रकृतिके कुछ गूढ़ रहस्योंको प्रकट करने वाले सिद्धान्त हैं और यान्त्रिकता उन सिद्धान्तोंका एक उपयोग है। किसी भी सिद्धान्तके भले-बुरे सैकड़ों उपयोग हो सकते हैं। इसलिए कोई उपयोग उस सिद्धान्तको न अपनेमें आवद्ध करता और न उसे भला या बुरा ही सिद्ध करता है।

यान्त्रिकता भी दो प्रकारकी है। एक तो विज्ञानकी अङ्गभूत है। वह विज्ञानकी शोधमें प्रयुक्त तथा उसके लिए अनिवार्य है। उसका स्वतंत्र कोई अस्तितत्व नहीं है। दूसरी यान्त्रिकता है मनुष्यकी उपभोग सामग्री एवं सुख-सुविधाकी अभिवृद्धिमें आयगी अथवा महाविनाशको उद्यत। इन द्विविध यान्त्रिकतापर भी पृथक विचार होना चाहिए।

अब प्रश्नका त्रिविध रूप होगया। मनुष्यकी सुख-सुविधाकी वृद्धिमें लगी यान्त्रिकता आस्तिकताकी विरोधी है या उसका समर्थन करने वाली है ?

२–महायुद्धकी आयोजनामें लगी यान्त्रिकताका आस्तिकतासे कैसा सम्बन्ध है ?

३–आधुनिक विज्ञान आस्तिकताका विरोधी है या समर्थक है ?

मैं इन तीनों प्रश्नोंमें-से सबसे पहिले दूसरे प्रश्नका उत्तर सबसे सीधा स्पष्ट है और उस उत्तरको आप जानते भी हैं। वह उत्तर यह कि विनाशकी प्रस्तुति करने वाली यान्त्रिकता आसुरी है। वह आस्तिकताकी सर्वथा ही विरोधिनी है।

'असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥"

—गीता १६-१४

यह भाव इस यान्त्रिकतामें इतना स्पष्ट है कि उसकी ओर इंगित करनेकी भी आवश्यकता नहीं है।

हिंसा आस्तिकताका विरोधी भाव है, यह आप जानते हैं। अतः यह जानना कठिन नहीं है कि अकल्पनीय महाविनाशके उद्योगमें लगी यान्त्रिकता आस्तिकताकी विरोधी है। यह आस्तिकताकी सर्वथा उपेक्षा करके ही पनपती है।

अब पहले प्रश्नको लीजिए। महाविनाशकी तैयारी तो यान्त्रिकता-का—विज्ञानका दुरुपयोग है। यह बात आज कहते सभी हैं। भले उनके कार्य अपने कथनके सर्वथा विपरीत हो रहे हों और हृदयमें वे कुछ और मानते हों; किन्तु सभी स्वीकार करते हैं कि विज्ञानका एकमात्र उपयोग मनुष्यकी सुख-सुविधा तथा ज्ञानकी वृद्धिके लिए होना चाहिए।

यान्त्रिकताके इस रूपके सम्बन्धमें दो दृष्टिकोण हैं। एक आधुनिक विद्वानोंका दृष्टिकोण और दूसरा प्राचीन महर्षियोंका दृष्टिकोण यह है कि बड़े यन्त्रोंके उपयोगमें जीव-हिंसा बहुत होती है। इस हिंसासे उनका उपयोग करते हुए बचा नहीं जा सकता। आप मोटर तो दूर साइकिलपर भी चलेंगे तो बहुत-सी चींटियाँ कुचलेंगी। आये दिन ट्रकोंके नीचे कुचले कुत्ते सड़कोंपर आपको दीखते हैं। मनुस्मृतिने इसीलिए महायन्त्र बनानेका निषेध किया है।

एक कथा आती है। खाण्डवदाहके पश्चात् असुर-शिल्पी दानवेन्द्र मय अर्जुनकी कृपासे बच गए थे। प्राण दानके इस उपकारके बदले उन्होंने अर्जुनसे कहा—आप मुझसे वे विद्याएँ और अस्त्र-शस्त्र ले लीजिये, जो मनुष्योंको प्राप्त नहीं हैं। ये विद्याएँ आपको अजेय बना देंगी।'

अर्जुनने उत्तर दिया—'दानवेन्द्र; आपकी कृपाका आभार; किन्तु विद्याएँ और अस्त्र-शस्त्र आपके पास ही रहें। हम आर्य ऐसा कोई अस्त्र या यन्त्र स्वीकार नहीं करते, जिसका प्रयोग करनेपर अनियन्त्रित हिंसा हिंसा हो। प्रयोक्ता जिन्हें मारना नहीं चाहता वे भी मर सकते हों, ऐसे किसी अस्त्रको मैं स्वीकार नहीं कर सकता।'

लेकिन महायन्त्र आस्तिकताके विरोधी हैं, यह बात कभी किसीने नहीं कही है। दानवेन्द्र मय परम शैव माने जाते हैं। पुराणोंमें जिन दैत्य, दानव, राक्षसादिके नाम आते हैं, वे प्रायः सभी आस्तिक ही थे। इसलिए

महायन्त्रोंके प्रति प्राचीन दृष्टिकोण निषेधात्मक होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह उन्हें आस्तिकताका विरोधी मानता है।

आधुनिक विद्वानोंके दार्शनिक मतोंकी विवेचना छोड़ दें तो यान्त्रिकताको वे आस्तिकताका विरोधी नहीं बतलाते। इसके बदले यान्त्रिकता आस्तिकताकी समर्थक है, यह बात कही जा सकती है; क्योंकि यान्त्रिकताने मनुष्यको अपनी दैनिक आवश्यकताओंकी पूर्तिमें एक बड़ी सीमा तक निश्चित करके अवकाश दिया है कि वह उसके सम्बन्धमें भी सोचे जो प्रकृतिमें इतने रहस्य निहित करने वाला है। अब मनुष्य अपने असन्तोषके कारण स्वयंको अत्यधिक व्यग्र-व्यस्त करता जाय, यह यान्त्रिकताका दोष नहीं कहा जाना चाहिए।

सच्ची बात यह है कि यान्त्रिकताका क्षेत्र आस्तिकता नहीं है। वह यहाँ तटस्थ है। उसका कार्य है मनुष्यकी सुख-सुविधा बढ़ाना तथा मनुष्यकी इच्छा पूर्तिके साधन जुटाना। अब यह आपपर निर्भर है कि आप उन साधनोंको क्या उपयोगमें करेंगे। यान्त्रिकता ही है जिसने घर-घरमें रामायण, शास्त्र, पुराण उपलब्ध करा दिये। तीर्थयात्रा सरल करदी। कथा-उपदेश सुनने सुगम बनाये। यह तो आप जानें कि रेडियोका स्विच खोलकर आप सिनेमाके गीत सुनेंगें या सूर, तुलसी, मीराके भजन। इसमें यान्त्रिकताको दोष देना व्यर्थ है। वह साधन है—सिद्धान्त नहीं है और साधन किसीका समर्थक या विरोधी नहीं होता। वह तो उपयोक्ताकी इच्छा-पर निर्भर है।

आधुनिक भौतिक विज्ञान आस्तिकताका विरोधी है या समर्थक। यह प्रश्न निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है। यही प्रश्न आजसे २५-३० वर्ष पहिले पूछा गया होता तो कहना पड़ता कि विज्ञान आस्तिकताका विरोधी है? जन सामान्य तथा विज्ञानकी इधर चौथाई शताब्दीकी प्रगतिसे अपरिचित लोगोंकी विज्ञानके सम्बन्धमें यही धारणा है; किन्तु यह धारणा अज्ञान मूलक है।

'ब्रह्माण्ड एक यन्त्रके समान है। उसमें सुनिश्चित कार्य-कारण सम्बन्ध है। हम उनके नियम जान जकते हैं और निश्चित भविष्यवाणी कर सकते हैं।' न्यूटनके समयसे लेकर आजसे लगभग २५-३० वर्ष पूर्व तक वैज्ञानिकोंकी यही मान्यता थी और इस मान्यतामें ईश्वरके लिए कोई स्थान नहीं था। जड़-प्रकृति और उसके नियम ही सर्वोपरि थे; किन्तु अब तो वैज्ञानिकोंने इस धारणाको गहरा दफना दिया है। वे कहते हैं–'हमारा

ज्ञान, हमारा नियम-निर्धारण, हमारी भविष्यवाणियाँ तभी तक ठीक हैं, जब तक हम एक बहुत बड़ी संख्या—अरबों परमाणुओंको लेकर कार्य करते हैं। यह संख्या जितनी घटती जायगी, परिणाम उतने अनिश्चित होते जाएँगे। वस्तु तथ्य—एक परमाणुमें स्थित कणोंके ठीक अध्ययनका कोई उपाय नहीं। उसे कभी जाना नहीं जा सकेगा। हमारे नियम तो मात्र सांयोगिक नियम हैं।'

आधुनिक विज्ञानके इस युगके सबसे बड़े विश्वमान्य विद्वान् डा० अल्बर्ट आइन्स्टीन इस प्रमात्रा-भौतिक विज्ञानसे ऊब कर कहते हैं—'मुझे आशा है, यह गणना प्रणाली एक अस्थायी उपकरण सिद्ध होगी; क्योंकि मैं यह विश्वास नहीं कर सकता कि ईश्वर संसारके साथ दाव खेलता है।'

डा० अल्वर्ट आइन्स्टीनको पूर्ण विश्वास है कि ईश्वर है और वही विश्वका व्यापक है। वर्तमान आधुनिक विज्ञानने प्रकृतिके जो गूढ़-रहस्य प्रकट किये हैं, उनसे आस्तिकताका अत्यन्त दृढ़ समर्थन हुआ है।

उदाहरणके लिए आप नक्षत्र जगतको लें। हमने, आपने यह पढ़ा है धार्मिक ग्रन्थोंमें कि विराट स्वरूप भगवानके रोम-रोममें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड हैं। आधुनिक विज्ञानने इस सूत्रकी व्याख्या करदी है। आकाशीय निरीक्षण एवं गणितसे ज्ञात होगया है कि हमारा सूर्य आकाशमें दीख पड़ने वाली देवयानी नीहारिका मंडल (आकाशमें रातको जो आपको देवताओं-की सड़क दीखती है) उसका एक नक्षत्रमात्र (तारा) है। इस नीहारिका मण्डलमें ऐसे अरबों तारे (सूर्य) हैं और उनकी परस्पर दूरी क्या है, इसका आप केवल इससे अनुमान लगावें कि हमारे सूर्यको छोड़कर दूसरा जो हमसे सबसे निकटका सूर्य है उसका नाम वैज्ञानिकोंने आर्कटरस रखा है और वह हमसे ३८ प्रकाश वर्ष अर्थात् ६ महाशंख मील दूर है। फिर यह नीहारिका मंडल अकेला नहीं है। विश्वकी सबसे बड़ी दूरबीनसे एकके ऊपर एक २२ नीहारिका मंडल देखे जा चुके हैं और वे आगे कितने हैं—कहा नहीं जा सकता। इस प्रकार विज्ञानने अनन्त कोटि ब्रह्माण्डकी बात पुष्ट करदी।

परमाणुके भीतर अपार शक्ति और पूरे सौरमण्डलके समान ग्रहोप-ग्रहोंकी उपस्थिति भी विज्ञानने बतायी। इस प्रकार आधुनिक भौतिक विज्ञानने मनुष्यसे कहा—'मानव! तेरे ज्ञानकी सीमाएं भी अत्यल्प हैं—अभी तो तू उस क्षुद्र सीमासे भी बहुत दूर है।' एक सर्वव्यापक चेतन सत्ता-का विज्ञानसे संकेत ही मिला है, खण्डन तो सर्वथा नहीं हुआ। ●

ज्योतिष और सामुद्रिक शास्त्र क्या सत्य हैं ? सत्य हैं तो मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र कैसे है ?

किसी प्रत्यक्ष बातको अस्वीकार करना धृष्टता ही होती है। अत: ज्योतिष तथा सामुद्रिक शास्त्रकी सत्यता अस्वीकार करना धृष्टता कही जायगी; क्योंकि ये प्रत्यक्ष शास्त्र हैं। मैं जानता हूँ कि जब आप इस प्रकार प्रश्न करते हैं तो आपका तात्पर्य फलित ज्योतिषसे होता है लेकिन ज्योतिष गणित हो या फलित, प्रत्यक्ष शास्त्र। फलित भी ग्रहनक्षत्रोंकी गणितसे ही सम्बन्धित है और ग्रह-नक्षत्र आकाशमें स्पष्ट है। साथ ही जो फल यह गणित बतलाता है, वह जीवनमें प्रत्यक्ष होता है। अतएव किसी ग्रन्थ विशेषमें लिखा है, इसलिए मान लेनेका प्रश्न ही नहीं उठता।

ज्योतिष वेदाङ्ग माना गया है और उसमें भी इसे नेत्र कहते हैं। हमारे समस्त धार्मिक कृत्य विशेष मास विशेष तिथिनक्षत्रमें सम्पन्न होते हैं। ज्योतिषको छोड़ देनेपर धार्मिक कृत्योंके काल निर्णयका कोई आधार ही नहीं रहेगा। कुम्भ, एकादशी, शिवरात्रि, वारुणी आदि सबका निर्णय ज्योतिष ही करता है और गर्भाधानसे लेकर मरणपर्यन्त समस्त संस्कारोंका समय-निर्णय भी ज्योतिषके आधारपर होता है।

इन निर्णयोंका आधार फलित ज्योतिष है; क्योंकि गणित तो केवल तिथि, नक्षत्र तथा योग बता देगा। वह समय शुभ है या अशुभ, उसमें कौनसे कार्य होने चाहिए और कौनसे नहीं होने चाहिए, यह सब फलित ज्योतिष ही बतलावेगा। इस प्रकार हिन्दू जीवनमें फलित ज्योतिष इतना व्याप्त है कि उसका महत्व अस्वीकार किया ही नहीं जा सकता।

सामुद्रिक भी फलित ज्योतिषका ही अङ्ग है। यह ज्योतिषसे इतना अभिन्न है कि दोनोंको पृथक करना शक्य नहीं। आप चाहे जैसे अविश्वासी हों, जब एक सामुद्रिक शास्त्रका ज्ञान कहता है—'प्रकृतिने तुम्हारी जन्म कुण्डली तुम्हारे मस्तकपर, हाथपर और पैरोंके तलवोंपर भी लिख रखी है। मैं इनमें से किसी एकके द्वारा उसे पढ़ सकता हूँ।' तब आपके पास विश्वास करनेके अतिरिक्त और क्या मार्ग रह जाता है। ललाट देखकर

जन्मतिथि, नक्षत्रादि बता देनेवाले एक ज्योतिषी मेरे एक विश्वसनीय परिचितको मिले हैं। हाथ देखकर कुण्डली बना देने वालेको मैंने देखा है। सुना यह भी है कि आपका कोई अङ्ग देखे बिना, आपकी छाया देखकर भी कुण्डली बना दी जा सकती है। ऐसा करने वाले हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

यह सम्भव है कि कुण्डली बनानेमें या उसका फल बतलानेमें भूल रह जाय। यही बात हाथ देखने वालोंके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है; किन्तु यह तो मनुष्यके ज्ञान तथा सावधानीकी अपूर्णता है। इसके कारण नियमकी सत्यतामें बाधा नहीं पड़ती। अनेक बार अमेरिकन राकेट प्रयोग कालमें असफल हुए; किन्तु यह यन्त्र-निर्माणकी त्रुटि थी, यन्त्र-निर्माणके सिद्धान्तमें कोई त्रुटि नहीं थी।

फलित ज्योतिष अथवा सामुद्रिक शास्त्र सत्य हैं। लेकिन सत्यतासे आपकी कर्म स्वतन्त्रतापर कोई प्रभाव पड़ता है, ऐसा मैं नहीं मानता। क्योंकि जब भी आप मानेंगे कि मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र नहीं है, तभी उसे विधि-निषेधका विधान करनेवाले शास्त्र तो व्यर्थ हो ही जायँगे, स्वयं ज्योतिष और सामुद्रिक शास्त्र भी व्यर्थ हो जाएँगे। यह इसलिए कि जो होना ही है—अपरिवर्तनीय है, उसे जानने न जाननेसे लाभ ? अतः ज्योतिष या सामुद्रिककी गति कहाँ तक है, कैसी है, यह समझना चाहिए।

एक किसानने खेत जोता, खाद दी और उसमें बीज बो दिये। फसल उग आयी। अब कृषि-विशेषज्ञ उस खेतमें आता है। वह अपने यन्त्रोंसे ठीक निरीक्षण करके बतला दे सकता है कि कौनसे पौधे रोगी हैं और मर जाएँगे। किस पौधेमें कम और किसमें अधिक दाने आवेंगे। लेकिन यदि कृषि-विशेषज्ञका कार्य यहीं समाप्त हो जाय और उसकी भविष्यवाणी अपरिवर्तनीय हो तो फिर क्या आवश्यकता कृषि-विशेषज्ञकी ? सच पूछिये तो उसका वास्तविक कार्य इस भविष्य वाणीके बाद आरम्भ होता है। वह बतलावेगा कि रोगी पौधोंमें इतने उखाड़ देने चाहिए, जिससे उनका रोग दूसरोंमें न लगे। शेष रोगी पौधोंपर अमुक दवा डालनी चाहिए। खेतमें अमुक खाद देकर अमुक समय सिंचाई, निराई या गोड़ना चाहिए जिससे कम बीज देनेवाले पौधे भी अधिक बीज दें।

हमारा जीवन भी एक खेत है। इसमें बीज पड़ चुका है। उस बीजका नाम ही प्रारब्ध है। हमने पिछले जन्मोंमें जो कुछ किया था, वह

हमारे कर्मोंका सञ्चित भण्डार है। उसमें-से कर्म-नियन्ताने एक भाग पृथक करके एक क्षेत्रमें बो दिया। क्षेत्र या खेत है शरीर। यह ऐसा खेत है जो स्वयं उन कर्मोंसे ही बना है, जो इसमें बोये गये हैं। वे प्रारब्ध कर्म रूपी बीज कैसे हैं; कब उनमें अंकुर आवेगा और वह क्या फल देगा, यही बात फलित ज्योतिष अथवा सामुद्रिक शास्त्र बतलाते हैं। आप सृष्टि कर्ताके इस अद्भुत विधानको तो देखिये कि वह आपको ऐसे समय जन्म देता है, जब आकाशमें ग्रह-नक्षत्रोंके मानचित्र द्वारा आपका पूरा प्रारब्ध लिखा होता है। यह बात केवल उस समय आकाशमें ही अंकित होती, आपके ललाटपर, हाथोंपर, पादतलपर तथा आपकी आकृतिकी बनावटमें भी पूरे व्यवस्थित रूपमें अंकित होती है।

ज्योतिष अथवा सामुद्रिक शास्त्र कृषि-विशेषज्ञके समान तो प्रारब्धके बीजोंको देख नहीं सकते; क्योंकि वे बीज तो अभी मिट्टीमें दबे हैं; किन्तु वे सृष्टि कर्ताने जो गगनमें या देहमें लिख रहा है, उस संकेत लिपिको पढ़ सकते हैं। इस संकेत लिपिको पढ़कर ही उनका काम समाप्त नहीं हो जाता। वे बहुतसे उपाय बतलाते हैं। स्वयं मनुष्य भी अनेक प्रकारके उपाय कर ले सकता है।

उदाहरण अच्छा होगा यहाँ। मेरे एक ज्योतिषी मित्रने बतलाया कि उनके पुत्रकी कुण्डलीमें बच्चेके आठवें वर्षमें तीसरे महीने किसी व्यक्ति द्वारा आघात करके अंग-भंग कर दिये जानेका योग था। भविष्यकी इस सूचनाने उन्हें सावधान कर दिया। बच्चेके एक हाथमें ६ अंगुलियाँ थी। जब बच्चा निश्चित आयुमें पहुँचा, पिताने अस्पतालमें जाकर उसकी छठवीं अंगुली कटवा दी। इस प्रकार कोई अनपेक्षित दुर्घटना बचा ली गयी।

प्रारब्धका अर्थ यहाँ समझ लेने योग्य हैं। प्रारब्ध कोई हौवा नहीं है। वह आपके ही पूर्वजन्मके कर्मोंका एक अंश है जो इस जन्ममें फल देने-की अवस्थामें है। इस प्रारब्धके अनुसार—'जात्यायुर्भोगः' जाति, आयु और भोग निश्चित होते हैं। अर्थात् आप किस देश, जाति, कुलमें जन्म लेंगे, यह प्रारब्ध निश्चित करता है। प्राप्त शरीर कितने दिन रहेगा और उसमें क्या-क्या सुख-दुःख हानि-लाभ, यश-अयश, हर्ष-शोक कब-कब मिलेगा, यह भी प्रारब्ध निर्धारित करता है। इन भागोंको प्राप्त करने योग्य स्वभाव, रुचि तथा शारीरिक मानसिक योग्यता भी प्रारब्ध प्रदान करता है।

यह सब ऐसा ही है जैसे इस जन्मके बहुतसे कर्मोंने आपको एक अभ्यास, एक रुचि दी और शरीरके स्वास्थ्यकी एक अवस्था बना दी। एक पुराने अफीमचीको दिनमें कब अफीमकी 'तलब' होगी, उस समय कैसी होगी, अफीम न मिलनेपर कैसी मन तथा तनकी दशा होगी, यह सब अभ्यासको जानकर आप पहिलेसे बता दे सकते हैं। अफीमची एक बड़ी—बहुत बड़ी सीमा तक अपने इस अभ्यासके परतन्त्र है। उसका अभ्यास उसे नियन्त्रित किये हुए है; किन्तु क्या सैद्धान्तिक दृष्टिसे सचमुच वह अभ्यास-परतन्त्र है ? ऐसा कोई भी नहीं मान सकता। दृढ़ निश्चय करले तो वह सहसा भी अफीम छोड़ दे सकता है और धीरे-धीरे अथवा औषधियोंका सहारा लेकर तो सरलतासे छोड़ दे सकता है। वह अभ्यास-परतन्त्र होते हुए भी स्वतन्त्र है।

अफीमचीकी अभ्यास परतन्त्रताके समान—कुछ वैसी ही है प्रारब्ध परतन्त्रता। दृढ़ निश्चय तथा शास्त्र-निर्दिष्ट कर्मानुष्ठानसे प्रारब्ध निश्चित मृत्यु भी टाली जा सकती है। वैसे सामान्यतया प्रारब्धमें परिवर्तनकी एक सीमा होती है। वह सीमा भंग न की जा सके, ऐसी कोई बात नहीं, किन्तु वह हैं असाधारण उद्योग एवं मनोबलकी स्वास्थ्यके नियमोंका पालन करे व्यायाम करे तो सशक्त हो जायगा लेकिन उसके शरीरके ढाँचेको देखते जितनी शक्ति आसकती है, उतनी ही आवेगी। विश्वविख्यात पहलवान बननेके लिए तो उसे असाधारण उद्योग करना पड़ेगा।

सामान्यत: प्रारब्ध आपके जीवनका एक ढाँचा प्रस्तुत करता है। उस मूल ढाँचे—रेखाचित्रमें उसने रंग भर रखे हैं और जीवनका एक चित्र बना दिया है। इस चित्रके ढाँचे-मूल रेखाओंमें भी परिवर्तन सम्भव है, लोगोंने किया है, किन्तु वह असाधारण उद्योग एवं मनोबलकी बात है। साधारण ढङ्गसे, साधारण प्रयत्न द्वारा चित्रमें भरे रङ्गोंमें परिवर्तन किया जा सकता है। वे रंग जितने गहरे होंगे, उन्हें हटाकर दूसरा रंग भरनेके लिए उसी अनुपातमें प्रबल एवं व्यवस्थित प्रयत्नकी आवश्यकता होगी।

फलित ज्योतिष तथा सामुद्रिक शास्त्र मनुष्यके स्वातन्त्र्यको न तो निषेध करते हैं।न उन्हें हतोत्साह ही करते हें। ये मनुष्यके कर्म स्वातन्त्र्यको उचित दिशा तथा प्रोत्साहन देनेवाले शास्त्र हैं। इनके द्वारा प्रारब्धने जो रेखाचित्र बना रखा है, वह सामने आजाता है। हमको यह जाननेका

अवसर मिलता है कि हमारे जीवनका आगामी मूल ढाँचा क्या है। कहाँ हमें अपने श्रम तथा साधनोंकी शक्ति लगानेसे बचना चाहिए और उन्हें किस दिशामें कब लगाना चाहिए। साथ ही ऐसे कितने रंग उस चित्रमें भरे हैं, जिनमें हम कुछको थोड़ा और उज्ज्वल-चटक कर देना चाहेंगे तथा किनको मिटा देनेके लिए हमें अभीसे प्रयत्नशील तथा सावधान होना चाहिए।

इस प्रकार प्रारब्ध बड़ा या पुरुषार्थ ? इस समस्याका भी सुलझाव हम प्राप्त कर लेते हैं। अपने पुरुषार्थको हम ठीक दिशा दे सकें तो सहज ही जो प्रारब्ध प्रतिकूल लग रहा है वह भी अनुकूल फल देनेवाला बन जाता है। मुझे एक घटना स्मरण आरही है। एक मित्रके लड़केकी कुण्डली एक ज्योतिषी देख रहे थे। वे बोले—बहुत उग्र प्रकृति झगड़ालू और कठोर-कर्मा लोगोंका यह नेता होगा शायद गुण्डों या डाकुओंका दल एकत्र करेगा। स्वभावतः ही सब लोग चिन्तित हो गये। मैंने यह चिन्ता लक्षित करके कहा—"बड़ा यशस्वी और कुलको उज्ज्वल करनेवाला होगा यह। इसे सेनामें दे दीजिये। अवश्य सफल सैनिक आफिसर बनेगा।" सबको ही—ज्योतिषीजीको भी बात ठीक लग गयी। यह एक रीति है जो कहती है—जान लेनेपर हम भाग्यको अनुकूल कर लेंगे। जानलेनेके साधनमात्र हैं ज्योतिष-सामुद्रिक।

———

क्या ज्ञान-भक्ति अथवा धर्मकी उन्नतिसे राष्ट्रोन्नतिमें सहयोग मिल सकता है

राष्ट्र कहते किसे हैं ? पृथ्वीके एक निश्चित टुकड़ेको अथवा उसके निवासियोंको ? आपको स्वीकार करना पड़ेगा कि पृथ्वीके निश्चित टुकड़ेका नाम राष्ट्र नहीं है । एक निश्चित भूमिके निवासियोंका समुदाय ही राष्ट्र कहा जाता है ।

राष्ट्रकी उन्नति क्या है ? राष्ट्रकी परिभाषाको देखते हुए राष्ट्रकी उन्नतिका अर्थ हुआ वहाँके मनुष्योंकी उन्नति और मनुष्यकी उन्नतिकी परिभाषा बहुत सरल नहीं है । साधारण मनुष्य झटपट कह देगा कि विद्या, धन, स्वास्थ्य, जनसंख्या, कल-कारखाने आदिकी उन्नति राष्ट्रकी उन्नति है । लेकिन आप विचार करने बैठेंगे तो यह कसौटी बहुत थोथी निकलेगी ।

डाकुओंके समुदायमें प्राय: स्वस्थ एवं साहसी लोग होते हैं; किन्तु वे राष्ट्रकी उन्नतिके सूचक हैं या अवनतिके ? ऐसे डाकू राष्ट्रमें जितने अधिक हों, राष्ट्र उतना उन्नत है या अवनत ?

विद्वान भी और धनी भी राष्ट्रके कलङ्क बन सकते हैं और कल-कारखानोंकी उन्नतिने तो आज यह स्थिति उत्पन्न कर दी है कि नि:शस्त्रीकरणकी समस्या सामने है, जिसके न सुलझनेका अर्थ है विश्वका विनाश ।

ज्ञानका अर्थ है विवेक—विचारसे प्राप्त प्रकार । सच्चे ज्ञानमें भौतिक-आध्यात्मिकका भेद नहीं होगा; क्योंकि ज्ञान तो ज्ञान है । ठीक जानकारी—प्रत्येक तथ्यकी ठीक जानकारी, उसके मूल स्वरूपका परिचय—यही ज्ञान है । केवल पुस्तकोंकी पंक्तियोंको पढ़ लेना ज्ञान नहीं है । सत्यका—तथ्यका ज्ञान राष्ट्रकी उन्नतिमें सहायक है या नहीं—यह प्रश्न ही उपहासास्पद है । क्योंकि जहाँ ज्ञान नहीं है, वहाँ अज्ञान होता और अज्ञान राष्ट्रकी अवनतिका हेतु है या नहीं ? इस प्रश्नके क्या दो उत्तर हो सकते हैं ? राष्ट्रकी उन्नतिका सहायक यदि ज्ञान नहीं होगा तो क्या अज्ञान होगा ?

भौतिक ज्ञान आध्यात्मिक ज्ञानका प्रथम पाद है वह पूर्णज्ञान नहीं, अधूरा ज्ञान है । राष्ट्रकी उन्नतिमें सहायता देगा तो ज्ञान ही देगा, अज्ञान

तो देगा नहीं ज्ञान अधूरा रहे, यह भी कोई पसन्द नहीं करेगा। ज्ञानको पूर्णता प्राप्त करनी ही चाहिए। अवश्य ही किसी काल्पनिक बुद्धिवाद या स्थितिको ज्ञान मान लेना अज्ञान है और वह राष्ट्रोन्नतिमें बाधक हो सकता है; किन्तु ज्ञान—सत्यके स्वरूपका ठीक परिचय तो नित्य अभीष्ट है और वह राष्ट्रकी विद्याकी उन्नतिका सहायक है। राष्ट्र-मेधाकी चरमोन्नति ही ज्ञानमें है।

जब भक्तिको लीजिये। भक्ति राष्ट्रकी उन्नतिमें सहायक है या नहीं? इस प्रश्नका उत्तर देनेसे पूर्व यह जान लेना होगा कि भक्ति कहते किसे हैं? महर्षि शाण्डिल्यके शब्दोंमें कहें तो—'सा पराऽनुरक्तिरीश्वरे' ईश्वरमें परम अनुरक्तिका नाम भक्ति है। ईश्वर क्या ? सर्वत्र व्याप्त सर्वसंचालक चेतन सत्ता। इस सर्व संचालकका प्रत्यक्ष रूप हमारे सामने यह जगत है। इसीलिए अनन्य भक्तका लक्षण श्रीरामचरितमानसमें किया—

सो अनन्य जाकी अस मति न टरै हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर रूप रासि भगवन्त॥

सचराचर रूप-रासि भगवंतका जो सेवक है, वह अनन्य भक्त। इस भक्तको ध्यानमें रख कर आप बताइये कि यह देश-सेवक, लोक-सेवक, मानव-सेवक, विश्व-सेवककी श्रेणीमें मूर्धन्य है या नहीं? सचराचरके ऐसे अहंकार हीन निष्काम भावप्राण सेवकोंकी वृद्धि राष्ट्रकी उन्नतिमें सहायक है या नहीं?

आप माला-जप कीर्तन, पूजा-पाठकी बात पूछते हैं। लेकिन यह सब भक्ति नहीं, भक्तिके साधन हैं। ये चित्तमें भक्तिको उदय करनेके हेतु बनते हैं। आप जानते हैं कि आपको कुर्सी चाहिए तो उसे गढ़ने वाले बसुलैका आदर करना पड़ेगा। इसी प्रकार यदि भक्ति, राष्ट्रकी उन्नतिका परम सहायक है तो भक्तिके साधनोंको भी सहायक ही मानना होगा। भले वे प्रत्यक्ष सहायक न दीखते हों।

दूसरी बात यह कि भक्ति हृदयकी परम प्रेममय स्थिति है। भावुकता, प्रेम ये श्रद्धा-विश्वास मूलक हैं और समस्त सद्भावनाएँ तथा कलाएँ इसी भूमिमें उत्पन्न होती हैं। आप पसन्द करेंगे कि राष्ट्रके समस्त सदस्य निष्ठुर, भावहीन व्यक्ति हों? बलवान, विद्वान, धनवान तथा कल-कारखानोंके स्वामी ऐसे नागरिक जिनमें कला, स्नेह, सहानुभूतित्व हो– राष्ट्रमें ऐसे

लोगोंकी वृद्धि राष्ट्रकी उन्नतिमें सहायक है या अवनतिमें ? आप इस प्रश्न पर विचार करेंगे तो आपको राष्ट्रकी उन्नतिका भी ठीक स्वरूप मिल जायगा।

भावना या तो लौकिक-दैहिक आधारपर होगी या अलौकिक आधारपर। लौकिक आधारपर होगी तो वह वासनाको उत्तेजना देगी और यह राष्ट्रकी उन्नतिका मार्ग नहीं होगा, यह आप समझ सकते हैं। तब अलौकिक आधार ही रह जाता है भावनाको वह पोषण देनेके लिए जिसमें वह निष्कलुष एवं ज्योतिर्मय रूप प्राप्त करती है। अलौकिक आधार पर पलती-पनपती भावनाका नाम ही भक्ति है।

एक तीसरा पक्ष और—राष्ट्रकी उन्नति किसमेंहै–नागरिक वस्तुओंमें आनन्द मानकर उनके लिए छल-कपट-प्रपञ्च, संघर्षमें व्यस्त रहें इसमें या आत्मतुष्ट रहें, अपने आपमें आनन्दित रहें इसमें ? बहुत सीधे शब्दोंमें—राष्ट्रके नागरिक व्यस्त, चिन्तित, दौड़ धूपमें लगे, निरन्तर असन्तुष्ट बने रहें, इसमें राष्ट्रकी उन्नति है या नागरिकोंके सुखी, सन्तुष्ट होनेमें ? पदार्थोंसे कभी सन्तोष होने वाला नहीं है। केवल भोगोन्मुख प्रवृत्ति चाहे जितने भोग प्रस्तुत कर दे, बराबर असन्तुष्ट रखेगी। भक्ति अपनी भावनामें आह्लादित कर देती है और आनन्दकी अभिवृद्धि राष्ट्रकी उन्नतिमें सहायक है या नहीं ? क्या इस प्रश्नका उत्तर भी आपको बताना पड़ेगा ?

धर्म राष्ट्रकी उन्नतिमें सहायक है या नहीं ? आप जब यह पूछते हैं तो जी चाहता है आपसे पूछनेका कि क्या आप अधर्मको राष्ट्रकी उन्नतिमें सहायक मानना चाहते हैं ?

सत्य, अहिंसा, अस्तेय, संयम, सदाचारादिका नाम धर्म है। आज समाजमें, राष्ट्रमें इनका अभाव ही चिन्ताका कारण है। असत्य, हिंसा, चोरी, छल, घूसखोरी, चोरबाजारी, डकैती, लूट, धोखा, अनुशासनहीनता, लम्पटता अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मद, मात्सर्य, ईर्षा आदिका प्राबल्य हो रहा है और इनके कारण राष्ट्रकी उन्नतिके पद अवरुद्ध हो रहे हैं। इनका निवारण—इनका निष्काशन राष्ट्रकी उन्नतिमें सहायक है, यह बात तो मूर्ख भी समझता है।

धर्म राष्ट्रकी उन्नतिमें सहायक है या नहीं ? आप जब यह प्रश्न करते हैं तब आपका तात्पर्य साम्प्रदायिक आचारों एवं प्रथाओंसे होता है। आप उनको ही धर्म कहते हैं। क्योंकि सामान्यतः जो मानव-धर्म हैं, वे

सभीको परम वांछनीय हैं। उनकी स्थापना हो, इसमें किसीका कोई विकल्प नहीं है।

मुझे कहने दीजिये कि ज्ञान और भक्तिके विषयमें भी यही बात है। आप अमुक तर्क पद्धतिको ज्ञान तथा अमुक क्रिया पद्धतिको भक्ति मानकर यह प्रश्न करते हैं। अन्यथा जैसे सत्य, अहिंसा आदि धर्मकी स्थापना राष्ट्रकी उन्नतिमें सहायक है, यह निर्विवादरूपसे माना जाता है, वैसे ही यह भी निर्विवाद रूपसे माना जाता है कि सत्यकी वास्तविक शोध— निश्चित तथ्यका बोध तथा विशुद्ध सेवा-प्रवण, निस्वार्थ भावमय हृदयकी उपलब्धि राष्ट्रोन्नतिके चरम लक्ष्योंमें हैं।

अब रही आपके माने हुए ज्ञान-भक्ति एवं धर्मकी बात। इनके सम्बन्धमें इतना ही कहना है कि जब कोई तर्क पद्धति तथ्यकी ओर ले जानेके बदले अपनेमें ही उलझायें रखनेवाली हो जाय—वह अज्ञानका हेतु हो जाती है। इसी प्रकार दम्भको न भक्ति कहा जा सकता और न धर्म। रूढ़ियों तथा क्रियाओंका नाम भक्ति या धर्म नहीं है। उनमें कुछ भक्ति और धर्मके साधन हैं और जो साधन हैं, वो निश्चय राष्ट्रकी उन्नतिमें सहायक हैं; किन्तु जो साधन नहीं है, वे तो दम्भ अथवा स्वार्थ मूलक हैं। जब वे भक्ति या धर्म नहीं है, तब उनके सम्बन्धमें कोई प्रश्न कहाँ उठता है?

कुछ आचार वर्ग-विशेषकी परम्परासे सम्बन्ध रखते हैं। मनोविज्ञान कहता है कि मनुष्यकी उन्नतिमें उसकी रुचिका बहुत बड़ा महत्त्व है। उदाहरणके लिए एक पाश्चात्य प्रसिद्ध लेखक तभी कुछ लिख पाते थे, जब उनकी मेजपर गुलाबके पुष्प रक्खे हों। उनकी लेखनी राष्ट्रोन्नतिमें सहायक थी तो उस लेखनीके प्रेरणास्रोत मेजपर गुलाब पुष्पोंका रखना भी राष्ट्रोन्नतिमें सहायक मानना होगा। अतएव वर्ग या सम्प्रदाय-विशेषके जो क्रिया कलाप हैं, उनका पृथक मूल्यांकन करना गलत होगा। आपको मूल्यांकन पूरे वर्ग या सम्प्रदायका करना होगा कि उनकी धर्म भावना या भक्ति-भावनिष्ठा राष्ट्रको कितना संयम, आह्लाद एवं विवेकमें रुचि देती है। उनसे यदि यह प्राप्त है तो उनके प्रेरणास्रोत भी राष्ट्रोन्नतिमें सहायक ही हैं।

———

क्या अध्यात्मवाद निःशस्त्रीकरण करा सकेगा ?

अध्यात्मवाद किसी महादेशका सर्वाधिकारी होना तो दूर किसी देशका नागरिक भी नहीं है। इसलिए निशस्त्रीकरण करा देना तो बड़ी वात है, आप किसी चुनावमें खड़े हों तो वह आपको अपना एक वोट दे देगा, इतनी भी आशा आप उससे नहीं कर सकते। कार्य व्यक्ति करता या कर सकता है और अध्यात्मवाद न व्यक्ति है न पदार्थ। वह तो मात्र एक सिद्धान्त है—अवश्य ही एक सच्चा सिद्धान्त है।

अध्यात्मवाद निशस्त्रीकरण करा सकेगा या नहीं ? इस प्रश्नका ठीक स्वरूप यह है कि–'यदि विश्वमें अध्यात्मवाद सुप्रतिष्ठित हो जाय, विश्वके अधिकांश लोग अध्यात्मवादमें विश्वास करने लगें अथवा विश्वके लोग अध्यात्मवादियोंकी वात मानने लगें तो निशस्त्रीकरण हो जायगा या नहीं ?

इस प्रश्नका उत्तार पानेके लिए यह समझना होगा कि अध्यात्मवाद है क्या-? आत्माके अधिकृत करके—आधार वनाकर जो स्थित हो उसे कहते हैं अध्यात्म और जो सिद्धान्त इस अध्यात्मकी विवेचना एवं समर्थन करते हैं, वे अध्यात्मवाद हैं।

'चेतन आत्माकी सत्ता है और शरीरके नाशसे उसका नाश नहीं होता। शरीरके नाशके पश्चात भी वह चेतन रहता है। शरीरमें—मनुष्यके शरीरमें रहते हुए जो भी अच्छे बुरे कर्म किये गये हैं, उनका उत्तरदायी वह शरीरस्थ चेतन ही है और अपने उन कर्मोका शुभ या अशुभ परिणाम मृत्यु-के पश्चात भी उसे भोगना पड़ता है, अध्यात्मवादकी यह मान्यता है। भले अध्यात्मवादके अन्तर्गत नाना प्रकारके दार्शनिक मतभेद हों।

सीधे शब्दोंमें अध्यात्मवादीका अर्थ है आस्तिक; किन्तु कम ही लोग आस्तिक और नास्तिक शब्दोंका ठीक-ठीक अर्थ जानते हैं, अत: अच्छा होगा कि यहां इन शब्दोंकी परिभाषा बता दी जाय।

आस्तिक—जो मरणोत्तर जीवनमें विश्वास करता है, भले वह पुनर्जन्म मानता हो या पुनर्जन्म न मान कर 'कयामतके वक्त' होने वाले फैसलेमें यकीन करता हो।

नास्तिक—जो मरणोत्तर जीवनमें विश्वास न करता हो। जो मानता हो कि देहकी मृत्युके साथ ही जीवन की समाप्ति हो जाया करती है।

अध्यात्मवादका परिष्कृततम रूप है एकात्मवाद अथवा अद्वैतवाद और सामान्यतम रूप है मरणोत्तर जीवनमें केवल आस्था। इनके मध्य इतने अधिक दार्शनिक मत अध्यात्मवादमें आते हैं कि उनका नामोल्लेख भी अकारण विस्तार ही कहा जायगा।

'जैसी आत्मा मुझमें है, वैसी आपमें भी है।' यह बात नहीं—एक ही आत्मा-एक ही चेतन सत्ता है, जो सर्वव्यापक है, सर्वकालिक है। यह देश और काल भी उसमें कल्पित ही है। उसी एक सत्तामें ये अनन्त ब्रह्माण्ड, ये समस्त नाम-रूप दीख रहे हैं—वस्तुतः हैं नहीं।' इसका नाम है अद्वैतवाद अथवा एकात्मवाद। एक चेतन—एक आत्म-स्वरूपसे भिन्न दूसरी सत्ता है ही नहीं।

स्वप्नमें आपकी किसीसे लड़ाई हो गयी, निद्रा टूटी—अब स्वप्नमें जिस स्वप्न-पुरुषसे आप लड़े थे, उसके प्रति द्वेष करेंगे आप ? वह स्वप्नका आपका शत्रु कौन था ? क्या वह स्वयं आप ही नहीं थे ? जब जाग्रतमें यह दीखने वाला दृश्य भी स्वप्नके समान ही है, इसमें यह जो स्व-पर-का भेद दीख रहा है, वह मनःकल्पित है, वस्तुतः यह आप स्वयं ही अनेक रूपोंमें दीख रहे हैं, तो अवकाश है राग-द्वेष, लड़ाई-झगड़े या युद्धके लिए ? एकात्मवादमें आस्था दृढ़ हो जाय मानवकी—विश्व मैत्री या विश्व भ्रातत्व कितने पीछे रह जाते हैं। मित्रोंमें भाइयोंमें तो लड़ाई सम्भव है किन्तु अपने आपसे कोई भी लड़ा है ? निशस्त्रीकरणकी समस्या बच रहेगी इस स्तरपर पहुँचने पर ?

'अध्यात्मवादियों—आस्तिकोंमें सभी तो अद्वैतवादमें विश्वास नहीं रखते'—यह आपका तर्क उचित है। जन-संख्याकी दृष्टिसे वे बहुत अधिक हैं जो अद्वैतवादमें कोई आस्था नहीं रखते, अतः बात वह होनी चाहिए जो

सर्वमान्य हो, सब सिद्धान्तोंसे मेल खा सके। अतः पहिले समस्यामें मूल रूपपर सी विचार करलें।

यह शस्त्रीकरण एवं युद्धकी समस्या क्यों उपस्थित हुई है व्यक्तियोंके स्वार्थपरायण होने तथा व्यक्तिगत अहंकारको वहुत अधिक महत्व देनेके कारण। दूसरे शब्दोंमें कहें तो स्थूल शरीर तथा उसके भोगोंको अत्यधिक महत्व दे देनेका ही कुपरिणाम है।

जो पुनर्जन्म मानते हैं, उनमें-से क्या कोई यह विश्वास-पूर्वक कह सकता है कि उसका अगला जन्म उस घरमें नहीं होगा जो आज उसके सबसे वड़े शत्रुका घर है? और जव यह सम्भावना है कि जिस व्यक्ति, जाति या राष्ट्रके आप घोर शत्रु हैं अगले जन्ममें वही उत्पन्न हों तो आजकी यह शत्रुता कितनी वड़ी मूर्खता है, यह भी बताना होगा? यह सर्वथा सम्भव है कि आप जिसे कहते हैं, वह आपका पिछले जन्मका पिता भाई हो अथवा अगले जन्ममें पिता या भाई बन जाय। यह पृथ्वी ही नहीं—सम्पूर्ण व्रह्माण्ड एक परिवार है और उसमें जीवोंके घनिष्ठतम नाते हैं। पुनर्जन्म किसी काल्पनिक नहीं, एक वास्तविक विश्व परिवारकी बात-स्पष्ट कर देता है।

आप पुनर्जन्म मानेंगे तो यह भी मानना पड़ेगा कि आपको अपने इस जन्मके कर्मोंका भोग अवश्य प्राप्त होगा ओर अनन्त जीवनमें यह एक जन्म महासागरकी लहरोंमें एक क्षुद्र लहरके समान अनन्तकालीन जीवनकी दृष्टिमें कुछ क्षणोंके समान है। यह दृष्टि प्राप्त होते ही यह दृष्टि भी प्राप्त हो जायगी कि इस एक जीवनरूपी अल्प क्षणका उपभोग ऐसा तो नहीं ही होना चाहिए कि आगेके अनन्त जीवनमें उसका वहुत बड़ा कुपरिणाम भोगना पड़े। चाहे जितना सुस्वाद तथा लुभावना भोजन हो, आपको ज्ञात होजाय कि उसमें गलित कुष्टके थोड़ेसे कीटाणु डाल दिये गये हैं तो आप वह भोजन कर सकेंगे? आप क्या सोचते हैं कि शस्त्रीकरण तथा उससे होने वाले विनाशके लिए जो थोड़े भी उत्तरदायी होंगे—पुनर्जन्मकी दृष्टिसे उन्हें अनेक-अनेक जन्मोंमें उससे कम कष्ट होता है जितना कि एक व्यक्ति पुनर्जन्ममें आस्था हो जानेपर—आस्था सच्ची

हो तो मनुष्य एक चींटीको मार देनेका आदेश तो ले ही नहीं सकता, विश्वयुद्धका दायित्व लेना तो बहुत बड़ी बात है।

पुनर्जन्म आप नहीं मानते मान ही लें, ऐसा मेरा कोई आग्रह नहीं किसी भी रूपमें आप मरणोत्तर जीवन मानते होंगे कि मनुष्यके अच्छे-बुरे कर्मों का परिणाम उसे अवश्य मिलता है। भले वह परिणाम उसे आज मिले या कयामतके बाद मिले; किन्तु मिलेगा अवश्य और अच्छा यही है कि मनुष्य जीवनमें दुश्कर्मसे बचा रहे। यह शस्त्रीकरण, महायुद्धकी भयानक प्रस्तुति कोई सुकर्म तो है नहीं ? इसका जो परिणाम होगा—कितना दारुण होगा, यह कल्पना तक नहीं किया जा सकता। मरणोत्तर जीवनमें किञ्चत भी विश्वास करने-वालेके लिए यह महाविनाश करने कराने अथवा उसमें किसी प्रकार भी कोई उत्तरदायित्व लेनेका साहस होगा ?

शस्त्रीकरण इसलिए हुआ है—उसकी दौड़ चल रही है कि मनुष्य मदान्ध हो गया है। वह अपनेको अनीश्वरवादी कहता हो या ईश्वरवादी वह सर्वथा देहवादी हो गया है। अपने अहंकारकी सन्तुष्टिके सम्मुख उसे दूसरा कुछ दिखायी नहीं देरहा है।

महायुद्ध न साधारण लोग प्रारम्भ करते हैं और न समाप्त करते हैं शस्त्रीकरणकी दौड़ भी साधारण जनताने चलायी नहीं है। उन भयानकतम शस्त्रोंके निर्माणमें जो लोग—मजदूर तथा वैज्ञानिक लगे हैं और उनके उपयोगका शिक्षण जिन सैनिकोंको दिया जा रहा है, वे भी शस्त्रीकरण या युद्धके उत्तरदायी नहीं है और उनकी इच्छा-अनिच्छाका भी कदाचित ही इस समस्यापर कोई प्रभाव पड़ता है। यद्यपि महायुद्धमें मारे जाते हैं वे सैनिक, मारी जाती है निरीह जनता और यदि दुर्भाग्यसे महायुद्ध कहीं होगया तो निरपराध, निःशस्त्र जनता ही इस बार सबसे अधिक मारी जायगी; किन्तु निःशस्त्रीकरण आज कुछ शक्तिशाली देशोंके थोड़ेसे व्यक्तियों के हाथमें है। निःशस्त्रीकरण होजाय या महायुद्ध हो इसका पूरा निर्णय उन लोगोंपर ही निर्भर करता है।

अध्यात्मवादकी—आस्तिकताकी प्रतिष्ठा पूरे विम्बमें भले न हो, उन मुट्ठी भर भले आदमियोंके चित्तमें होजाय, जिनके हाथमें आज विश्वका

भाग्य-निर्णय है और वे अपने व्यक्तिगत दैहिक अहंकारको त्याग कर सोचने लगें तो निःशस्त्रीकरण अवश्य हो जायगा।

आवश्यक नहीं है कि अध्यात्मवादके अमुक रूपकी प्रतिष्ठा ही। आवश्यक इतना ही है कि वह अध्यात्मवादका दम्भ न हो, सच्चा अध्यात्मवाद—किसी भी रूपका हो तो तो उसकी प्रतिष्ठा अथवा उससे ठीक अनुयायीका अनुगमन निःशस्त्रीकरण अवश्य करा देगा—स्थायी रूपसे करा देगा। बिना किसी प्रतिबन्ध या पञ्चायतके करा देगा।